मुक्तिबोध रचनावली

1

सम्पादक
नेमिचन्द्र जैन

गजानन माधव मुक्तिबोध

जन्म 13 नवम्बर 1917 **जन्मस्थान** श्योपुर, ग्वालियर (मध्य प्रदेश)।

शिक्षा प्रारम्भ से ही विश्रृखल। फिर 1953 मे नागपुर विश्वविद्यालय से हिन्दी मे एम ए ।

विवाह पारिवारिक असहमति और विरोध के बावजूद 1939 मे शान्ता के साथ प्रेम-विवाह।

आजीविका 20 वर्ष की छोटी उम्र मे बडनगर मिडिल स्कूल से मास्टरी आरम्भ तत्पश्चात शुजालपुर, उज्जैन, कलकत्ता, इन्दौर, बम्बई, बगलौर, बनारस, जबलपुर आदि स्थानो पर।

भिन्न-भिन्न नौकरियाँ– मास्टरी से वायुसेना, पत्रकारिता से पार्टी तक। नागपुर 1948 मे आये। सूचना तथा प्रकाशन विभाग, आकाशवाणी एव 'नया खून' मे काम। अन्त मे कुछ माह तक पाठ्य पुस्तके भी लिखी। अन्तत 1958 से दिग्विजय महाविद्यालय, राजनाँदगाँव मे प्राध्यापक।

अभिरुचि अध्ययन-अध्यापन, लेखन- पत्रकारिता-राजनीति की नियमित-अनियमित व्यस्तता के बीच।

निधन लम्बी बीमारी के बाद 11 सितम्बर 1964 को नयी दिल्ली मे।

प्रकाशित पुस्तकें चाँद का मुँह टेढ़ा है, भूरी-भूरी खाक धूल (कविता-सग्रह), काठ का सपना, विपात्र, सतह से उठता आदमी (कथा-साहित्य), कामायनी एक पुनर्विचार, नयी कविता का आत्मसघर्ष, नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, जिसका नया सस्करण अब कुछ परिवर्तित रूप मे 'आखिर रचना क्यो?' नाम से प्रकाशित, समीक्षा की समस्याएँ, एक साहित्यिक की डायरी (आलोचनात्मक) तथा भारत इतिहास और सस्कृति।

द्युति की कली

[-गजानन माधव मुक्तिबोध]

शाम की सलोनी गुलाबी शान्ति में
निष्पाप नीरव ज्योति सी
द्युति की कली!
इस मोतिया आकाश की द्युति-तारिका।

गृह द्वार आँगन में बिछी
जो मौन कमरे में रमी
वह मोतिया आकाश की कर्पूर कोमल कान्ति है,
हिय में बसी—
त्यों यह तुम्हारे रूप की
कोमल सफ़ेद गुलाब सी द्युति-शान्ति है।

गृह-द्वार आँगन में रमी—
व्यक्तित्व की आभा तुम्हारी विश्व-मानस-संगमी
यों खिल चली
हिय-स्रोत के सुप्रसन्न कोमल रंग सी—
ज्यों साफ़-पोंछे अमल गृह-कन्दील के
मृदु कांच में किरनें जगीं,

'द्युति की कली' कविता की हस्तलिपि

प्रकाशकीय

मुक्तिबोध रचनावली के पहले सस्करण का प्रकाशन 1980 मे हुआ था। यह आयोजन व्यक्तिगत रूप से मेरे तथा समस्त राजकमल-परिवार के लिए ऐसे रोमाचक अनुभवो और उत्तेजनाओ का अवसर था, जब हमे अपने प्रकाशकीय जीवन की पिछली सारी उपलब्धियाँ एक नये शिखर को छूती प्रतीत हुई थी। लेकिन **रचनावली** के इस दूसरे सस्करण के प्रकाशन से मेरे लिए अनुभव का एक ऐसा आयाम उद्घाटित हुआ है, जिससे हिन्दी मे प्रचलित कई धारणाओ का जोरदार खण्डन होता है। इस सस्करण के बारे मे सबसे महत्त्व-पूर्ण बात है इसका पेपरबैक्स मे प्रकाशन, जो भारतीय प्रकाशन जगत की एक अभूतपूर्व घटना है। 'राजकमल पेपरबैक्स' के प्रकाशनारम्भ के समय पाठको मे साहित्यिक रुचि न होने की बात कहकर इन पेपरबैक्स की सफलता को शकित दृष्टि से देखा गया था, लेकिन आज मुक्तिबोध जैसे 'अलोकप्रिय' रचनाकार की सम्पूर्ण रचनावली का यह पेपरबैक सस्करण अगर प्रकाशित होने से पहले ही तीन-चौथाई बिक जाता है, तो हिन्दी मे पाठकीय रुचि और क्रय-शक्ति के अभाव की बात एक प्रवाद से ज्यादा कुछ नही है। सम्पूर्ण **मुक्तिबोध रचनावली** का पेपर-बैक मे प्रकाशन हमारे लेखे हिन्दी-पुस्तक जगत मे एक नये युग की शुरूआत है।

प्रस्तुत सस्करण के प्रकाशन का निर्णय और उसकी कार्यान्विति कुछ महीनो मे ही हुई, फिर भी इस सस्करण मे पहले के मुकाबले लगभग 350 पृष्ठो की अतिरिक्त सामग्री दी गयी है। इस नयी सामग्री की खोज और उसके सम्पादन मे मुक्तिबोधजी के बेटे रमेश मुक्तिबोध और **रचनावली** के सम्पादक श्री नेमिचन्द्र जैन ने जो अनथक श्रम किया, उसके लिए ये दोनो ही हमारे साधुवाद के पात्र है। लेकिन मुक्तिबोध-साहित्य के प्रेमी उन असख्य पाठको के प्रति आभार प्रकट करने के लिए तो हमारे पास शब्द ही नही है, जिन्होने एक 'असम्भव' स्थिति को सम्भव बनाने मे उल्लेखनीय भूमिका निभायी है। अगर भविष्य मे अन्य महान साहित्यकारो की रचनावलियाँ पेपरबैक्स मे प्रकाशित हुईं, और हमारा विश्वास है कि होगी, तो उसका पूरा श्रेय उन पाठको को ही होगा।

शीला सन्धू

मेरी ओर से*

प्रस्तुत **रचनावली** मे मेरे पिताजी स्व गजानन माधव मुक्तिबोध की समस्त रचनाओ को सम्मिलित करने की कोशिश की गयी है। बिखराव इतना अधिक था कि स्थान-स्थान पर रचनाओ की खोज की गयी। परिणामस्वरूप कुछ नयी चीज़े भी हाथ लगी, जो मेरे पास नही थी। साहित्यिक विधाओ के अनुसार रचनाओ को अलग-अलग खण्डो मे विभाजित किया गया और समस्त रचनाओ को छह खण्डो मे रखा गया।

रचनावली की योजना जिस सहजता से बनी, उतनी सहजता उसके सम्पादन के कार्य मे न थी, क्योकि बिखराव, अनेक प्रारूप, खण्डित पाण्डुलिपि, एक ही रचना के पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित कई रूप, कही कुछ है तो कही कुछ, आदि समस्याओ के कारण इस काम को पूरा करने के लिए न सिर्फ परिश्रम और समय की ज़रूरत थी बल्कि पूरी रुचि और काम के प्रति आन्तरिक लगाव की भी निहायत आवश्यकता थी। पिताजी के अनन्य मित्र, मेरे आदरणीय, श्री नेमिचन्द्र जैन ने सम्पादन का भार, अपने सभी कार्य एक ओर रखकर, जिस तरह सँभाला, यह व्यक्तिगत रूप से मेरे लिए एक उपलब्धि है।

इस योजना की मूलभूत कल्पना श्री अशोक वाजपेयी की हे। उनके अदम्य उत्साह और साहस के बिना इस योजना को कार्यान्वित करना लगभग असम्भव था। मैं उनके सहयोग और मार्गदर्शन के लिए हार्दिक ऋणी हूँ।

मै राधाकृष्ण प्रकाशन के श्री अरविन्द कुमार का तथा भारतीय ज्ञानपीठ का भी ऋणी हूँ क्योकि इन सस्थाओ द्वारा प्रकाशित ग्रन्थो की कृतियो को शामिल किये बिना **रचनावली** किसी तरह पूरी न हो सकती थी।

राजकमल प्रकाशन ने जिस तत्परता से, पूरी लगन से, **रचनावली** को प्रकाशित किया उसके लिए वह स्तुत्य है। सस्था की प्रबन्ध निदेशक आदरणीया श्रीमती शीला सन्धू के प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। उनकी कुशल व्यवस्था के बिना इतने सीमित समय मे इस **रचनावली** का प्रकाशन सम्भव न था।

इस **रचनावली** मे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से जिनका सहयोग मुझे मिला ऐसे सभी सज्जनो के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ।

रमेश मुक्तिबोध

*पहले सस्करण के लिए लिखित

दूसरे संस्करण की भूमिका

मुक्तिबोध रचनावली के पहले सस्करण की इतनी जल्दी बिक्री, और उसके बाद भी अनेक पाठको का इतना प्रबल आग्रह कि एक नया सस्करण, और वह भी पेपरबैक मे, निकालना प्रकाशक को व्यावहारिक जान पडे—यह हिन्दी साहित्य विशेषकर हिन्दी कविता के इतिहास मे एक अनोखी घटना है। बेशक, पहला सस्करण प्रकाशित होने के कुछ समय बाद से ही मुझे यकीन होने लगा था कि **रचनावली** के प्रकाशन से मुक्तिबोध के साहित्य मे पाठको की रुचि और उत्सुकता इतनी अधिक बढ जायेगी कि उसके दूसरे सस्करण की जरूरत होगी। पहले सस्करण की भूमिका मे भी इस सम्भावना की ओर इशारा था।

इसका एक कारण यह भी था कि उस समय मुक्तिबोध का सारा लेखन एकत्र नही हो सका था और यह निश्चित था कि अनेक रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओ मे बिखरी पडी है। उनके हाथ के लिखे कागजो के सब पुलिन्दे भी पूरी तरह नही देखे जा सके थे और यह महसूस होता रहा था कि उनमे अगर कुछ और तलाश की जाये तो कई अप्रकाशित पूरी या अधूरी कविताएँ अथवा अन्य रचनाएँ अवश्य मिल जायेगी। इस दृष्टि से भी दूसरे सस्करण के अवसर की प्रतीक्षा थी।

यह किसी हद तक दुर्भाग्य की बात है कि दूसरे सस्करण के प्रकाशन का निर्णय भी कुछ इस तरह हुआ कि इस तलाश के लिए जितना समय जरूरी था उतना इस बार भी नही मिल सका। इसके बावजूद यह कोशिश की गयी है कि सीमित समय मे ही अधिक-से-अधिक नयी अप्रकाशित सामग्री इकट्ठा हो सके और उसे शामिल किया जाय। मुझे खुशी है कि इस सस्करण मे लगभग प्रत्येक खण्ड मे ही कुछ-न-कुछ नयी सामग्री का समावेश है।

इसमे सबसे पहले उल्लेखनीय तो है उनकी अप्राप्य पुस्तक, **भारत इतिहास और सस्कृति**, जिसे, उसके ऊपर कुछ कानूनी पाबन्दी के कारण, पहले सस्करण मे शामिल करने मे कुछ दुविधा थी और इतना समय नही था कि इससे सम्बन्धित सभी बातो की निश्चयपूर्वक छानबीन हो सके।

रचनावली के प्रकाशन के बाद जब सारे मामले को देखा गया तो पता चला कि मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय ने पुस्तक के कुछ अशो को आपत्तिजनक घोषित कर दिया है और जब तक इस निर्णय को न्यायालय द्वारा ही न बदला जाय तब तक पुस्तक को उन अशो के बिना ही छापा जा सकता है। इस प्रकार इस सस्करण

मे पुस्तक के प्रतिबन्धित अशो को छोड दिया गया है। किन्तु इसमे वे सब अध्याय शामिल कर लिये गये है जो उस समय पाठ्य-पुस्तक के लिए आकार की सीमा के कारण नही छपे थे।

अन्य नयी सामग्री के बारे मे अलग-अलग खण्डो की भूमिकाओ मे कुछ चर्चा की गयी है। यहाँ केवल एक-दो बातो का जिक्र जरूरी लगता है। सबसे पहले तो पहले खण्ड मे प्रकाशित कुछ नयी कविताओ के बारे मे। इनमे अधिकाश तो उनके प्रारम्भिक जीवन की रचनाएँ है जो पहले सस्करण मे छूट गयी थी या अलग-अलग पत्रिकाओ मे प्रकाशित होकर दबी पडी थी। किन्तु एक-दो रचनाएँ ऐसी भी है जो विशेष रूप से उल्लेखनीय है और इसमे कोई सन्देह नही कि वे पाठको का भी ध्यान आकर्षित करेगी।

इनमे से एक है उनकी लम्बी, पर सम्भवत फिर भी अधूरी कविता जो शायद उन्होने मुझे किसी एक पत्र के साथ भेजी थी। पर पहले सस्करण के समय न तो वह मेरे कागजो मे मिली, और न अन्य पाण्डुलिपियो मे इस पर नजर गयी। इसी कविता मे उनकी वह प्रसिद्ध पक्ति आती है—'नही जानता हूँ कि क्या चाहता हूँ, सभी चाहता हूँ।' इस कविता मे एक ऐसी सघनता और भावावेग की तीव्रता है जो आज भी मन को अभिभूत कर देती है।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण कविता है—'बी स्ता के प्रति'। यह शीर्षक स्वय मुक्तिबोध का दिया हुआ है। यह कविता स्तालिन की अस्वस्थता अथवा निधन के समाचार के बाद लिखी गयी है। आज जब कम्युनिस्ट और दूसरे तमाम क्षेत्रो मे स्तालिन का नाम लेना भी गुनाह समझा जाता है, यह कविता उन दिनो की याद को बडे आवेग के साथ ताज़ा कर देती है, जब स्तालिन के नेतृत्व मे रूसी सेनाएँ पहले हिटलर की बर्बर फौजो से जान पर खेलकर टक्कर ले रही थी और बाद मे उन्हे खदेडती हुई बर्लिन तक पहुँच गयी थी। कई प्रकार से सोवियत जनता की वह विजय बर्बरता के विरुद्ध मानवता की जीत थी जिसके सबसे प्रमुख और महत्त्वपूर्ण नेता स्तालिन ही थे। आज केवल बौद्धिक बाज़ीगरी या विचार-धाराओ की बदलती हुई शक्लो से इतिहास की इस सच्चाई को झुठलाया नही जा सकता। मुक्तिबोध की यह कविता उस सच्चाई की भी गवाह है और उनकी गहरी ईमानदारी की भी।

गद्य रचनाओ मे पाँचवें खण्ड मे दिये गये दो लेखो का जिक्र किया जा सकता है। इनमे से एक है 'शेक्सपियर के साथ मुठभेड', जिसकी कुछ चर्चा पाँचवें खण्ड की भूमिका मे की गयी। दूसरा है 'साहित्य मे पक्षधरता' के ऊपर एक रोचक लेख। छठे खण्ड की एक नयी प्रविष्टि है, विख्यात कम्युनिस्ट नेता एस ए डागे को अग्रेजी मे लिखा गया एक लम्बा पत्र। यह उम्मीद की जा सकती है कि यह पत्र साहित्य मे प्रगतिशील आन्दोलन की भूमिका, उसकी सार्थकता और उसकी सीमाओ या असगतियो के बारे मे विचारोत्तेजक बहस के लिए प्रेरित करेगा।

यहाँ इस बात का उल्लेख बहुत जरूरी है कि इस सब नयी सामग्री के सुलभ होने का सारा श्रेय चि. रमेश मुक्तिबोध को ही है। उन्होने पहले सस्करण के समय पूरी तरह नही देखे जा सके पाण्डुलिपियो के पुलिन्दो को बडे यत्न से सँभाल-कर रखा था। इसलिए दूसरे सस्करण के प्रकाशन की बात उठने पर, समय बहुत कम होने पर भी, उसमे से कुछ को देख सकना सम्भव हो पाया। इसी तरह वही

देश के विभिन्न केन्द्रो मे जाकर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे से अब तक अप्राप्य और दबी हुई रचनाएँ खोजकर लाये। उनकी इस लगन और अनथक कोशिश के बिना यह नयी सामग्री मिल सकना असम्भव था। स्वय साहित्यकार अथवा साहित्य के विद्यार्थी न होते हुए भी अपने पिता की रचनाओ को इतने प्यार और परिश्रम से सुरक्षित रखने का उनका यह कार्य एकदम बेमिसाल है, जिसके लिए हिन्दी के, विशेषकर मुक्तिबोध के, पाठको को रमेश मुक्तिबोध का कृतज्ञ होना चाहिए।

मुझे प्रसन्नता है कि राजकमल प्रकाशन की सचालिका श्रीमती शीला सन्धू ने न सिर्फ **रचनावली** के दूसरे सस्करण के प्रकाशन का, बल्कि उसे बहुत कम मूल्य पर पेपरबैक मे निकालने का साहस और दूरदर्शितापूर्ण और स्वागतयोग्य निर्णय किया। मै समझता हूँ कि यह कई प्रकार से हिन्दी प्रकाशन के क्षेत्र मे एक ऐतिहासिक कदम है। **रचनावली** के इस सस्करण के प्रकाशन के निर्णय मे और उसकी सुन्दर साज-सज्जा तथा व्यवस्था मे राजकमल प्रकाशन के श्री मोहन गुप्त का योगदान भी बहुत बडा है। उनके उत्साह और अथक परिश्रम के बिना यह किसी तरह सभव नही हो पाता।

मुझे यकीन है कि **रचनावली** के इस सस्करण का पहले से भी अधिक उत्साह से स्वागत होगा।

नयी दिल्ली
7 11 1985

नेमिचन्द्र जैन

प्रास्ताविक

यह जरूरी नही है कि किसी महान लेखक के सम्पूर्ण कृतित्व मे से एक साथ गुज़रना हमेशा एक उत्तेजक अनुभव ही बने अथवा उसके फलस्वरूप उस लेखक के सम्बन्ध मे गुज़रनेवाले की प्रतिक्रिया पहले से बेहतर ही हो जाय, क्योकि सम्पूर्ण कृतित्व मे उपलब्धि के शिखर ही नही होते, सपाट मैदान और खन्दक-खाइयाँ भी होती है। हर लेखक के सर्जनात्मक जीवन मे, प्रारम्भिक अभ्यास की रचनाओ के अलावा भी, ऐसे दौर लगातार आते है जब वह अपने विचारो, भावो और अनुभवो के साथ, अपने माध्यम के साथ, एक तरह का अभ्यास ही कर रहा होता है जिसके बाद कभी-कभी सत्य से नया साक्षात्कार, कोई नयी दिशा और उसकी अभिव्यक्ति का कोई नया स्तर, रूप अथवा कोई नया मुहावरा हासिल हो जाता है। मगर यह भी उतना मुमकिन है कि ऐसा सारा अभ्यास बेकार सिद्ध हो और अगले प्रयास के लिए तैयारी-भर रह जाय।

जहाँ लेखक के अपने विकास मे ऐसे तमाम दौर जरूरी और महत्त्वपूर्ण होते है, वही एक पाठक, अधिक-से-अधिक सहानुभूति और समान सवेदनावाला पाठक भी, ज़्यादातर और मुख्यत रचनाकार की उपलब्धियो मे ही वास्तविक दिलचस्पी ले पाता है। जिन्दगी की सच्चाई को देखने, पहचानने और फिर उसे कोई सृजनात्मक रूप देने की रचनाकार की पूरी प्रक्रिया पाठक के लिए हमेशा ही बहुत उत्तेजक सिद्ध नही हो सकती, बल्कि कई बार ऐसा भी हो सकता है कि श्रेष्ठ कृतियो के आधार पर रचनाकार की उपलब्धि के बारे मे हमारी जो धारणा है, वह उसकी रचना-प्रक्रिया को अधिक समीप से देखकर कुछ धुँधली, उदासीन अथवा प्रतिकूल ही हो जाय।

मुक्तिबोध की **रचनावली** के सम्पादन की ज़िम्मेदारी लेते समय किसी हद तक ऐसी आशका मेरे मन मे थी, इस आत्म-स्वीकार मे आज मुझे कोई सकोच नही है, क्योकि सम्पादन-कार्य के अनुभव ने उस आशका को गैर-ज़रूरी सिद्ध कर दिया है। जैसे-जैसे मैं उनकी सभी प्रकाशित और अप्रकाशित, पूर्ण अथवा अपूर्ण, प्रारम्भिक अथवा परवर्ती, रचनाओ को बार-बार पढता गया, वैसे-वैसे ही मेरी आशका का स्थान एक कुतूहल, एक अचरजभरे आकर्षण ने ले लिया। कम-से-कम अपने लिए तो मै यह निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि मुक्तिबोध की सारी रचनाओ से इस साक्षात्कार ने मेरे मन मे लेखक के रूप मे उनके प्रति आदर की

भावना को और भी गहरा कर दिया है। यह इस अर्थ मे ही नही कि उनकी सर्जनात्मक उपलब्धि के बारे मे मेरी राय पहले से कुछ अधिक स्पष्ट और अधिक पुष्ट हुई, बल्कि बहुत अधिक इस अर्थ मे भी कि मै उनके सृजनात्मक व्यक्तित्व को, उसी सारी बेचैनी, उत्कटता और जटिलता को, इतने समीप से देख सका, और लीक से हटकर अपना अलग रास्ता बनानेवाले एक मौलिक, ईमानदार और अत्यन्त उर्वर रचनाशील मानस की तीखी छटपटाहट के अन्तरग सम्पर्क मे आ सका। मुक्तिबोध के लेखन मे मुझे उनकी अदम्य अटूट ऊर्जा और स्वर की निजी विशिष्टता विशेष रूप से आकर्षित करती रही हैं। **रचनावली** के सम्पादन के सिलसिले मे उनकी इन खासियतो के स्रोत, उनकी अपनी अलग बनावट और उसकी खूबियो को देखने, पहचानने और समझने का मौका मिला, जो केवल उनकी रचनाओ को पढने से शायद कभी नही मिलता। मेरे लिए यह बहुत कुछ एक अचरज-लोक मे साहसिक यात्रा का-सा, एडवेंचर का-सा, अनुभव सिद्ध हुआ।

इसमे कोई सन्देह नही कि ऐसा अनुभव होने का एक कारण यह है कि मुक्तिबोध-जैसे रचनाकार के सम्पूर्ण लेखन के सम्पादन के काम मे बहुत-सी कठिनाइयाँ और जोखिमे है। जो अदम्य ऊर्जा, उनकी रचनाओ की शक्ति और प्रधान आकर्षण है, वही उनको अपने जीवन मे अक्सर अस्त-व्यस्त भी रखती थी। दैनिक जीवन के बेरहम सघर्ष ने भी इस अस्त-व्यस्तता को और अधिक तीव्र और अनियन्त्रणीय बनाया। नतीजा यह हुआ कि वे अपनी रचनाओ को बहुत व्यवस्थित करके न तो लिख सके न रख सके। एक उदासीन, सहानुभूतिहीन या पूर्वग्रहग्रस्त साहित्यिक वातावरण के कारण उनकी रचनाओ का प्रकाशन उनके जीवनकाल मे बहुत कम हुआ—कविता-सग्रह तो एक भी उनके जीते-जी प्रकाशित न हो पाया। उनकी मृत्यु के बाद भी जिन परिस्थितियो मे उनकी रचनाएँ प्रकाशित हुईं, उनमे न तो रचनाओ की पूरी जॉच-पडताल के लिए समय या गुजाइश थी, न यह पाण्डुलिपियो की हालत के कारण सम्भव ही था।

सच बात यह है कि इन्ही सब कारणो से आज भी उन्हे किसी व्यवस्थित रूप मे प्रस्तुत कर सकना एक बहुत ही चुनौती भरा काम है। उनके सम्पादन का काम जो कोई भी व्यक्ति हाथ मे लेता, उसे अनिवार्य रूप से अपने ही ऐसे तरीके और औज़ार ईजाद करने पडते जिनसे वह तमाम बिखरी हुई सामग्री को सूत्रबद्ध कर सके और उसे प्रामाणिक ढग से पेश कर सके। इन कठिनाइयो के अलावा यह काम बहुत थकाने और उबानेवाला भी हो सकता है। कम-से-कम ऐसे व्यक्ति के लिए तो यह बहुत ही नीरस सिद्ध हो सकता हे जिसकी रुचि और प्रवृत्ति शोधकर्ता की नही है।

मुझे किसी हद तक इस बात का सन्तोष और हर्ष है कि साधारणत शोधपरक कार्य मे कोई रुचि न होने पर भी मैं मुक्तिबोध की फैली हुई रगारग, ऊँची-नीची, ऊबड-खाबड रचनात्मक दुनिया के ओर-छोर को छूने-समझने की कोशिश से ऊबा नही, और कुल मिलाकर मेरे लिए यह एक उत्तेजक और परितृप्तिदायक अनुभव सिद्ध हुआ। बेशक, प्रकाशित कृतियो और पाण्डुलिपियो की हालत को देखते हुए, मुझे कई तरह की उलझनो का सामना करना पडा। पर अन्तत यह स्थिति ही उत्तेजना और परितृप्ति का कारण बन गयी।

मुक्तिबोध की **रचनावली** के प्रकाशन का विचार इसी वर्ष के शुरू मे मार्च-अप्रैल मे कभी सामने आया। विचार को एक निश्चित योजना का रूप लेते मई का अन्त आ पहुँचा। तै यह हुआ कि मुक्तिबोध का सम्पूर्ण प्रकाशित-अप्रकाशित लेखन छह-सात खण्डो की **रचनावली** के रूप मे, जिसका सम्पादन मैं करूँ, उनके जन्मदिन 13 नवम्बर, 1980 पर प्रकाशित किया जाय। इस ज़िम्मेदारी को स्वीकार करते समय मुझे इस बात का केवल एक हल्का-सा ही अहसास था कि न सिर्फ मुक्तिबोध की बहुत-सी रचनाएँ अभी अप्रकाशित है जिनके लिए पाण्डुलिपियो मे खोज करनी होगी, बल्कि उनकी प्रकाशित रचनाओ को भी उनकी मूल पाण्डुलिपियो से मिलाना अनिवार्य या जरूरी होगा। वह काम इतना बडा, पेचीदा और समयसाध्य होगा इसका उस समय कोई अनुमान न था। जैसा ज़रूरी और उपयुक्त था, शुरू मे ही यह भी निर्णय किया गया कि सारी सामग्री को—यानी कविता कहानी, डायरी, साहित्यिक तथा राजनैतिक लेख और पत्र आदि को —अलग-अलग कालक्रम से प्रस्तुत किया जाये। यह शर्त बाद मे कितनी दिक्कते पैदा करेगी, इसका भी उस समय कोई अन्दाज़ न था।

कुछ दूर आगे बढने पर कई तरह की कठिनाइयाँ सामने आने के अलावा यह भी ज़ाहिर होने लगा कि इस कार्य के लिए मौजूदा योजना के अन्तर्गत उपलब्ध समय बहुत पर्याप्त नही है। किन्तु इस नतीजे पर अन्तिम रूप से पहुँचने मे देर हो जाने से, और कई अन्य परिस्थितियो के कारण, प्रकाशन-तिथि को बदलकर बाद मे रखना सम्भव नही रहा। अन्तत काम को आखिरी दिनो मे तो लगभग युद्ध-स्तर पर किसी तरह पूरा करना पडा, जिसमे थकान भी बहुत हुई और यह सशय भी मन मे आया कि पता नही कार्य के साथ पूरा न्याय हो सका या नही। बेशक कुछ चुनौतियो का सामना करके उनका हल निकालने की कोशिश की गयी। पर अनेक नयी समस्याएँ भी सामने आती गयी। बहरहाल, इस **रचनावली** द्वारा मुक्तिबोध की रचनाओ के विस्तार का कुछ अता-पता तो चला ही, यह भी महसूस हुआ कि उनको पूरी प्रामाणिकता तथा वास्तविक सम्पूर्णता मे प्रस्तुत करने के लिए अभी और भी काम ज़रूरी है।

इस सिलसिले मे दो-तीन बातो की तरफ इशारा किया जा सकता है। एक, इस **रचनावली** को यथासम्भव सम्पूर्ण बनाने की पूरी कोशिश के बावजूद, यह लगभग निश्चित है कि उनका कुछ लेखन अब भी पत्र-पत्रिकाओ मे दबा रह गया है जिसकी कोई पाण्डुलिपि या नकल या कतरन फिलहाल उपलब्ध नही है, पर पत्र-पत्रिकाओ की व्यापक तलाश से उसका पता मिल सकता है।

दूसरे, उनके फुटकर हस्तलिखित कागज़ो का एक बण्डल ऐसा है जिसको अभी तक पूरी तरह देखा नही जा सका है। सम्भव है, इनमे प्रकाशित रचनाओ के विभिन्न अशो के अलग-अलग प्रारूप हो, और यह भी हो सकता है कि कुछ नयी या कमोबेश पूरी या अधूरी रचनाएँ हो। कविताओ के मामले मे इसकी सम्भावना बहुत ज्यादा है। **रचनावली** के दूसरे खण्ड के अन्त मे कुछ कविताश दिये गये है। ये उनके ऐसे ही कुछ और या एक-दो नत्थी किये हुए कागज़ो मे लिखी मूल कविताओ के अश हैं। उनमे से कई अपेक्षाकृत लम्बी है और सम्पूर्ण-जैसी भी लगती है। कई कुछ पक्तियाँ मात्र हैं।

तीसरे, उनकी रचनाओ के विभिन्न प्रारूपो की और भी विस्तार से जाँच की

जानी चाहिए जिससे एक ओर तो अब तक प्राप्त रचनाओं के प्रामाणिक पाठ निश्चित रूप से निर्धारित हो सके। दूसरी ओर, यह भा सम्भव है कि कई प्रारूपो के सम्यक् सम्पादन द्वारा कई रचनाओ का एक अधिक सशक्त और सम्पूर्ण रूप तैयार हो सके। पाण्डुलिपियो मे अक्सर ऐसा पाया गया कि एक ही रचना को उन्होने कई बार लिखा है और इन विभिन्न प्रारूपो मे कुछ हिस्से सामान्य होने के बावजूद कुछ हिस्से एकदम अलग हो जाते है और एक ही कथ्य के अलग-अलग स्तरो का जाहिर करते है। कुछ अन्य रचनाओ मे यह भी अनुभव होता है कि विभिन्न प्रारूपो मे अलग-अलग अश अपने आप मे अधिक सशक्त और प्रभावी हैं। इसलिए अगर सावधानी से उन अशो को जोडा जाय तो इसकी पूरी सम्भावना है कि उस रचना के मौजूदा रूप के मुकाबले एक अपेक्षाकृत अधिक सुगठित और समर्थ रूप तैयार हो जाये। कविताओ के अलावा कई कहानियो और डायरीनुमा रचनाओ के बारे मे भी इस तरह का आभास हुआ।

दरअसल, मुक्तिबोध की भावात्मक ऊर्जा अशेष और अटूट थी, जैसे कोई नैसर्गिक अन्त स्रोत हो जो कभी चुकता ही नही, बल्कि लगातार अधिकाधिक वेग और तीव्रता के साथ उमडता चला आता है। इस आवेग के दबाव मे वह लगातार लिखते चले जाते थे और उनकी यह ऊर्जा अनेकानेक कल्पना-चित्रो, फैण्टेसियो के आकार ग्रहण कर लेती थी। इस कारण यह भी स्पष्ट नही होता था कि कोई रचना कब और कहाँ शुरू हुई और कैसे किस जगह समाप्त हुई। अपने अनुभव को किसी एक सुसयोजित निश्चित बिन्दु पर, अथवा दो बिन्दुओ के बीच फैलाकर, रचना को समाप्त करना उनके लिए शायद कठिन होता था। इसीलिए उनकी कविताओ मे, यहाँ तक कि कहानियो और लेखो मे भी, बदलते हुए अनुभव, भाव, विचार या उनके अलग-अलग स्तरो के साथ बदलती हुई लय का, स्वर के उतार-चढाव का, या रूपगत विविधता तथा परिवर्तन का, अहसास तो होता है, पर रचना के आदि या अन्त का अलग से आभास नही होता।

इसके अतिरिक्त एक और परिस्थिति ने भी कुछ कठिनाई पैदा की है। और वह यह कि मुक्तिबोध अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी के सघर्ष मे इतनी बेरहमी से गिरफ्तार रहे कि थोडे-से भौतिक तथा मानसिक अवकाश के साथ अपनी रचनाओ को माँजने, व्यवस्थित करने अथवा उन पर सावधानी से एक और नजर डालकर उन्हे अन्तिम रूप देने का अवसर उन्हे बहुत कम ही मिला। ऐसा वे केवल अपनी कुछेक बडी रचनाओ के साथ ही, अपने जीवन के अन्तिम वर्षों मे ही, कर पाये। नतीजा यह है कि उनकी रचनाओ मे, या कि उनकी रचनाओ के अलग-अलग प्रारूपो मे, उनकी काव्यानुभूति की अलग-अलग सतहे, अलग-अलग परते मौजूद है, और उनकी पाण्डुलिपियो का सहानुभूति और अन्तर्दृष्टि के साथ सम्पादन बहुत फलदायी हो सकता है। यह असम्भव नही कि भविष्य मे कभी यह काम अधिक अवकाश और साधनो के साथ किया जा सके।

बहरहाल, इस **रचनावली** मे समस्त प्रकाशित रचनाओ के अलावा यथा-सम्भव सभी अप्रकाशित रचनाएँ शामिल की गयी है। विभिन्न खण्डो मे सामग्री का विभाजन इस प्रकार है. पहले दो खण्डो मे कविताएँ, तीसरे मे कहानियाँ, चौथे मे डायरियाँ तथा **कामायनी एक पुनर्विचार**, पाँचवें खण्ड मे साहित्यिक निबन्ध और छठे मे राजनीतिक तथा विविध लेख और पत्र। इस प्रकार सर्जना-

त्मक लेखन पहले दिया गया और वैचारिक-आलोचनात्मक लेखन उसके बाद। सबसे अन्त मे उनका अनौपचारिक लेखन, यानी पत्र है।

मुक्तिबोध प्रथमत कवि थे और कविता मे ही उनकी सर्जनात्मक शक्ति, मौलिकता और ऊर्जा का पूरा प्रकाश हुआ है। पाण्डुलिपियो मे पूर्ण, प्राय पूर्ण, अथवा अपूर्ण कविताओ और उनके विभिन्न प्रारूपो का बडा भारी समूह है। यहाँ प्रकाशित और अप्रकाशित पूर्ण और कुछ अपूर्ण कविताओ को दो खण्डो मे प्रस्तुत किया गया है। पहले खण्ड मे 1935 से लगाकर 1956 तक की कविताएँ है। एक तरह से कहा जा सकता है कि यह कवि-रूप मे मुक्तिबोध की तैयारी का काल है जिसमे वह अपना निजी मुहावरा खोज रहे थे, बना रहे थे और उसे माँज रहे थे। इस काल को 1957 के अन्त या 1958 के मध्य तक बढाया जा सकता था, क्योकि 1958 के जून मे वह राजनाँदगॉव पहुँचे जहाँ उन्हे अपेक्षाकृत अधिक अवकाश मिला और वह अधिक एकाग्र मन से लेखन की ओर प्रवृत्त हो सके। इस दृष्टि से 1957 तक की कविताएँ पहले खण्ड मे ही एक साथ देना शायद सगत होता। किन्तु 1957 मे उनकी रचनाएँ इतनी अधिक और लम्बी-लम्बी है कि उन्हे पहले खण्ड मे शामिल करने से किसी हद तक दोनो खण्डो के आकार मे सन्तुलन नही रहता। इसलिए अन्तत यह ठीक समझा गया कि 1956 तक की कविताएँ पहले खण्ड मे हो और 1957 से 1964 तक की दूसरे खण्ड मे। यह सही है कि मौजूदा विभाजन मे भी सन्तुलन बहुत नही रह सका है, यानी कि दूसरे खण्ड मे पहले की तुलना मे कविताएँ कम है पर पृष्ठ कही ज्यादा है। इसका एक कारण यह है कि परवर्ती अधिकाश कविताएँ और भी ज्यादा लम्बी-लम्बी हैं। इसलिए कुल मिलाकर यह विभाजन सगत ही है और मोटे तौर पर अवश्य ही मुक्तिबोध की कविता के दो अलग-अलग चरणो को सूचित करेगा।

पहले खण्ड के शुरू मे 1935-39 मे लिखी हुई प्रारम्भिक कविताएँ है। ये उन कुछ थोडी-सी कविताओ मे है जो अलग-अलग कापियो मे लिखी हुई है और जिनपर लिखने की तारीखे भी दी हुई है। उनमे से अनेक उन्ही दिनो **कर्मवीर**, **वाणी**, और **वीणा** आदि पत्रो मे छपी थी। विशेषकर **कर्मवीर** मे उनकी कई रचनाएँ छपी, जिसके सम्पादक माखनलाल चतुर्वेदी नयी प्रतिभाओ को प्रोत्साहित और प्रकाशित करने के लिए विख्यात थे। मुक्तिबोध के उस दौर की कविताओ पर माखनलाल चतुर्वेदी की शैली और सवेदना की छाप भी स्पष्ट दिखायी पडती है। वह 1942-43 तक मालवा मे रहे और उनकी उस दौर की अनेक महत्त्वपूर्ण कविताएँ **तारसप्तक** मे सकलित हुई थी। बाद मे वह मालवा छोडकर बगलौर, कलकत्ता, बनारस, इलाहाबाद, जबलपुर आदि स्थानो मे कुछ-कुछ समय के लिए रहे और एक तरह से कविताओ का एक और चरण इस अवधि मे पूरा हुआ।

1949 मे नागपुर आने के साथ उन कविताओ का दौर शुरू हुआ जो बाद मे उनके एकदम निजी और विशिष्ट स्वर की पहचान बन गयी। अपने नागपुर काल मे उन्होने सबसे ज्यादा लिखा और यही कविता के प्रति उनका वह रुझान स्पष्ट और गहरा हो गया जिसके कारण लम्बी-लम्बी कविताएँ अधिकाधिक लिखी गयी। कविताओ के विभिन्न प्रारूपो की समस्या वास्तव मे यही से प्रारम्भ हुई। बेशक, इससे पहले की कविताओ के भी एकाधिक रूप मिलते है, पर न तो उनकी सख्या ज्यादा है और न उनमे इतनी जटिलता है कि कविता के मुख्य और अन्तिम

रूप को अलग पहचानने मे कोई दिक्कत हो। किन्तु छठे दशक के प्रारम्भ से ही वे ऐसी कविताएँ लिखने लगे जो न तो एक बार मे पूरी होती थी, न उनका कोई एक स्थिर रूप ही बन पाता था।

यहाँ एक और बात का उल्लेख आवश्यक है। उनकी अनेक कविताएँ जो दूसरे खण्ड मे 1960 से 1962 के बीच रचना-काल के अन्तर्गत रखी गयी है, मूलत नागपुर मे ही 1953 और 1957 के बीच लिखी गयी थी। किन्तु उनमे लगातार बडे-बडे या साधारण परिवर्तन-सशोधन होते रहे और उनको अन्तिम रूप 1960 के बाद ही दिया गया जब मुक्तिबोध को अधिक अवकाश और कविताओ को माँजने का अधिक अवसर मिला। यह बात विवादास्पद हो सकती है कि इन कविताओ को पहले काल-खण्ड मे रखना उचित होगा अथवा दूसरे काल-खण्ड मे। एक ओर तो यह तथ्य है कि कलेवर मे भले ही कुछ छोटे-मोटे या बडे परिवर्तन हुए हो, किन्तु उनकी मूल सवेदना तथा उनमे सयोजित अनुभव और उसके पीछे जीवन-दृष्टि मूलत 1953-57 के बीच की ही है। दूसरी ओर यह कि कवि द्वारा अन्तिम रूप उन्हे 1960-62 मे ही दिया गया। इन्हे किस दौर की रचना माना जाय यह अपने-आपमे एक स्वतन्त्र विवेचन का विषय हो सकता है। विशेषकर इसलिए कि 1953 से '57 के दौर मे मुक्तिबोध ने सबसे अधिक लिखा। इन वर्षों मे उनकी सर्जनात्मक ऊर्जा कविता, कहानी, डायरी, निबन्ध, राजनीतिक लेखन की ओर समान वेग, दबाव और आत्मविश्वास से उन्मुख हुई। साथ ही यही उनके जीवन मे तीव्र आर्थिक तथा सामाजिक सघर्ष का काल भी था। कवि के इस आन्तरिक तथा बाह्य सघर्ष और उसकी सर्जनात्मक ऊर्जा के बीच सम्बन्ध की पडताल की दृष्टि से भी इस दौर के लेखन का स्वतन्त्र अध्ययन बहुत सार्थक और उत्तेजक हो सकता है।

रचनावली के लिए सम्पादन मे 1953-56 (नागपुर) तथा 1958-64 (राजनाँदगाँव) की कविताओ को प्रस्तुत करने मे कई प्रकार की उलझने सामने आयी जिनका कुछ उल्लेख दूसरे खण्ड की भूमिका के साथ हुआ है और कुछ अलग-अलग कविताओ मे टिप्पणियो के साथ। यहाँ इस बात पर ज़ोर देना ज़रूरी जान पडता है कि कविताओ के विभिन्न प्रारूपो मे से किसे अन्तिम और प्रामाणिक माना जाय यह निर्णय बहुत आसान साबित नही हुआ। **रचनावली** मे यथासम्भव उसी पाठ को रखा गया है जो कवि द्वारा अन्तिम रूप से सशोधित प्रारूपो मे मिलता है। पाण्डुलिपियो से मिलाने पर पत्र-पत्रिकाओ अथवा उनके दो सकलनो मे प्रकाशित कविताओ मे बहुत अशुद्धियाँ मिली और यह ज़रूरी था कि पाठ को पाण्डुलिपि के अनुसार शुद्ध कर दिया जाये। दूसरी ओर, इस बीच वे कविताएँ उस रूप मे प्रचलित और स्वीकृत हो चुकी हैं, इसलिए उनका एक भिन्न पाठ प्रस्तुत करने मे एक तरह की झिझक भी मन मे होती थी। अन्तत यही उचित जान पडा कि कविताओ की पाण्डुलिपि के अनुसार सशोधन करके ही **रचनावली** मे दिया जाय।

रचनावली का तीसरा खण्ड पूरा कहानियो का है जिसमे 1936 से 1963 तक की रचनाएँ है। इससे ज़ाहिर है कि कथा-लेखन मे मुक्तिबोध की गहरी रुचि थी और उसे वे अपनी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माध्यम मानते रहे और उनका कथा-लेखन, कविता के समानान्तर ही, अन्तिम दिनों तक

चलता रहा। यह बात भी दिलचस्प है कि उनकी पहली कविता और कहानी 1935-36 मे लिखी हुई ही है। **रचनावली** मे पहली बार उनकी दो प्रारम्भिक सम्पूर्ण कहानियाँ प्रस्तुत की जा रही है। कविता की भाँति कहानी मे भी मुक्तिबोध की अपनी एक अलग सवेदना और शैली है जो इन शुरू की कहानियो मे भी दिखायी पडती है। उनमे चरित्रो के बाहरी आचरण और भीतरी प्रतिक्रियाओ का ब्यौरा बहुत है और कविता की भाँति बाहरी से भीतरी और भीतरी से बाहरी दुनिया की ओर अतिक्रमण की कोशिश निरन्तर दिखायी पडती है। कविताओ की भाँति ही, कहानियो का भी कोई बहुत निश्चित आदि या अन्त नही है। कथा-शिल्प की ये विशेषताएँ उनकी प्रारम्भिक कहानियो मे ही दिखायी पड जाती है। कविता की भाँति ही, उन्होने एक ही कहानी को एकाधिक बार लिखा और उनके विभिन्न प्रारूप अक्सर, कुछ सामान्य स्थितियो अथवा वाक्यो के बावजूद, स्वतन्त्र कहानी का रूप ले लेते है। **रचनावली** मे इस तरह के कुछ प्रारूपो को स्वतन्त्र कहानियो के रूप मे दिया भी गया है।

कहानियो के सिलसिले मे दो-एक बातो का उल्लेख आवश्यक जान पडता है। सन् 1948-49 के आस-पास उन्होने ढाई सौ पृष्ठो का एक उपन्यास लिखा था जो वह इलाहाबाद मे एक प्रकाशक को दे गये, जिससे सम्पर्क श्री शमशेरबहादुर सिंह के माध्यम से हुआ था। उसके उस समय लगभग 80 पृष्ठ कम्पोज हुए पर वह प्रकाशित या मुद्रित नही हो पाया। दुर्भाग्यवश फिर उसकी पाण्डुलिपि भी गुम हो गयी। बाद मे शमशेरजी ने उस पाण्डुलिपि का पता लगाने की कोशिश भी बहुत की, पर मिली नही। **रचनावली** का कहानियोवाला तीसरा खण्ड पूरा छप जाने के बाद नितान्त सयोगवश इलाहाबाद से प्रकाशित पत्रिका **पक्षधर** के 1975-76 के अक मे उस उपन्यास के एक अश के छपे होने की सूचना मिली। उसे प्राप्त करके **रचनावली** के अन्त मे दिया जा रहा है। पर वह अधूरा भी है और खण्डित भी। यह सचमुच एक दुर्भाग्य की ही बात है कि उनका वह शायद एकमात्र पूरा उपन्यास न तो प्रकाशित हो सका और न उसकी कोई पूरी पाण्डुलिपि मिली।

कुछ अन्य प्रकार की समस्या उनकी लम्बी कहानी 'विपात्र' को लेकर हुई जो उपन्यास के रूप मे भी प्रकाशित हुई है। कहानी और उपन्यास के रूप मे अलग-अलग छपे हुए इन दोनो पाठो को ध्यान से पढने पर यह अनुभव हुआ कि वे सम्भवत एक ही कथा के दो प्रारूप रहे है, सम्पूर्ण उपन्यास नही। **रचनावली** मे उसे कहानी के रूप मे ही प्रस्तुत किया गया है। साथ ही उसका बाद का उपन्यास के रूप मे जोडा हुआ अश भी दे दिया गया है। इस तरह की कठिनाई उनकी कुछ अन्य कहानियो के मामले मे भी सामने आयी। **रचनावली** मे एक सम्पूर्ण कहानी के रूप मे प्रकाशित रचना (चाबुक) को दो स्वतन्त्र कहानियो के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। दूसरी ओर एक ही कहानी के दो अलग-अलग टुकडे, एक प्रकाशित और एक अप्रकाशित, दिये गये हैं जो दोनो अपूर्ण है, पर दोनो परस्पर सम्बद्ध भी हैं। साथ ही यह भी असम्भव नही कि अन्य पत्रिकाओ की खोज-बीन करने पर कुछ और कहानियाँ मिल जाये।

मुक्तिबोध की रचनात्मक ऊर्जा का एक बहुत बडा अश आलोचनात्मक लेखन और साहित्य सम्बन्धी चिन्तन मे सक्रिय रहा। ऐसे लेखन मे **एक साहित्यिक की**

डायरी मे कला के तीन क्षण जैसे सूक्ष्म और मौलिक विश्लेषणपरक चिन्तन से लगाकर **कामयानी** के ऊपर एक स्वतन्त्र पुस्तक तथा अनेक बुजुर्ग और युवा समकालीनो की पुस्तको की समीक्षाएँ आदि सभी कुछ है। आलोचना और आलोचक के कर्तव्य, नयी कविता के रूप, रचना-प्रक्रिया आदि सवालो पर उनका आवेगपूर्ण लेखन मिलता है। यह सारा लेखन एक अत्यन्त जागरूक और अपने रचना-कर्म के प्रति बेहद सजग, सवेदनशील और गहरी अन्तर्दृष्टिवाले व्यक्ति का परिचय देता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि उनका आलोचनात्मक लेखन आकार और परिमाण मे उनकी कविताओ से अधिक नही तो बराबर अवश्य है। साहित्यालोचन सम्बन्धी लेखन **रचनावली** के दो खण्डो मे है—चौथे मे **एक साहित्यिक की डायरी** और **कामायनी एक पुर्नविचार** तथा पाँचवे मे प्रकाशित-अप्रकाशित फुटकर निबन्ध।

एक साहित्यिक की डायरी के अन्तर्गत मुक्तिबोध की जो रचनाएँ प्रकाशित हुईं, वे कहानी और आलोचनात्मक बहस-मुबाहसे का एक मिला-जुला और अपने ढग का अनोखा रूप है। अपने व्यक्तित्व और वक्तव्य की विशेष ज़रूरत के अनुरूप मुक्तिबोध ने इस शैली को विकसित किया। पाण्डुलिपियो मे उसी शैली की कुछ अन्य रचनाएँ भी मिली जिन्हे **रचनावली** मे शामिल किया गया है। इसके अतिरिक्त 1936 की एक अत्यन्त निजी किस्म की डायरी और ऐसे अनेक अलग-अलग या नत्थी कागज़ भी मिले जिनमे डायरी-जैसी शैली मे कुछ अपूर्ण रचनाएँ है। ऐसी कई-एक डायरियाँ अथवा कई-एक टुकडे **रचनावली** मे दिये गये है। इस तरह की डायरी की शुरूआत मुक्तिबोध ने नागपुर मे अपने पत्रकार जीवन के प्रारम्भ मे की थी। बाद मे **वसुधा** मे भी वे ऐसी डायरी लिखते रहे। थोडी खोज-बीन करने पर सम्भव हे कि इस तरह के डायरीनुमा लेख कुछ और भी मिल जाये।

अलग-अलग स्वतन्त्र निबन्ध पाँचवे खण्ड मे हे। उनका विस्तार जितना विविध और बहुस्तरीय है, उनमे प्रस्तुत और विकसित चिन्तन उतना ही मौलिक तथा अन्तर्दृष्टिपूर्ण। **रचनावली** मे उनके स्वतन्त्र लेखो को किसी व्यवस्थित काल-क्रम मे रखने मे बहुत कठिनाई हुई, क्योकि सम्भावित रचना-काल के भी ठीक-ठीक अन्दाज़ का आधार बहुत कमज़ोर था। उनके अनेक लेखो मे विचारो और वाक्यो की पुनरावृत्ति है, जो कुछ तो इस कारण पैदा हुई होगी कि मिलते-जुलते विषयो पर उन्होने एक से अधिक अवसर पर विभिन्न पत्रिकाओ के लिए लिखा होगा। इस पुनरावृत्तिका दूसरा कारण यह भी है कि पाण्डुलिपियाँ गडमड हुई हैं और एक लेख के अश दूसरे लेख से जुड गये है। **रचनावली** मे यथासम्भव इस दोहरावट को हटाने और लेखो के सही रूप प्रस्तुत करने की कोशिश की गयी है।

छठे दशक के मध्य मे मुक्तिबोध जबलपुर मे **सारथी** और **नया खून** जैसे साप्ताहिको से सक्रिय रूप से सम्बद्ध रहे। **नया खून** के तो वे सम्पादक भी थे। इनमे साहित्यिक लेखन के अलावा उन्होने राजनीतिक विषयो पर, अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य तथा देश की आर्थिक समस्याओ पर, लगातार, अक्सर हर सप्ताह, लिखा। यद्यपि उस ज़माने के मध्यप्रदेश के नौजवान लेखको को उन लेखो की कुछ याद है, पर व्यापक हिन्दीभाषी पाठक समुदाय के लिए ये लेख एक नयी खोज के समान हैं और मुक्तिबोध के एक नये रूप का परिचय देते है। इन लेखो को पढकर इसमे कोई सन्देह नही रह जाता कि मुक्तिबोध जितने समर्थ कवि और आलोचक थे

उतने ही समर्थ पत्रकार भी थे। इन लेखो मे अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ की बडी सूक्ष्म और विशद जानकारी दिखायी पडती है और उनमे जो टिप्पणियाँ है वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के एक सुपठित और सुलझे हुए पर्यवेक्षक की दृष्टि के सूचक है।

दिलचस्प बात यह है कि ये लेख भी उसी दौर मे लिखे गये जब मुक्तिबोध अपने साहित्यिक सर्जनात्मक कार्य मे भी पूरी तन्मयता के साथ जुटे हुए थे। इसीलिए इस बात से बडा अचरज होता है कि उन दिनो की राजनीतिक घटनाओ की पृष्ठभूमि के अनेक तथ्यो तथा उनके निहित पक्षो की विस्तृत जानकारी उन्होने कब और कैसे हासिल की होगी। इन निबन्धो की भाषा भी मुक्तिबोध के अन्य गद्य की भाषा से एकदम भिन्न है और कई दृष्टियो से वह आज राजनीतिक विषयो पर हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित होनेवाली टिप्पणियो से कही अधिक सूक्ष्म, समर्थ और सहज जान पडती है। इन लेखो के बारे मे एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि वे सभी 'यौगन्धरायण' अथवा 'अवन्तीलाल गुप्त' जैसे छद्मनामो से लिखे गये है। **रचनावली** के छठे खण्ड मे ऐसे सभी उपलब्ध लेख दिये गये है। मगर यह सम्भव है कि इस तरह के कुछ अन्य लेख भी हो जिनका पता उस ज़माने के मध्य-प्रदेश के अखबारो आदि की छान-बीन से शायद लग सके।

मुक्तिबोध के गैर-साहित्यिक लेखन की एक अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तक है **भारत इतिहास और सस्कृति**। यह एक पाठ्य-पुस्तक के रूप मे लिखी गयी थी। किन्तु इसकी निर्भीक और रूढिमुक्त मौलिक दृष्टि के कारण, और कुछ उस ज़माने के प्रकाशको की आपसी होड के फलस्वरूप, इस पुस्तक को लेकर विरोध और आन्दोलन हुआ और उच्च न्यायालय के एक आदेशानुसार इस पर कुछ पाबन्दियाँ लगा दी गयी। पहले इस ग्रन्थ को भी **रचनावली** मे शामिल करने की योजना थी, किन्तु इस पाबन्दी को ध्यान मे रखते हुए यह विचार फिलहाल छोड दिया गया। सम्भवत भविष्य मे इसका प्रकाशन हो सके और फिर **रचनावली** के आगामी सस्करण मे उसे भी शामिल किया जा सके।

रचनावली की सामग्री का अन्तिम और कई दृष्टियो से विशिष्ट अश है मुक्तिबोध के पत्र। मुक्तिबोध बडे तत्पर और उत्साही पत्र-लेखक थे और उन्होने नि सन्देह अपने अनेक बन्धुओ, मित्रो तथा अन्य समकालीन युवा लेखको को पत्र लिखे होगे। दुर्भाग्यवश केवल कुछ ही उपलब्ध हो पाये। जिन लोगो को लिखे पत्र मिल सके वे है वीरेन्द्रकुमार जैन, शमशेरबहादुर सिंह, प्रभाकर माचवे, श्रीकान्त वर्मा, भारतभूषण अग्रवाल, प्रमोद वर्मा, विष्णुचन्द्र शर्मा, आग्नेश्का सोनी, मलय तथा जगदीश। इन पत्रो मे अधिकतर साहित्यिक सवालो को लेकर चर्चा है। इनके अतिरिक्त बहुसख्यक पत्र वे है जो उन्होने मुझे लिखे थे और मेरे पास सुरक्षित रह गये। ये पत्र अधिकाशत अग्रेजी मे है, यद्यपि थोडे-से हिन्दी मे भी है जो कुछ वर्ष पूर्व **आलोचना** में प्रकाशित हुए थे। मुझे लिखे गये पत्र अधिकतर उनके निजी जीवन और उनकी मानसिक उलझनो से सम्बन्धित है। नि सन्देह ये पत्र मुक्तिबोध के तीखे जीवन-सघर्ष और गहरी मानवीय आस्था को बडी आत्मीयता और करुणा के साथ प्रकाशित करते है और उनकी कष्टभरी जीवन-यात्रा के अनेक पडावो का कुछ अता-पता देते है। यद्यपि इसमे भी बीच के कुछ वर्षों के पत्र मिल नही सके, और सयोगवश हमारे बीच यह पत्र-व्यवहार बाद के वर्षों मे उतना नियमित और उत्कट नही रह पाया, फिर भी 1942 से लगाकर 1964 तक मुक्तिबोध के पूरे

जीवन के कुछ सूत्रो को इन पत्रो के द्वारा पाया और समझा जा सकता है।

रचनावली मे इस तमाम सामग्री के प्रस्तुतीकरण मे आधुनिक और व्यवस्थित मुद्रण की ज़रूरतो को ध्यान मे रखते हुए भी यथासम्भव यह कोशिश की गयी है कि जिस प्रकार वह पाण्डुलिपियो मे मौजूद है, उसी प्रकार मुद्रित की जाये। इसमे कई प्रकार की समस्याएँ थी। जैसे, भाषा को ही ले। मुक्तिबोध की प्रारम्भिक रचनाओ की भाषा के ऊपर मराठी के अतिरिक्त मालवी मुहावरे का असर है। कुछ शब्दो की वर्तनी भी मालवी उच्चारण के आधार पर दी हुई है। उदाहरण के लिए, बहुत जगह 'मे' मे अनुस्वार नही दिया हुआ है या 'बारह' की जगह 'बारह्वा' लिखा हुआ है। इसी तरह और भी कई शब्दो के मालवी या कही-कही मराठी रूप है। अनेक जगह वर्तनी की अशुद्धियाँ है, लिंग और वचन की भूले है, जल्दी मे विभक्तियाँ छूट गयी है, कर्ता और क्रियापदो मे सामजस्य नही है, उर्दू शब्दो मे कही नीचे नुकता है कही नही, आदि।

इन तथा ऐसे अन्य कई मामलो मे वर्तनी की एकरूपता को बनाये रखते हुए, तथा असावधानी के कारण हुई लगनेवाली व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियो को दूर करके, मुक्तिबोध की भाषा के अपने खास रग और पहचान को ज्यो-का-त्यो रहने दिया गया है। जो प्रयोग मुक्तिबोध की एक काल-विशेष की भाषा को सूचित करते है उन्हे भी रहने दिया गया है। इसी कारण कई एक मराठी शब्दो जैसे 'थर' को (जिसका अर्थ सतह या स्तर होता है और यह सम्भव ह कि मालवा मे वह इसी रूप मे प्रचलित भी हो) बदला नही गया। विशेषकर सर्जनात्मक लेखन यानी कहानी और कविताओ मे मुक्तिबोध की भाषा के रूप को लगभग ज्यो-का-त्यो रहने दिया गया है। आलोचनात्मक निबन्धो अथवा राजनीतिक लेखन मे शब्दो की वर्तनी और रूप हिन्दी के मानक रूपो के अनुकूल करने की कुछ-कुछ ज़रूरत हुई हे। किन्तु अन्य लेखो मे भी उनकी शैली के जो विशेष प्रयोग है (जैसे कि वह कई बार विशेषण अथवा क्रिया-विशेषणमूलक वाक्याशो की पुनरावृत्ति करते है) उन्हे वैसा ही रहने दिया गया है, यद्यपि वे अनावश्यक भी हे और भाषा को बहुत बोझिल और दुरूह भी बनाते है।

मुक्तिबोध उर्दू शब्दो को उनके मूल रूप मे ही व्यवहार मे लाते थे और अधिकाशत उन्होने नुकते का प्रयोग किया है। इसीलिए पाण्डुलिपि मे नुकते जहाँ नही भी थे वहाँ उन्हे लगा दिया गया है।

एक अन्य समस्या थी विराम-चिह्नो की। आधुनिक लेखन और मुद्रण मे विराम-चिह्न का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक सहज, व्यवस्थित और मानकीकृत हो गया है। मुक्तिबोध अक्सर दो विस्मयबोधक चिह्नो का प्रयोग करते है। कही-कही तीन विस्मयबोधक चिह्न भी है। कई जगह उन्होने प्रश्नवाचक चिह्न भी दो रखे है। इसी प्रकार वे आडी-पाई (डैश) का प्रयोग भी बहुत उदारतापूर्वक करते हैं। इनमे से दो विस्मयबोधक चिह्नो को यथासम्भव बनाये रखा गया है, क्योकि वे उनकी एक शैलीगत खासियत को सूचित करते है। किन्तु अन्य विराम-चिह्नो के बारे मे भाषा की ज़रूरत के अनुकूल परिवर्तन किये गये है जिससे मुद्रण व्यवस्थित रह सके। अनेक कविताओ मे स्टैन्ज़ा या अश के अन्त मे कोई विराम-चिह्न नही मिलता। जब तक यह सर्वथा आवश्यक नही हुआ, इसमे कोई परिवर्तन नही किया गया है। कविताओ मे विशेषकर इस बात का ध्यान रखा गया है कि

विराम-चिह्न के कारण अर्थ मे कोई परिवर्तन न आने पाये।

एक बात कोष्ठको के व्यवहार के बारे मे कहना आवश्यक है। **रचनावली** मे सर्वत्र साधारण कोष्ठक (( )) मूल पाण्डुलिपि का है। इसलिए सम्पादक की ओर से कही भी जो कुछ भी जोडा या समाविष्ट किया गया है, वह बडे कोष्ठक ([ ]) मे दिया गया है। अर्थात्, **रचनावली** मे सर्वत्र जो भी अश बडे कोष्ठक मे है वे लेखक के नही, सम्पादक के है।

मुक्तिबोध की रचनाओ मे अंग्रेजी के अनेक शब्दो का व्यवहार हुआ है। पर अक्सर वे उन्हे देवनागरी लिपि मे लिखते थे। रचनावली मे भी सर्वत्र यही पद्धति अपनाकर अंग्रेज़ी शब्दो या उद्धरणो को देवनागरी लिपि मे दिया गया है। केवल पत्रो मे अंग्रेजी शब्द रोमन लिपि मे रहने दिये गये है।

एक अन्य सरस्या थी रचनाओ के शीर्षक के बारे मे। बहुत-सी रचनाओ के शीर्षक मुक्तिबोध के दिये हुए नही हे। कई तो पत्रिकाओ के सम्पादको के दिये हुए है और कुछ शायद कुछ उन मित्रो के जिनके सहयोग से उनके निधन के बाद उनकी रचनाएँ छपी। पहले से प्रकाशित रचनाओ मे जो भी शीर्षक मौजूद थे उन्हे वैसा ही रहने दिया गया। अप्रकाशित रचनाओ मे कुछ मे अपनी ओर से शीर्षक दिये गये है। अप्रकाशित नयी कविताओ के शीर्षक कई जगह तो पहली पक्ति से ही लिये गये है और कही-कही किसी अन्य पक्ति या कविता मे ही मौजूद शब्द या शब्द-समूह, या कही-कही केन्द्रीय भाव को शीर्षक मे रखने की कोशिश की गयी है।

सामग्री के प्रस्तुतीकरण की एक अन्य, और कई दृष्टियो से सबसे बडी तथा परेशान करनेवाली, समस्या रचनाओ के काल-क्रम की थी। सच पूछा जाय तो मुक्तिबोध की रचनाओ का काल-क्रम निर्धारित करना अपने-आप मे एक शोध-कार्य हो सकता है। उनकी कुछ प्रारम्भिक रचनाओ को छोडकर बाकी कही भी लेखन की तारीख अथवा वर्ष आदि दिया हुआ नही है। इसलिए यह निर्णय बडा भारी सिरदर्द बन गया कि **रचनावली** मे सभी रचनाएँ काल-क्रम से रखी जायें। शुरू मे ही एक बार तो यह लगा कि यह काम किसी तरह सम्भव नही है और इतने कम समय मे तो यह कोशिश ही बेकार है। दूसरी ओर, इस बात को नज़र-अन्दाज नही किया जा सकता था कि मुक्तिबोध-जैसे रचनाकार के बारे मे, जिसका अधिकाश साहित्य मरणोत्तर प्रकाशित हुआ, रचनाओ के काल-क्रम की जानकारी बहुत ही ज़रूरी है।

इसलिए अन्त मे यह फैसला किया गया कि यदि निश्चित तारीख अथवा वर्ष निर्धारित न भी हो सके तो कम-से-कम एक काल खण्ड के भीतर रचना को रख सकना भी कम उपयोगी नही होगा। इस दृष्टि से यह खोज प्रारम्भ की गयी कि रचना यदि कही किसी पत्रिका मे प्रकाशित हुई हो तो उस पत्रिका के नाम तथा वर्ष, मास आदि का पता लगाया जाय। कुछ कोशिश करने से अनेक रचनाओ के बारे मे यह जानकारी मिल भी गयी। इसके द्वारा कम-से-कम इतना तो निश्चित हो ही सका कि वे रचनाएँ उस प्रकाशन-तिथि के पहले ही लिखी गयी थी।

रचना-काल को कुछ अधिक निश्चित करने मे एक तत्त्व से बडी अप्रत्याशित सहायता मिली। मुक्तिबोध ने अपनी बहुसख्यक रचनाओ को—जिनमे कहानियाँ कविताएँ, लेख, सभी कुछ शामिल हैं—दूतावासो से जारी किये जानेवाले सूचना

बुलेटिनो की पीठ पर लिखा है। इन बुलेटिनो मे से अधिकाश पर तारीखे भी दी हुई है। जहाँ निश्चित तारीख न मिल सकी वहाँ उनमे लिखी घटना के आधार पर तारीख और वर्ष का अनुमान करना सम्भव हुआ। इस **रचनावली** मे दिया गया सम्भावित रचना-काल अधिकाशत इसी आधार पर निर्धारित किया हुआ है।

अनेक रचनाओ के बारे मे रमेश मुक्तिबोध ने अपने पिता द्वारा व्यवहार मे लाये गये कागजो अथवा उनके हस्तलेख मे होनेवाले परिवर्तनो के आधार पर भी सम्भावित रचना-काल सुझाया।

यह भी सम्भव था कि रचनाओ के अन्तर्साक्ष्य से—उनकी भाषा, बिम्ब-योजना, विषयो के चुनाव आदि के आधार पर—भी रचना-काल का निर्धारण किसी हद तक किया जाता। किन्तु इसके लिए बहुत समय चाहिए और यह अन्तत शोध का विषय है। यह आशा की जा सकती है कि इस दिशा मे किसी विश्व-विद्यालय का हिन्दी विभाग इस काम को हाथ मे लेना ज़रूरी समझेगा।

निश्चित तिथि अथवा वर्ष की जानकारी के अभाव मे, और केवल काल-खण्ड ही दे सकने की स्थिति मे, रचनाओ का क्रम निर्धारित करने मे एक बडी कठिनाई और भी थी। यह कठिनाई कुछ इसलिए भी बढी कि अनेक रचनाओ के बारे मे केवल इतना ही निर्धारित हो सका कि वे अमुक वर्ष के बाद लिखी गयी होगी। कुछ ऐसी रचनाएँ भी है जो एक लम्बे दौर मे लिखी जाती रही और उनका रचना-काल आठ-दस वर्ष या इससे भी अधिक फैला हुआ है। इन रचनाओ के मामले मे सवाल यह उठा कि उन्हे शुरू करने के वर्ष के अन्तर्गत रखा जाये अथवा समाप्ति के वर्ष के अन्तर्गत।

साधारणत जिस वर्ष मे रचना समाप्त होती है उसी के अन्तर्गत उसे रखना उचित जान पडता है। किन्तु मुक्तिबोध की अनेक महत्त्वपूर्ण कविताएँ ऐसी है जिनका लगभग सम्पूर्ण रूप किसी एक वर्ष मे तैयार हो जाने के बाद भी सशोधन आठ-दस वर्ष तक होते रहे। इस प्रकार यद्यपि उन्हे अन्तिम सशोधित रूप बहुत बाद मे मिला, मगर अधिकाश सशोधन शाब्दिक है और रचना मे निबद्ध मूल अनुभव और उसका सर्जनात्मक रूपान्तरण पूर्ववर्ती काल का ही है। इन सब बातो को ध्यान मे रखते हुए **रचनावली** मे यह पद्धति अपनायी गयी कि जहाँ रचना-काल अनिश्चित रूप से दो या अधिक वर्षों तक फैला हो, वहाँ रचना को उसके प्रारम्भिक वर्ष के अन्तर्गत रखा गया, किन्तु जहाँ किसी-न-किसी प्रकार से अन्तिम सशोधन का वर्ष ज्ञात हो सका है, वहाँ उसे अन्तिम पूर्ण सशोधन के वर्ष की रचना मे रखा गया है।

मुक्तिबोध की रचनाओ का यह काल-क्रम, किसी हद तक कामचलाऊ होते हुए भी उनकी सृजनात्मक यात्रा को समझने मे सहायक होगा, ऐसी **रचनावली** के सम्पादक की आशा रही है। साथ ही यह भी असम्भव नही कि बाद मे कुछ अन्य उपलब्ध तथ्यो के आधार पर कम-से-कम कुछ रचनाओ का काल अधिक निश्चय-पूर्वक तै किया जा सके।

मेरी बडी इच्छा थी कि मुक्तिबोध की सारी रचनाओ से इस बहुविध, एक साथ साक्षात्कार का अनुभव क्या और कैसा रहा इसकी कुछ विस्तार से बात की जाती। मगर सामग्री के सम्पादन और प्रूफ सशोधन का काम ही लगभग अन्तिम

दिन तक चलता रहा और अपनी प्रतिक्रियाओं को ठीक-ठीक परिभाषित करने और सम्भव हो तो उनसे कोई निष्कर्ष निकालने के लिए कोई अवकाश या समय नही बचा। शायद **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे या अन्यत्र कही इसका अवसर मिले।

यहाँ मै केवल एक-दो बातो का उल्लेख करना चाहता हूँ। मैंने इस भूमिका के शुरू मे कहा था कि मुक्तिबोध के लेखन मे उनकी ऊर्जा और उनके अपने निजी स्वर ने मुझे विशेष रूप से आकर्षित किया है। शायद यह इस कारण हो कि मेरा अपना जिन्दगी और साहित्य का सस्कार मुक्तिबोध के सस्कार से अलग और भिन्न था और यह भिन्नता आकर्षित करती थी। सस्कार की इस भिन्नता के बावजूद हमारे बीच एक गहरी आत्मीयता का जो रिश्ता 1941-42 मे शुजालपुर के दिनो मे बना, वह कई मामलो मे जीवन की दिशाएँ बदल जाने के बावजूद, और भी गहरा होता गया। शायद यह दो परस्पर भिन्न स्वभाव और सस्कारवाले व्यक्तियो के बीच एक-दूसरे की गहरी आन्तरिक ज़रूरतो को पूरा कर सकने का रिश्ता था। एक निर्मल निश्छल आत्मीयता मुक्तिबोध के स्वभाव की लुभावनी खूबी थी। इसके साथ ही थी एक बेचैनी—अपने-आपको जानने की, अपने आसपास की दुनिया और उसके लोगो को, उनके और अपने, उनके और दूसरो के सम्बन्धो को समझने की। दूसरे शब्दो मे, सच्चाई को, जिन्दगी के अर्थ को, किसी तरह हासिल कर लेने की तडप। सम्भवत यह खरी और मिलावटरहित निष्ठा और कभी न चुकनेवाली ललक ही वे सूत्र थे जिन्होने हम दोनो को पास खीचा और अन्त तक एक-दूसरे से बाँधे रक्खा।

उनकी सारी रचनाओ को पढकर मेरे मन पर जिस चीज़ की सबसे गहरी छाप पडी, वह इसी तडप और बेचैनी की है जो ज़िन्दगी की असलियत को पहचानने के लिए उनके मन मे थी। मुझे लगता है कि उनका सारा लेखन इसी तलाश को ज़ाहिर करता है—एक केन्द्रीय तलाश, जिन्दगी के अर्थ की। अन्तर्विरोधो से भरी हुई जिन्दगी, बेरहम पर साथ-ही इतनी आत्मीय, इतनी उजाड, पठार जैसी, फिर भी इतनी रसवन्ती। मुक्तिबोध जीवन-भर की इसी 'मालव-निर्झर की झरझर कचन-रेखा' की तलाश करते रहे और जहाँ कही इसकी एक हल्की-सी भी झलक या गूँज उन्हे मिली, उसका उन्होने स्वागत किया, या जहाँ भी कही किसी अँधेरे मे कोई इस कचन-रेखा के खिलाफ साज़िश करता हुआ उन्हे दीख पडा तो उसको उन्होने ललकारा, चाहे वह उनका कितना ही परिचित और प्रिय क्यो न हो।

मुझे एहसास हुआ कि आधुनिक हिन्दी कविता मे ऐसा कोई और नाम नही जो अस्तित्व के बुनियादी सवालो से इस तरह से जूझा हो, जिसने शोषण, उत्पीडन, क्रूरता, आतक और हिंसा से भरी इस दुनिया मे इन्सान की हालत और इन सबका अतिक्रमण करने की उसकी दुर्दम लालसा या कोशिशो को पहचानने और बयान करने की ऐसी अटूट और लगातार कोशिश की हो। उनके सारे लेखन का एक ही विषय है, मानव-आत्मा की यह तलाश और उसकी जय-यात्रा। इस 'पुकारती हुई पुकार' से अपने सच्चे गहरे लगाव के कारण वे इस जय-यात्रा की सारी बाधाओ और उसके विरोधियो-दुश्मनो को भी बहुत साफ-साफ पहचान सके, उनसे नफरत कर सके और अपनी इस पहचान और नफरत को अपनी कविताओ मे इतने आवेग से पेश कर सके। मुझे लगता है कि इसी कारण उनकी किसी

कविता का कोई शुरू या अन्त नही है। अक्सर यह भी लगता है कि एक कविता, दूसरी से खास अलग भी नही है, जैसे सब एक ही ब्रह्माण्डीय सिम्फनी के अलग-अलग 'मूवमेन्ट्स'-भर हो, उनकी सारी कविताएँ, कहानियाँ, यहाँ तक कि दूसरा लेखन भी, जैसे एक ही थीम के अलग-अलग 'वेरियेशन्स' हो।

यह शायद मुक्तिबोध की अद्वितीयता, मौलिकता, विशिष्टता और सीमा, सब-कुछ एक साथ ही है। अस्तित्व की इस बुनियादी कशमकश मे जिनकी कोई दिलचस्पी नही, या जो इनके अलग-अलग स्तरो, सतहो और वर्ण-छटाओ के प्रति सवेदनशील नही, उन्हे मुक्तिबोध का लेखन एकरस लग सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध मे विषय की विविधता की बडी कमी है और वह एक ही अनुभव को दोहराते हुए जान पडते है। मगर मुक्तिबोध के लिए वह अनुभव किसी एक कविता मे समा सकनेवाला छोटा-मोटा आवेग या विचार नही, बल्कि पूरी ज़िन्दगी का फलक है, जिससे बाहर कुछ नही है। मेरा अनुमान है कि यही उनके रचना-जगत् की मौलिकता और अपने अलग निजी स्वर तथा उससे पैदा होनेवाले अलग काव्य-रूप का स्रोत है। ज़ाहिर है इसकी और विस्तार से तथा अधिक ठोस ब्यौरो के साथ विश्लेषण की जरूरत है जो यहाँ सम्भव नही है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अपने सरोकारो की इस अद्वितीयता और विराटता के कारण ही मुक्तिबोध हिन्दी मे इस दौर के सबसे अप्रतिम कवि है।

रचनावली के सम्पादन का यह इतना बडा और इतनी समस्याओ से भरपूर काम कई स्तरो पर अनेक लोगो के सहयोग के बिना पूरा करना किसी के लिए भी सम्भव नही। मुझे तो इस काम मे कई लोगो से बहुत सहायता मिली जिसके लिए मैं सबका बहुत ही आभारी हूँ।

इस सिलसिले मे सबसे पहले जिस नाम का उल्लेख मै करना चाहता हूँ वह है कवि के पुत्र श्री रमेश मुक्तिबोध का। इस बात मे तनिक भी अतिशयोक्ति नही कि यदि पिछले पन्द्रह-बीस वर्षों मे रमेश ने बडी मेहनत, लगन और समझदारी के साथ अपने पिता की पाण्डुलिपियो को व्यवस्थित और सुरक्षित न किया होता, तो उनकी मृत्यु के बाद एक-दो ग्रन्थो को छोडकर और कुछ भी प्रकाशित होना असम्भव नही तो बहुत ही मुश्किल ज़रूर हो जाता। मुक्तिबोध अपनी पाण्डुलिपियो के बारे मे बडे लापरवाह थे। उन्होने तरह-तरह के कागज़ो पर, टुकडो पर, कापियो पर, एक तरफ सायक्लोस्टाइल बुलेटिनो की पीठ पर अपनी रचनाएँ लिखी है। रमेश ने इधर-उधर बिखरे, और अक्सर गड्डियो अथवा गट्ठरो के रूप मे मिले, अनेक अलग-अलग कागज़ो मे से एक-एक रचना के पन्नो को छाँटा और उन्हे हर रचना की अलग-अलग फाइल मे एक साथ रखा, एक ही रचना से सम्बन्धित जितने भी प्रारूप अथवा स्वतन्त्र पृष्ठ मिले वे सब भी उसी फाइल मे रखे गये और जहाँ भी सम्भव हुआ उनको जोडकर विभिन्न प्रारूपो की शक्ल दी गयी। उन्होने ऐसे हर प्रारूप के ऊपर अलग-अलग सख्या भी डाली, और जहाँ कोई समग्र प्रारूप नही बन सका वहाँ अलग-अलग पृष्ठो को एक साथ रखा। अनेक रचनाएँ उनके इस प्रयास के कारण ही समग्र रूप मे एकत्रित हो सकी।

चाँद का मुँह टेढ़ा है और **एक साहित्यिक की डायरी** को छोडकर, जिनको सम्भवत· स्वय मुक्तिबोध द्वारा दी गयी पाण्डुलिपियो, कतरनो या काग़ज़ो के

आधार पर, अथवा इधर-उधर छपी हुई रचनाओं को एकत्रित करके, श्री श्रीकान्त वर्मा तथा अन्य मित्रो ने प्रकाशित करवाया, बाकी सभी रचनाएँ रमेश ने परिश्रमपूर्वक व्यवस्थित की गयी मूल पाण्डुलिपियो से अपने हाथ से नकल करके प्रकाशनार्थ भेजी। यह देखकर बडा सुखद आश्चर्य हुआ कि रमेश ने बडे लेखो, कहानियो, कविताओ तक को अपने हाथ से नकल करके रखा जिसके कारण ही मुक्तिबोध के कहानी सग्रहो, **नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र** तथा **भूरी-भरी खाक-धूल** का प्रकाशन सम्भव हो सका।

यही नही, इस **रचनावली** के सम्पादन मे भी रमेश से बहुत ही मूल्यवान सहायता मिली। बल्कि शायद यह कहना भी गलत नही होगा कि उनकी पूरी मदद के बिना यह काम ठीक से न हो पाता। विशेषकर कविताओ के अनेक प्रारूपो मे से सही प्रारूप को अलगाने, काल-क्रम निश्चित करने आदि मे तो उनका बहुत बडा योगदान है। लगातार इन कविताओ को पढते रहने, नकल करने और व्यवस्थित करने के कारण उन्हे बहुत-सी कविताएँ अथवा उनकी अनेक पक्तियाँ याद थी। इससे अक्सर यह जानने मे बहुत आसानी हुई कि किसी कविता की कुछ पक्तियाँ अथवा अश किसी अन्य कविता मे गडमड तो नही हो गये है। पाण्डुलिपियाँ जिस हालत मे रही है उसको और मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया की एक विशेष शैली को देखते हुए ऐसा होना सहज ही सम्भव था। रमेश की सहायता से ऐसे अनेक अशो को पहचानकर समुचित निर्णय लिया जा सका। उनकी ही सहायता से 'एक प्रदीर्घ कविता' का सही रूप निर्धारित हो पाया। वास्तव मे, मुझे यह कहने मे कोई भी सकोच नही कि मुक्तिबोध के साहित्य को सुरक्षित रखने और विशेषकर इस **रचनावली** के प्रकाशन को सम्भव और सहज बनाने के लिए हिन्दी साहित्य-जगत् को रमेश मुक्तिबोध का कृतज्ञ होना चाहिए।

सम्पादन के कार्य मे कई मित्रो से सहायता मिली। इनमे विशेष रूप से मै श्री विजय शकर चौधरी का उल्लेख करना चाहता हूँ जिन्होने पिछले चार-पाँच महीनो मे लगातार प्राय हर रोज़ घण्टो मेरे साथ बैठकर मूल से हर रचना को मिलाने मे सहायता की। पाठ तथा काल-निर्धारण सम्बन्धी अनेक मामलो मे भी उनकी प्रतिक्रिया बहुत उपयोगी सिद्ध होती रही। श्री सुरेश शर्मा ने पिछले बीस-पच्चीस वर्ष की अनेक बडी तथा लघु पत्रिकाओ मे से मुक्तिबोध की प्रकाशित रचनाएँ ढूँढ निकाली, जिससे उस रचना का पाठ तथा काल-क्रम निर्धारित करने मे बहुत मदद मिली।

प्रकाशन-तिथियो का अता-पता देने मे जबलपुर के श्री रामेश्वर गुरु, श्री हरिशकर परसाई, नैशनल लायब्रेरी, कलकत्ता के श्री दिनेश आचार्य, रायगढ के श्री प्रमोद वर्मा से भी बहुत सहायता मिली। श्री विष्णु खरे ने पाँचवे खण्ड की विज्ञापिका (ब्लर्ब) मेरे अनुरोध पर बहुत कम समय मे बडी तत्परता से लिखकर दे दी। अन्य खण्डो की विज्ञापिकाओ के लिए श्री शमशेरबहादुर सिंह, श्री नामवर सिंह, श्री केदारनाथ सिंह तथा श्री श्रीकान्त वर्मा के लेखो से सामग्री ली गयी है।

इन सभी मित्रो का मै हृदय से आभारी हूँ।

अन्त मे, राजकमल प्रकाशन की प्रबन्ध निदेशक श्रीमती शीला सन्धू के प्रति अपना विशेष आभार प्रकट करना चाहता हूँ जिनकी पहल, कुशल सयोजन और विशेष प्रयास के फलस्वरूप ही यह योजना कार्यान्वित हो सकी। खासकर राजकमल के प्रकाशन निदेशक श्री मोहन गुप्त की लगन, उत्साह और अन्तिम दिनो मे तो उनके दिन-रात अनथक परिश्रम के बिना इतने कम समय मे **रचनावली** का ऐसा सुरुचिपूर्ण और भव्य प्रकाशन सम्भव ही न हो पाता।

नेमिचन्द्र जैन

नयी दिल्ली
11 नवम्बर, 1980

क्रम

1949-1956

दोनों खण्डो में प्रकाशित कविताओं की सूची
शीर्षक-क्रम

ओ

क

ख

ग

घ

च

छ

ज

श

स

ह

क्ष

दोनो खण्डो मे प्रकाशित कविताओ की सूची
प्रथम पक्ति-क्रम

अ

आ

इ

उ

ऊ

ए

ओ

औ

क

ख

द

ध

न

प

ब

भ

म

य

हृदय की प्यास

कौन मदिरा माँगता हूँ ? यह हृदय की प्यास आली,
और यौवन के खिले अरमान है, मधुमास आली।
या तो ज्वाला ही लगा दो, और तिनके जल उठे ये,
किन्तु प्यासे इन दृगो को है बडा विश्वास आली।

आम्र मे मृदु मजरी भी मजुता से खेलती-सी,
और कोकिल भी चली है प्यार कोमल झेलती-सी,
ये सुमन जल-से उठे सौन्दर्य के उन्माद मे है,
मै जलूँ फिर ज्वाल से किस ?—आ सकूँ तव पास आली।

सुमन का सौन्दर्य-वन, मृदु भ्रमर का उन्माद है यह
और मधु की माधुरी मे प्यास का आह्लाद है यह,
दीप के सौन्दर्य मे कितनी भरी यह ज्वाल है री!
हो गया महँगा किसे सौन्दर्य का यो ह्रास आली ?

उन्माद के रँग मे रँगा क्यो प्रेम का यह लास, बोलो!
पीतता मे भीनता क्यो हरितता का ह्रास बोलो ?
अर्थ यौवन का लगाया प्राण ने औ' प्यार ने क्या ?
कब बुझेगी री, हृदय की ज्वाल-सी यह प्यास आली ?

[रचनाकाल 4 सितम्बर 1935। उज्जैन। **माधव कालेज मैगज़ीन**, दिसम्बर 1935, मे प्रकाशित]

जाग्रत असफलता

मैने कब शृंगार किया ? कब दर्पण मे अपना मुख देखा ?
जीवन की जाग्रत असफलता मे ही तो अपना सुख देखा।
फिर क्यो कह दूँ जीवन मे सखि, यह वसन्त अपना-सा ही है ,
औ' क्यो कह दूँ ज्ञात नही जब, यह सुख तो सपना-सा ही है।
क्यो न कहूँ मै फिसल गया हूँ ककड पर ही चलनेवाला ,
अरे लाज क्या, बना तभी हूँ मरु-भू-सा ही जलनेवाला।
कितने ज्वालामुखी धधकते कण-कण मे परिवर्तित होने !
अणु-अणु वाले क्यो बनते है अणु-अणु मे परिवर्तित होने !
यह परिवर्तन मेरे जीवन का भी आली, विषय नही क्या !
मेरी पतझर पीली-पीली, यह रोने का समय नही क्या ?
क्यो हँस दूँ जब मेरी नौका जल मे ही तो बहती रहती ,
और किनारा ! जहाँ कि करुणा नीरवता ही सहती रहती।
मेरा जीवन सीमित ही है इस पतझर के दीर्घ प्रहर मे ,
मेरा क्रन्दन देव सुनेगा रुला - रुलाकर इसी कहर मे।
अथ है, इति है, जो सीमित है, उसमे ही तो बँध जाने दो ,
इस जीवन के हँसते दुख मे शब्दो को भी रुँध जाने दो।
फिर मेरा भी देव हँसेगा जब दो पलके गीली होगी ,
औ' मेरे जीवन की चोली फिर हल्दी से पीली होगी ,
फिर पतझर सखि, कहाँ रहेगा, औ' वसन्त भी कहाँ रहेगा ?
मै उसके चरणो पर हूँगा, औ' 'अनन्त' भी वहाँ रहेगा।

[रचनाकाल 19 नवम्बर 1935। उज्जैन। **कर्मवीर**, 14 दिसम्बर 1935, मे प्रकाशित]

अनुरोध

इस सीमा पर मैं हूँ, औ' तुम उस सीमा पर, स्पर्श करूँ क्यो ?
नन्दन-जग के मूक पुलक मे अपना दुख-उत्कर्ष भरूँ क्यो ?
चिर पतझर यह जीवन-जग मे अपनी साध लिये आयी है
स्मृति-विस्मृति की तान मुखर है—बन्धनमय, आदर्श हरूँ क्यो ?

मूक तिमिर मे सो जाती है जब कोकिल की करुणा-वाणी
शून्य क्षितिज मे पीली पडती खिलकर जीवन की नादानी

दीपक बुझता धूम्र छोडकर जब सकाल की बेला मे है
अरे ज्वार-सा जग उठता मैं झर पडता आँखो का पानी

मुझे क्षमा हो ! मै क्या जानूँ देव, तुम्हारे उस मन्दिर को
मैं क्यो आऊँ जहाँ मिले है ये शत-शत वर प्रति-प्रति स्वर को
तारो - सा मै तरल पडा हूँ इन फूलो के कण्टक-वन मे
स्थिरता का वरदान न दो प्रिय, मेरे अस्थिर मानस सर को।

[रचनाकाल 6 दिसम्बर 1935। उज्जैन। **वाणी**, फरवरी 1936, मे प्रकाशित]

तू और मैं

मैं बना उन्माद री सखि, तू तरल अवसाद
प्रेम - पारावार पीडा, तू सुनहली याद
तैल तू तो दीप मै हूँ, सजग मेरे प्राण !
रजनि मे जीवन-चिता औ' प्रात मे निर्वाण
शुष्क तिनका तू बनी तो पास ही मैं धूल
आम्र मे यदि कोकिला तो पास ही मै हूल
फूल-सा यदि मै बनूँ तो शूल-सी तू पास
विधुर जीवन के शयन को तू मधुर आवास
सजल मेरे प्राण है री, सजग मेरे प्राण
तू बनी हे प्राण ! मै तो आलि चिर-म्रियमाण।

[रचनाकाल 7 जनवरी 1936। उज्जैन। **कर्मवीर**, 25 जनवरी 1936, मे प्रकाशित]

अनुभूति

आज असफल राग निकला, मैं बना अनुभूति,
आज जीवन शुद्ध आली ?
शब्द भी अवरुद्ध आली,
पर हँसी दृग-कोटरो से मूक अश्रु - प्रसूति।

मैं खडा था कामना - सा
'देवि, प्याला आज प्यासा'
जीर्ण झोली मे जमी तव प्रसाद-अमर विभूति।
बोल कोकिल, रात है री।
घोल पीडा—प्रात है री।
आज प्राणो के प्रलय मे जाग री सुख - सुप्ति !
और प्राणो के विलय मे हो नयी उद्भूति !
आज असफल राग बहता, मैं बना अनुभूति।

[रचनाकाल 12 जनवरी 1936। उज्जैन। अप्रकाशित]

कल्पने री !

आलोक - हासिनि, कल्पने,
री सजनि, उन्मन तू न बन,
चिर-तरुणि, तू गीले न कर
वरदान-से नीले नयन।
दुख और सुख की सगिनी !
मेरी सखी, मम प्रेम ले,
ढीली न हो, तू दृढ बनी
री शृखले, मम कोमले।
तू चन्द्र-सी आ सामने,
दृग तारको मे झूम ले,
उमडते इस वेदना का—
वारिधी मृदु चूम ले।
आश्रित बना है आज जीवन !
सूत्रधारिणि पट बदल
दुखान्त नाटक फिर जगे,
पर आज तो यह पट बदल !
खोज लूँ जीवन-सुरभि मे—
री तुझी मे कोमलागिनि,
आज पलके बन्द कर लूँ
बद्ध हो, उर-बीन-वादिनि !
साकारिते, साकार बन,
री चित्रकारिणि, चित्र बन,
आज फूलो मे हँसी हो
कामना मम मुग्ध - मन।

आलोक प्रतिमे, बस दृगो मे
ओढ लूँ मै नीद क्या ?
रात जगती आज बाहर,
जाग्रतो मे नीद क्या ?
हलचल बने, नर्तन-कुशल
ये आज शकर जग गये !
री ! भावना-जल खौलता
दृग-द्वार फिर भी लग गये !
ज्वालामुखी का हास कटु,
भूकम्प भीषण है प्रकट,
तिमिरमय ससार है,
चल देख लूँ मै चित्रपट।

[रचनाकाल 17 जनवरी 1936 । उज्जैन । अप्रकाशित]

मरण का संसार

मरण का ससार सजनी,
तिनका बना मैं हरित-तृण से, अब बनूं मै ज्वाल !
दीन मिट्टी चूम ले री ! आज चुम्बित गाल।
मै बना नौका, सखी बन प्यार कर तूफान !!
और सचित आह ढोकर डूब लूं ले ताल !!!
हृदय का व्यापार, सजनी,
ताल देकर काल लाया,
मरण का ससार, सजनी,
अमरता का जाल लाया।
वही बुझाये ज्वाल बन जिसने जगाया दीप।
कब आयगा वह ? है रखा इस ओटले को लीप,
हिय-श्वास से उसके बुझूँ यह है हृदय की आस।
प्यार बन मोती बनो, खाली रहे क्या सीप ?
हृदय का उद्गार सजनी,
हृदय का ही भार लाया
मरण का ससार, सजनी,
प्यार ! तेरा प्यार लाया।
नि श्वास की वीणा बना मैं, श्वास की तुम तार !
अनुभूति का मैं राग, औ' तुम प्राण पर हो मार !

आज जीवन - अर्थ समझे व्यर्थ ये अरमान !
इस पार की तुम देवता हो, मै बहूँ उस पार।
आज जीवन-भार, सजनी,
प्यार का सन्देश लाया।
मरण का ससार, सजनी,
स्वर्ग का ही वेश लाया।

[रचनाकाल 19 जनवरी 1936। उज्जैन। वाणी, मे प्रकाशित]

पीले पत्तो के जग मे

मै तो पतझर की सीढी पर, ऊषा की लाली झली है।
इन फूलो की आँखो मे तो जीवन की पीडा खेली है।
गिरे शीर्ण ये, अधर कँपे थे, बोले थे कुछ मृदु मन पाये,
पीले पत्तो के इस जग मे जब झझा-से तुम बन आये।

जीवन मे यह ज्योति जगी थी जिसमे जलता है अपनापन।
घुमड घिरे थे घन ये हिय मे, आँखो मे छाया था सावन।
सावन सोया, भानु-चण्ड था, हम जलते थे जीवन पाये,
पीले पत्तो के इस जग मे जब झझा-से तुम बन आये।

पात-पात पर काँप रही थी क्षण-क्षण के तडपन की वाणी,
धूल-धूल मे लोट रही थी यह स्वार्थिन ममता दीवानी,
कण-कण मे मै बिलख रहा था, तुम तूफानी यौवन पाये,
पीले पत्तो के इस जग मे जब झझा-से तुम बन आये।

स्वप्नो के ये तार छुए थे नि श्वासो की वही कहानी,
आँखे तुझको खोज रही थी आँसू के आलय मे दानी।
समझ सका था नही कि मेरे क्रन्दन मे निज स्पन्दन लाये,
पीले पत्तो के इस जग मे जब झझा-से तुम बन आये।

मेरे जीवन की फिलॉसफी मे उस सुख को स्थान नही था।
विष मे थी पहिचान पुरानी मधु मे तू अनजान नही था।
पतझर की कोकिल नीरव थी अन्धकार मे बन्धन पाये,
पीले पत्तो के इस जग मे जब झझा-से तुम बन आये।

जब तुझको समझा न सकी थी मेरे अन्तस की ये आहे,
आँखो ने तब प्यार सम्हाला दे दुख को कितनी ही राहे।
करुणा की जीवन-झोली मे मैने किस सुख के कण पाये ?
पीले पत्तो के इस जग मे जब झझा-से तुम बन आये।

पतझर की पीली पत्ती पर हँस बसन्त मृदु रोया था यह !
और दिवस ने रजनी खोयी, निशि ने दिवस भिगोया था यह !
जीवन की ये दुख की बाते नही कल्पना-आँगन पाये,
पीले पत्तो के जग मे तुम जो भी झझा-से बन आये।

अरे ! कल्पना के अचल मे जब मै ढँक लेता हूँ आँखे,
नाना द्वीप लिये फिरती है मचलानेवाली मन-पाँखे,
क्योकि प्रेयसी बनी सगिनी, ममता मादकता-धन पाये !
पीले पत्तो के जग मे तुम जो भी झझा-से बन आये।

और प्रेयसी का स्मित समझो, इष्टदेव-सा बना निरन्तर !
और प्यार का स्वर्ग समझ लो उन आँखो का नीला प्रान्तर,
जन्म-मरण से छूट चुके, यदि निज जीवन का जीवन पाये
पीले पत्तो के जग मे तुम जो भी झझा-से बन आये।

यौवन का अमरत्व लिये है आज कल्पना कोमल सुन्दर,
तरुण-हृदय की विकल वीथि मे क्यो न बहे यह धारा सुखकर ?
यह वसन्त का हास मिला, मैं पतझर का पीलापन पाये।
पीले पत्तो के जग मे वे जो भी झझा-से बन आये।

और अश्रु-से ओस-कणो ने उन तारो से जोडा नाता !
इसी साम्य के दिग्दर्शन मे मम जीवन-प्याला भर जाता।
तपस्विनी यह बढती जाती तारो का आकर्षण पाये !
पीले पत्तो के जग मे वे दारुण झझा-से बन आये।

आज भावना का मेला है मेरे यौवन की खेला मे,
अथ-वसन्त को बुला रहा क्यो इस इति-पतझर की बेला मे ?
आज फूल के द्वार भिखारी बनकर आँसू के कण आये !
पीले पत्तो के जग मे तो प्रियतम झझा-से बन आये।

[रचनाकाल 3 फरवरी 1936। उज्जैन। अप्रकाशित]

विमल धारा

हम तर चले, री ! बह रही है दु ख की यह विमल धारा
फूल के इस हास मे है अश्रु का भी हास प्यारा।
इस देश के है हम नही, यह जगत-नन्दन छोड दे क्या ?
बह चले इस धार मे ही, पुलिन-बन्धन तोड दे क्या ?

री, सुमन का प्यार कण्टक बन हमारे पास आया !
औ' तरुण श्रृगार री ! अगार का ही हास लाया !!
जीवन-उषा के गाल पर अरमान की लाली घनी थी ,
पर आह ! री, क्रन्दन बनी उस प्यार की सीमा तनी थी।

नि श्वास के चल तार पर री, हृदय-कवि ने गीत गाया।
चीत्कार को मृदु गीत मे ही बन्द कर कण-कण जगाया।
जागते ही उस दिवस ने निज दृगो मे अश्रु पाये !
स्वप्न-गत-इतिहास के कुछ मर्मस्थल वे याद आये !!

ठोकर लगी जब आह ! निष्ठुर यह रुधिर भी बन्द-सा था ,
मूक था वह घाव—बोला, विकल टूटे छन्द-सा था ,
दुख झरोखे झाँकते उस पार जो बस्ती बनी थी ,
वेदना ही बस हमारी एक वह हस्ती बनी थी।

मैं बना उन्माद आली, जब तुम्हारे पास आया
और सचित, नित्य सचित आह-सी ही आस लाया
सकेत था मेरे लिए सुमन्हास पर के अश्रु होना
मैं चल पडा अवसाद बनकर स्मृति-पटल का ले बिछौना।

इस किनारे आ गया, अब वह किनारा दूर है क्या ?
अब न नौका की ज़रूरत, धार भी वह क्रूर है क्या !
दु ख की धडकन बना मै पा गया हूँ आज प्यारा
हम तर चले, री, बह रही है दु ख की यह विमल धारा।

[रचनाकाल 13 फरवरी 1936। उज्जैन। अप्रकाशित]

कोकिल

प्रिय-नाम कोकिल, बोल री !
आज स्मृति के बन्धनो मे तू हृदय निज खोल री।
आज शूलों मे बिंधा यह सुमन व्याकुल हासवाला
प्यास आँखो मे भरी, तू यहाँ न पानी ढोल री।
वे जान पाये ना अधर के स्मयन मे है प्राण-कम्पन
आज उनका प्यार निष्ठुर अश्रु से मत तोल री।
आम्र की मृदु प्राण, री, तू गीत गा उनके विजय मे
निज पराजय-हर्ष मे तू वेदना-मधु घोल री।
प्रिय-नाम कोकिल, बोल री !

[रचनाकाल 16 फरवरी 1936। उज्जैन। **कर्मवीर**, 14 मार्च 1936, मे प्रकाशित]

वेदना और कल्पना

वेदना का कवि बनूँ मैं, कल्पना का मृदु चितेरा।
प्राण मेरे अश्रु बनकर प्रिय उषा को देखते है,
किन पदो की लालिमा ले आज शोभन दुख-सबेरा ?
प्राण, वे कब जानते थे अश्रु मे प्रतिबिम्ब उनका ?
नि श्वास बनकर श्वास मे मैने उन्ही को आज हेरा।
उस देहरी पर प्राण, क्यो किस माध की माला चढायी ?
आज जी को तू सुला ले, खुल न पाये भेद तेरा !
आज स्मृति के कण्टको पर रे, खिला नव-कल्पना-सुम
ओस मे रो फूल मे हँस आ वहाँ दे एक फेरा
वेदना मे झूम ले तू कल्पना का बन चितेरा।

[रचनाकाल 25 फरवरी 1936। उज्जैन। **वाणी**, मे प्रकाशित]

मरण-रमणी

(मैंने मरण को एक विलासिनी सुन्दरी माना हे। और वह एक ऐमी सुन्दरी है जो कठोर नही है किन्तु हमारे अरमान पूर्ण करना ही मानो उससे ध्येय बना रखा है। पर एक शर्त पर, जो उससे विलास करने को राजी हो। मैंने उसे 'प्रेयसी' 'ममता-परी' 'सखी' 'आली' इत्यादि शब्दो से सम्बोधित किया है क्योकि वह वैसी है भी। मरण-सुन्दरी हमे आकर्षण द्वारा खीचकर ले जायेगी, न कि यमदूतो के समान। वह हमे अपने अचल से बॉधकर ले जायेगी। कहाँ ले जायेगी ? जहाँ हमारे अरमान पूरे होगे। ऐसा मेरा विश्वास है।)

मरण बन सखि, मम कणो से प्यार का आश्लेष कर री !
मधु-अधर के स्पर्श मे उस पार का सन्देश भर री,
री, आज आलिगन मधुर मे मिलन की उल्लास-ज्वाला !
तू मुझे सखि, खीचती चल, अप्सरा का वेश कर री !

री, अधर उन्माद यह उस पार का सवाद लाये,
प्रेम-विकला वासना यह स्वर्ग का आह्लाद लाये,
कुसुम-कोमल कर धरे तव नाचता नेपथ्य जाऊँ !
दिन हटे, औ' निशि जगे, द्रुत शून्य हो प्रासाद जाये।

दीप बुझकर धूम्र छोडे, तारिकाएँ हट चले सब !
आज शीतल ऊष्ण होगे, ऊष्ण शीतल बन चले सब !!
अवसाद यह उन्माद होकर गाढ तुझको चूम लेगा !!!
मरण के उन्माद मे सखि, आज कण-कण जल चले सब।

प्यार-शैया पर पडा मैं आज तेरी कर प्रतीक्षा,
ध्वान्त है, घर शून्य है, उर शून्य तेरी ही समीक्षा !
मै प्यार कर लूँ आज अन्तिम, आज जग से जी लगा लूँ !
क्यो न उर से मै लगा लूँ आज उनकी मृत्यु-दीक्षा।

बादलो से झाँक वातायन खुले पर पैर रखकर
औ' दबे पैरो मुझे तू स्पर्श कर जब शून्य हो घर
मैं देख लूँ वे गाल तेरे मधुर लाली ज्वालवाले
देख लूँ वे कुसुम-कोमल स्वर्ण-से तव काँपते कर।

मैं देख लूँ मधु-अधर तेरे वासना का ज्वार लाये !
मैं देख लूँ वे केश कुचित मुक्त बन्धन-प्यार लाये !!
देख लूँ मृदु लाल पद तव जो अपरिचित-से नही हैं,
मैं देख लूँ तन्वगि, तेरे अणु-अणु क्या भार लाये ?

मैं देख लूँ अचल मृदुल जो बाँध मुझको ले चलेगा !
यह गाँठ ऐसी गाढ होगी फिर न मुझको जग मिलेगा !!
मैं छोड दूँगा हर्ष से सखि, क्योकि तेरी दृढ-प्रतिज्ञा,
फिर न मेरा मन कभी सखि, इस जगत्-शिशु से हिलेगा !

और ममता तोड दूँ सब, आज तुझसे प्रेम कर लूँ !
आज सबको भूल जाऊँ और तुझको याद कर लूँ !!
क्योकि तूने गाँठ बाँधी आज सन्ध्या के प्रहर मे,
और तेरी मोहिनी से आज उनको प्राप्त कर लूँ !!!

बोल भोली, कर्ण मे क्या कह गये है अधर तेरे ?
पूर्ण क्या तू ही करेगी आज ये अरमान मेरे ?
आज तेरा स्पर्श आली, क्या उन्ही का स्पर्श होगा ?
वासनामयि, आ अरी, इस प्राण को अरमान घेरे।

आज अधराधर निकट हो, चूस ले जीवन हमारा।
आज तू मधु पी, पियूँगा आलि, मै मधु मधुर प्यारा।
लाल तेरे ये अधर ! मेरी तृषा क्या तृप्त होगी ?
और मै पीता चलूँ जीता चलूँ पी मैं न हारा।

तरुणि, मेरा मुख ढँके स्नेहाल तेरे बाल काले
मृदुल कर का स्पर्श कम्पित आज मेरी प्यास पा ले
मैं उठूँ सखि तरुणता-सा, तू बिठा सखि, वासनामयि,
ऊष्ण कर चिर-शीत कर दे मधुर तेरे गाल बाले।

नवनीत-से वे अग मुझको आज ज्वाला मे जलाये
गाढ़ परिरम्भण अरी ! वह प्रेम जीवन-तत्त्व पाये—
प्रेमिनी, अब कर प्रतिज्ञा पूर्ण तेरी, काल है यह
चल, बता मुझको अरी, वे कौन दिशि मे स्थान पाये ?
वे कौन दिशि मे स्थान पाये चल बता मुझको अरी !
तू वहाँ तक ले न जायेगी मुझे ममता-परी ?

[रचनाकाल 27 फरवरी 1936। उज्जैन। अप्रकाशित]

मिलनलोक

किस वितान के नीचे आली, आज सम्हालूँ मेरा जीवन ?
किस आशा को छू क्षण-भर सखि, पुलकित कर लूँ मेरा यौवन ?
किस सागर की लहर-लहर से मै हिय की धडकन बन खेलूँ ?
मै मेरा ही भार आज री, कह सखि, किसके बल पर झेलूँ ?

अरी ! आज दिन की गोदी मे कौन पल रही सन्ध्या बाला ?
किसके चिर-सुहाग से रजित है भविष्य यह काला-काला ?
किन्तु क्षितिज के मलिन धनो से कौन आ रही मुक्त-बन्धना ?
कौन अप्सरा सुरभि लिये ह चली आ रही द्रुत-स्पन्दना ?

अपने अरुण करो से तेरा मधुमय स्पर्श जगाने आयी !
अपने काले अवगुण्ठन मे तुझसे मुझे लगाने आयी !
तू सपना-सी, सत्य बनी वह, श्वास आज नि श्वास लिये है,
दृग-कण-कण तुझको भर लेगे, मेरा मन बिश्वास लिये है !

सुला स्वर्ण-जघा पर निज निशि अचल गाढ उढाने आयी !
अपनी कम्पित मृदु थपकी से मेरा हृदय दबाने आयी !!
हृदय दुख रहा मेरा आली, मेरा राग उसे गाने दे,
सखि, उसकी प्यारी गोदी मे इन प्राणो को सो जाने दे !!!

तारक विकसन मे हँसकर वह द्रुत-गति मुझे उठा ले जाये,
कितने ज्योतिर्वलय पार कर तुझको मुझे दिखाने पाये।
चल समीर के इन्द्रजाल से इन्द्रधनुष के ऊपर हो ले
इस जग से अति दूर, दूर री, अपने सब रहस्य को खोले।
पखविहीना उस प्रमदा से लिपटा जब मैं उडता जाऊँ,
काँटे छोड, फूल के पथ पर अपने को भूला-सा पाऊँ।
उन विचित्रता के चित्रो मे जब तुझको चित्रित पाऊँ सखि,
इस जग की ममता का बन्धन मृदुल वहाँ भी ले जाऊँ सखि।

वह उस पथ पर आज चली है जिसका छोर पास तेरे है,
मुझे लिये जा रही वहाँ पर जिसका भेद पास मेरे है।
उसका स्नेह-हस्त आली, जब इन प्राणो पर फिर जाता है,
तब इन प्राणो का इन्दीवर तव स्मित-रेखा पा जाता है।

किसका रूप-रग लाया है यह आलोक प्रणय-रजनी-सा ?
किसकी सुरभि फैल छू लेती प्राणो को ? यौबन ऋतु प्यासा।

किसके केशपाश से तम को यह आकुल-सा मोह हुआ है ?
किसके चरण चूमने आली, प्राणो का विद्रोह हुआ है ?

क्यो न कहूँ मैं यह तो मेरे प्राणो के घर्षण की वेला ?
यहाँ विरह की केवल छाया, चन्द्र लिये है मिलन-उजेला।
अपना विरह समेटे आली, तुझे देखने मै आया हूँ,
मिलन-भवन को जानेवाला अपना मार्ग देख पाया हूँ।

हृदय-रक्त-मेहदी से आली, तव कोमल पद रँगने आया !
तुझे मनाने मैने मेरे मन को सखि, इस पार लगाया ! !
और अप्सरा कहाँ ? खो चुकी वह अपने को सुरभि-पवन मे,
ऐन्द्रजालिके, बसा हुआ है मिलन-लोक क्या इस उपवन मे ?

चल, फूलो पर हम जा बैठे, मै मृदु अलि, तू मधु-सुकुमारी,
और पवन से कह दे हमको वह न छेडने आये प्यारी,
सखि, युग धडकन आज एक हो, नयन नयन से मिल-मिल जायें,
मै दृग द्वारा तुझको पी लूँ, तू मम दृग मे घुल-घुल जाये।

तू सुनती चल, कहता जाऊँ मै अपनी वे बीती बातें,
आते जीवन-स्फूर्ति बनी तू, मरण-विभव थी जाते-जाते।

[सम्भावित रचनाकाल मार्च 1936 । उज्जैन । प्रकाशित]

स्वप्न का प्यार

सत्य के ससार मे तू स्वप्न बनकर प्यार लायी
ककडो का प्रिय बिछौना
बाँह का तकिया बनाना
ओढ तम-घन पलक मीलन
खो मुझे तुझको मनाना
सित कणो की रात्रि मे क्या चन्द्र का अभिसार लायी
झाँकती - सी बादलो से
खेलती - सी युग पलो से
मृदु चरण धर इस हृदय पर
बोलती - सी आकुलो से
सुप्ति के नि श्वास मे धडकन-बना व्यापार लायी

तान मै तू गान बनकर
अरमान मै तू मान बनकर
शब्द-कम्पन हृदय-स्पन्दन
प्यार का मधुपान बनकर
बाँह मे भर विरह-आतुर किन युगो का भार लायी
नयन मे ले अर्थ सारा
भार यह तुझ पर उतारा
मर्म पर सखि, लेप सत्वर
कर तुझी ने आज तारा
आज मेरी प्रेम-वाणी तव हृदय-उद्गार लायी
कमलिनी-स्मित-रेख मे घुल
अरुण रवि की रश्मि मे खिल
सरित-पीडित अग मे कृत
विहग-चचल गान मे झिल —
खो गयी उद्गार बनकर उन क्षणो की हार पायी
सत्य का ससार रूखा स्वप्न बनकर प्यार लायी।

[रचनाकाल 3 अप्रैल 1936। उज्जैन। अप्रकाशित]

समाधि

इस समाधि मे सोया है मेरे सुहाग का नव-वसन्त री
ईंट-ईंट मे भरा हुआ मेरे प्राणो का रस अनन्त री
इस कण-कण के दर्पण मे मेरे प्राणो का रूप भरा है
प्राण ! प्यार की इस शैया पर किन रागो का रस बिखरा है
अपना जीवन भर डाला इस कण-कण के टूटे प्याले मे
प्राणो से बढवाकर बत्ती दीप रखा है इस आले मे
इस प्रकाश मे कोई आये जिसके जी मे अन्धकार हो
इस कण-कण का इन प्राणो से एक ताल हो एक तार हो
इस समाधि के समन्तात की भूमि अश्रु से तू उर्बर कर
जितने फूल खिले बेला मे मेरे वे साकार बना कर
मेरा जीवन भाग्य अरी, इतने पथिको का प्रिय सुहाग हो
प्राणो के कोमल अचल मे युग से जलती हुई आग हो।

[रचनाकाल 13 अप्रैल 1936। **वाणी**, खरगौन मे प्रकाशित। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

मेरी प्रेयसी

साँझ बेला मे हँसी तुम, जबकि रोने जा रहा मै,
चरण-मणियाँ चुन रही हो जबकि खोने जा रहा मैं,
आलि, सोने जा रहा मै, नाचती तू ताल-गति से,
मिलन-कविता तू बनी, निस्पन्द होने जा रहा मै।

आज मेरे प्राण-कम्पन मे सखी री, झूम ले तू,
अग्नि-अधरो से मलिन ये गाल मेरे चूम ले तू,
आज पतझर-पात स्वर पर नाचती तू आ रही है,
मरण-वशी-छिद्र पर मृदु अँगुलियाँ बन घूम ले तू।

इन कणो के प्यार का सखि, आज अवगुण्ठन लिये क्यो?
सजनि, मेरे प्यार मे बन प्रेयसी तू मन दिये क्यो?
लाज कैसी आज आली, जबकि प्रिय का वेश लायी,
जबकि मधु ही बन गयी, तू, आलि, कोई विष पिये क्यो?

प्रात-कलिका मे दिखा है एक तव अचल नवीने,
दूसरा मृदु छोर चूमा डूबते लज्जित रवी ने,
कमल-पद-तव अलिकुलो मे, रवि-करो मे केश उलझे,
बाँधने तव मुक्त वेणी राग ने उडु-सुमन बीने।

सुरभि-सी तू सुमन-उर पर कौन जो प्रिय-सुधि बनी है?
उन कपोलो पर खिले उस राग से क्या तू सनी है!
पवन-चल-हिन्दोल पर सखि, बैठकर छू बादलो को
इन्द्रधनु के पार हो ले, प्राण चाहो के धनी है!

मधुर शिंजन, प्राण कम्पन आज युगपत् ताल ले-दें,
आज मधुऋतु और पतझर चूमने मृदु गाल ले-दें,
साधना के गीत की तुम पंक्ति अन्तिम बन गयी हो,
नाचते इन प्रिय-पदो मे आज पीडित भाल ले-दें!

[रचनाकाल 15 अप्रैल 1936। उज्जैन। **कर्मवीर**, 16 अक्टूबर 1937, मे 'तुम' शीर्षक से प्रकाशित]

कविते!

चन्द्र का तू मुकुट पहिने कुमुद पर रख चरण कोमल
गाल मे प्रिय के लजा औ' मम अधर पर काँप प्रतिपल

जग रही स्मृति-शूल-शैया पर तुहिनहत फूल-सी तू
हृदय को झकझोर, विकसनशील मेरी भूल-सी तू।

तरुणि, तेरे पास आया इन कणो का भार लेकर
बादलो के पार होने इन्द्रधनु का प्यार लेकर
मरण आकर्षण बना री सुमुखि! प्रिय के रूप-मधु-सा
आज जीवन स्खलित होता प्रिय मधुर मधुसार लेकर।

थकित दिन की शून्यता से क्षितिज पर लेटी हुई-सी
निज अरुण मृदु गात फैला अलस, मधु देती हुई-सी
मै फिसलता जा रहा औ' तू बढा निज पवन-अचल
बाँध लेती है मुझे क्यो पास निज लेती हुई-सी।

आज स्मृति की रुदन-गति से तूलिका की गति बनी है
अमर! प्रिय के रूप से ही आज तव रेखा धनी है
आज उनकी मधुरता से बन रही मधु ज्वाल-सी तू
प्रिय-अधर के रग से ही आज तव तूली सनी है।

आज सन्ध्या के सुनहले गात मे अरमान जागा
कालिमा के वक्ष मे क्या अमरता-वरदान जागा
प्रिय कमल-रत अलि-दृगो के पख जड-से हो चले है
तरुणि, तेरे रूप से इस हृदय मे अरमान जागा।

[रचनाकाल 8 मई 1936। उज्जैन। **कर्मवीर**, मे प्रकाशित]

तुम

मिलन-घन घूँघट लिये तुम कौन बाले, हो अकेली?
आज शैया पर मरण-सी कौन आयी तुम नवेली?
आज गिरती रात मे तुम कौन मृदु अभिसारिणी हो?
तिमिर मे मैं तरुणि, उर मे आज क्योकर ज्वाल ले ली?
धूम्र-घूँघट त्याग छिपते दीप किसके वक्ष पर हैं?
तारिका-दृग मीचते ये आज कोमल मेघ-कर हैं!
आज किस मधु श्वास से हैं कँप रहे भ्रू-अग कोमल?
मधु-अधर आघात से ही आज मूर्छित कौन उर है?

शून्य-सा यह कक्ष, मेरा वक्ष आली, है भरा-सा
गाढ हम मिलने चले है गगन-सी तू, मै धरा-सा।
ज्वाल-गात्री, भस्म होगे आज ये सब त्रास मेरे,
आज मुझमे सिन्धु बनता आलि, तेरा मधु ज़रा-सा।
क्षितिज-वारिद-तीर्थ जल से सजनि, आयी तुम नहाकर,
सुमन पर तुम रख चली तनु-गन्ध निज नभ से बहाकर,
धार ज्योत्स्ना-कचुकी तुम आ गयी हो पास मेरे,
कोमलागिनि, बुझ चलूँ मै आज तव मधु श्वास पाकर।
झर रहे ये सुमन चूमूँ आज उनको गान-स्वर पर
आज बिखरे शूल बीनूँ प्राण से मैं सजनि, मधुतर
कॉपती इन अँगुलियो से छू मृदुल सौन्दर्य-दीपक
तडपते उर से लगा लूँ ज्वाल-सी तुझको भयकर
आज मेरे मरण-सुख मे सफल है अभिसार तेरा
आज तेरे चुम्बनो मे जग रहा है प्यार मेरा
आज अन्तिम श्वास मेरी छू रहे तव मधु-अधर ये
मृदु करो के बन्धनो मे मुक्ति का है द्वार मेरा।

[रचनाकाल 7 जून 1936। उज्जैन। प्रकाशित]

सजन

उर सुमन पर रख चरण दृग तारिका पथ पर चली तुम।
उन क्षणो की रात मे आली, अकेली ही मिली तुम।
गिर रहे थे बकुल तेरे शिथिल वेणी बन्धनो से,
नूपुरो मे मरण-रव भर सजन, आकर्षण बनी तुम।।

नील पर्वत चूमते उस मेघ पर प्रासाद मेरे,
उस क्षितिज पर झूमते है आलि, ये आह्वान मेरे,
सूर्य भी तब तक बुझ चलेगा जब कि पहुँचूँगा वहाँ मै।
चन्द्र तारा-गण हटे जैसे हटे अवसाद मेरे।

री महल की राजकन्ये, शून्य उर मे स्थान तेरा।
गगन गगा मे अरी, इन स्वप्न फूलो को बिखेरा।
क्या न तुम लोगी उठा ? क्या सूँघकर तुम चूम लोगी।।
बादलो पर गा चलूँ तब मरण रजनी ही सबेरा।।।

[**कर्मवीर**, खण्डवा 17 अक्टूबर 1936 मे प्रकाशित। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

तुम कुहर-विपिन मे छिपी रहीं

तुम कुहर-विपिन मे छिपी रही
कोमल पातो पर पारिजात
इस स्निग्ध मध्य-रजनी मे
प्रिय स्मृति ले आया है सुरभि-वात
सोते है पछी स्वप्न लिये
विहगिनि सोयी सुख हास लिये
किन्तु बोल उठती कोकिल
किसके मिलने की प्यास लिये
तुम क्षितिज बनी, तारक बन बैठी
चन्द्र बनी आकाश बनी
मै तिमिर बना पदचाप बनी तुम
सूने गृह की वातास बनी
घन के हिम-सित शिखरो से
अरुण न हो उद्धत विलोक
मेरे उर मे काँपेगा फिर
स्मृति-कुसुमित यह तिमिर-लोक।

[रचनाकाल 5 अप्रैल 1937। इन्दौर। अप्रकाशित]

जीवन-यात्रा

(1)

मेरे जीवन का विराम!
नित चलता ही रहता हे मेरा मनोधाम
गति मे ही उसकी ससृति है
नित नव जीवन मे उन्नति है
नित नव अनुभव है अविश्राम
मन सदा तृषित, सन्तत सकाम
मेरे जीवन का विराम।

(2)

मानव जीवन चलता रहता है
आगे-आगे दिवा-याम

है पाँव फँसे जाते बेबस
जब कभी पक मे निराधार
तुम मत समझो यह हुआ व्यर्थ
इससे बल मिलता है अपार
इस मलिन भाव मे से निकला
है अनायास वह पुण्य राग
मानव-मन-कलिका का पराग
मन बनता रहता सुबह-शाम
मानव जीवन चलता रहता है
आगे-आगे दिवा-याम ।

(3)

अपने ऊपर चढकर बढता है
जीवन-विटप सहस्र-शाख
आश्रय देता है अपने मे
नित स्वप्न-खगो को लाख-लाख
उसकी छाया मे वे चचल
नित करते रहते है गुहार
सविकार स्वप्न होते जाते
पुलकित गीतो मे निर्विकार
जीवन-तरु बढता जाता है
क्षण-क्षण मे विकसित हो अपार
जीवन बन जाता दुर्निवार
जीवन-धारा को बहने मे
फिर मिल जाती है नयी आँख
अपने ऊपर चढकर बढता है
जीवन-विटप सहस्र-शाख ।

(4)

मानव जीवन मे चलनेवाली
अन्तर्धारा नही अन्ध
जो लाँघ चली है बौद्धिक सीमा
के ये कृत्रिम सभी बन्ध
धुलकर गल जाते सभी द्वन्द्व
सजल मेघ-उर पर आलेखित
इन्द्रधनुष का मधुर रूप
दुख के सागर पर तैर रही
चचल सुख-नौकाएँ अनूप
किस करुण राग से भर उठती
सूने स्वरवाली मधुर बीन

नव-नव छिद्रो से बह-बहकर
अन्तर्धारा होती नवीन
चलने मे हो चलती विलीन
जल अपने मे आलोकित करता
है कुछ कोमल दीप मन्द
मानव-जीवन मे चलनेवाली
अन्तर्धारा नही अन्ध।

(5)

कुछ महासागरो के आगे
था शान्त शून्य मे द्वीप एक
भारान्वित है सौरभ अनेक !
जिसके सूनेपन मे अकूल
फैले है खिलकर मृदुल फूल
जिसकी सूनी साँसो मे बहती
रहती मजुल गीत-धार
होकर अपने मे ही अपार
जिसके मृदु तारो पर कँपकर
कम्पन बन जाता स्वर-वितान
खुलकर खिलता उन्मुक्त भान।
कुछ महासागरो के आगे
उस मौन द्वीप मे मधुर शान्त
चलने को पागल हो नितान्त
कुछ निकले नौकाएँ लेकर
वे भोले थे नारी औ' नर
उत्ताल तरगो से अडकर
निर्बल से सबल हुए अन्तर
कुछ डूबे लहरो से लडकर
वे रुके नही पर जीवन-भर
जो भोले थे नारी औ' नर।
औ' महासागरो की वे लहरे
भी भूखी थी प्रलयकर
पर पहुँच गये सपने लेकर
सपनो के स्वामी नर अनेक
कुछ महासागरो के आगे
था शान्त शून्य मे द्वीप एक !

(6)

ओ चिन्तक, अपनी तत्त्व-प्रणाली
मे न बाँध जीवन अबाध
हो रहा इसी से अनाह्लाद
जीवन की गति को पहचाने
पहले, तब तू कर यह प्रयास
नि सम्बल ही है बुद्धि एक
व्यक्तित्व बहे रे अनायास
फिर समझेगा तू आत्मदान
की होती चलती विविध रीति
है आत्मत्याग मे आत्मप्रीति
यह बँध न सकेगा बौद्धिक
जालो मे जीवन गतिमय अबाध
निष्फल है तेरी सभी साध ।

(7)

हमे सदा है नव भविष्य
जब डूब चला जाता अतीत
हम उष काल के विहग-गीत
हम डाल-डाल पर गुजित हैं
आकाश हमारी मधुर आश
हम आये है स्वागत करने
नभ का निर्झर नूतन प्रकाश
ऐसा विकास-जीवनोल्लास
इस भरे हृदय का कुसुम-हास
हम है जीवन के विहग-गान
उन चलनेवालो के अतीत
मेरी गति मे भविष्य-आहट
मेरे इगित मे सृजन-गीत
हमे सदा है नव भविष्य
जब डूब चला जाता अतीत ।

[सम्भावित रचनाकाल 1937 । इन्दौर । **आरती**, जनवरी 1938, मे प्रकाशित]

तुम मुझको मत छोड़ो

तुम मुझको मत छोडो
तुम मुझसे मुँह मत मोडो

मै इस बिखरे जीवन की हूँ
मेल मिलानेवाली रानी
मै रेगिस्तानी राही को
मधुर पिलानेवाली पानी
तुम मुझ पर विश्वास रखो जी,
कही न भटको कही न भूलो
मेरे मादक मधुर स्पर्श मे
प्यारे, केवल गीले हो लो।

फिर तुम जहाँ चले जाओगे
मुझको सदा निकट पाओगे
नर्क-स्वर्ग मे जन्म-मरण मे
मुझको सदा प्रकट पाओगे।

मै तुम-सी ही भोली कोमल
मै हूँ चिर-अनुरागिनि रानी
मै हूँ निश्चल मन-प्राणो की
निर्मल आँसूभरी कहानी।

मैं तेरे रस का निर्झर हूँ
जो तू अब तक खोज न पाया
मै हूँ वह चिर प्यास कि जिसमे
नित्य तृप्ति का सिन्धु समाया।

मैं हूँ वह कोमल-सा सपना
जो तूने उस क्षण देखा था
नदी किनारे सान्ध्य शान्ति मे
अश्रुधार मे जो लेखा था।

रोकर मुझको भूल गया तू
पर मैं तेरी चिर अनुरागिनि
जीवन के काले मेघो पर—
इन्द्रधनुष-सी मैं स्मितशालिनि।
मैं दिल की उद्धत मस्तानी

जो चिर दुख के भग्न घाट पर
अपने सुख का घट भर लाती
लात मारकर क्षणिक ठाठ पर।
मै तेरे दिल का बल कोमल
तेरे सुख मे मै हँसती हूँ
तेरे भोले स्नेह भरे उर मे
मै सहसा जा फँसती हूँ।
तू जिसको नित प्यार कर रहा
हार रहा सचित अपनापन
वह प्रभात की मधुर अप्सरा
तेरे उर मे करती नर्तन।
मधुर हास बन उतर रही है
आँसू बनकर सम्हल रही है
वह मृदु नयनोवाली बाला
अन्तर्वन मे विचर रही हे।
तब कमजोर हृदय का शोणित
निज अचल से नित्य पोछती
तेरे सुख मे हँसनेवाली
तेरे सुख को नित्य सोचती।

[सम्भावित रचनाकाल 1937। इन्दौर। अप्रकाशित]

दुख-सुख

दुख मे ही सुख कर लो यारो,
दिल मे पत्थर भर लो यारो।

जलती रहे चिता सूने मे
हम उसको समझेंगे होली
जो हमको कमज़ोर बनाये
ऐसे सुख को मारो गोली
आँखो से चुपचाप सरकने
वाले आँसू पत्थर के है,

हम मजबूत, हमी ने इनसे
सुख की सोना-चाँदी तोली।

काली घटा क्षितिज की देहली
चूम चली छाया आती है
बजर पडी हुई धरती भी
हरियाली मे मुसकाती है
दुख के धूएँ से काला पड
गया बदन जिनका कुम्हलाया
उनकी सहज हास-रेखा भी
अति विद्रूप हुई जाती है।
कौध रहा है बिजली बनकर,
वह विद्रूप हास इस दिल मे
जैसे नाच रही हो साकी
एकाकी, सूनी महफिल मे,
जैसे जड निर्जीव कब्र की
अभेद्य निद्रा भग हुई हो
हिल उट्ठी हे बुनियादे
भूचालो की गहरी हलचल मे।

[सम्भावित रचनाकाल 1937। इन्दौर। अप्रकाशित]

जो क्षण तुमने

जो क्षण तुमने किया उपस्थित
वह है ऐसा रन्ध्र कि जिसमे
मेरा जीवन एक नया ही
रूप लिये दिखलाई देता।

सदा निहित वह रूप रहा है,
क्योकि विरोधी चेतनता ने
सदा बहिष्कृत उसे किया है।

किन्तु आज वह अपनी सारी
ओजोमयी शक्ति को लेकर

घनावरण को चीर, मार्ग ले,
चेतनता मे हुआ प्रतिष्ठित।

तेजपूर्ण वह रक्त बिम्ब-सा
अपने अरुण किरण फैलाता,
जीवन के सादे बर्फीले
समतल पर शोषित बन जाता।

एक अतीत छुपा है उसमे
उसका है इतिहास रक्त की—
बिखरी लम्बी धारा-सा, जो
धूलभरे पथ पर सो जाती।

छिपी धूल मे, पर है सचमुच।
नग्न-यथार्थ आयु के पथ की
घनी धूल मे छिप जाता है।

आज अचानक दबा हुआ वह
जन्म का पाप पुराना
मेरे तेरे सगम-जल पर
अलग तैरता तैल-बिन्दु-सा
दिखलाई देता वह सचमुच।

कठिन चुनौती देता है वह
निज मौलिक अस्तित्व अलग से
सगम-जल की सब सुन्दरता
क्षण भर मे बिगडी जाती है।

मानो युवती उत्सुक-वक्षा
ऋषि मनीषि के क्रुद्ध शाप से
निशाचरी वृद्धा बन जाती।

आलिंगन उत्सुक ये बाहे
उसी जगह शिथिलित हो जाती।

[सम्भावित रचनाकाल 1937। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

यह अन्धकार खग

यह अन्धकार खग, शून्य अचल
जिसमे खोया जग। मन केवल
है भटक रहा मेरा निर्बल,
भूले राही-सा रहा खोज
जिसके उर मे सागर उर्मिल
लहराता पा अपना न पार
अपने से ताडित दीर्घ ज्वार
अपने कारण से आन्दोलन
निज आन्दोलन से उर उन्मन
अन्धी आँखो से अन्धकार
काले नभ-सा यह अन्धकार।

[सम्भावित रचनाकाल 1937। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

मेरा मन आकुल था

मेरा मन आकुल था पाने जिसे खोजती आँखे प्यासी
मेरे सपनो के वन मे तुम प्रियदर्शिनी आयी छाया-सी
तुम अगम्य हो स्वर्ग-सुन्दरी मै तब भी तो जान न पाया
अपने पार्थिव अधरो से ही तुम्हे चूमना मुझको भाया।

तारो की मृदु उज्ज्वलता मे झाँका तेरा वक्ष-कुसुम क्या
उस अथाह रजनी के भीतर बाला-सी स्नेहाकुल तुम क्या
क्या मै सखि पहिचान न पाया ऊषा तेरा हृदय-राग है
मलिन साँझ-पथ के धुँधले-से छोर पडा जग का सुहाग है।

[सम्भावित रचनाकाल 1937। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

यह नीला आकाश

यह नीला आकाश प्रकाशित रवि की म्लान किरण से
रम्य हरे तरुओ के पीछे नील क्षितिज खोया है
दूर श्वेत मन्दिर सूने मे बूढी कबर निमज्जित
उष्ण-म्लान किरणो से पुलकित मग्न विजन खोया है।
मैं कितने ही दिनो बाद अपनी आश्चर्यित
शिशु की कोमल आँख लिये मृदु पुलकित उर मे
तव महान कोमल-सुन्दरता सागर
रखना चाहूँगा, बाल-सखी के कोमल मुख-सा।
मै भूल चुका मृदु बात कि तेरे
सहज स्पर्श से शोक-निराशा का कोलाहल
एक समय था ध्वनित हृदय मे।
आज मुझे हर्षाकुल कर दे जिससे
स्वागत मै कर सकूँ किसी
कल्पित बाला का जिसके
शिथिल केश मे सुप्त बकुल की
सुरभि क्षितिज से आ जाती है
वह मेरे कितनी पास हाय!
मै फिर दु खाकुल हो चला
किन्तु आज यह मेरा जीवन
किसी बाल की पुष्प-हँसी मे
उसके अर्ध-स्फुट नव वसन्त मे
सुरभित नीहार हुआ चाहता है
न जाने क्या खोये को पाने!

[सम्भावित रचनाकाल 1937। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

तुम प्रातः की

तुम प्रात की कमलिनियो पर तन फैलाये मुसकाती जब
अरुण उषा मे खोयी खगिनी के कोमल स्वर मे गाती जब
मैं भी उर मे तुम्हें समेटे आँखो से कविता करता हूँ
मृदुल किसी उर के अनुभव से सजनी, तुम्हीं लजा जाती तब।

मैं जिस पर कविता करता हूँ आज उसी को तू गाती चल
मेरी पुलकित मुसकाने है, सजनी, तू भी मुसकाती चल
तेरे उर के दूर क्षितिज पर मम प्राणो की सौरभ बिखरी
अरी बिन्दु के उर मे सागर के उर का उभार लाती चल।

दूर दिशा पर रागमयी सन्ध्या ने जग से मुँह मोडा है
जिसको जड कहते है तम, उससे अपना सुहाग जोडा है
उस बीतराग अनुरागमयी रमणी की है भावना मधुर री,
सखि री, उसी हृदय ने मुझको कविता दी तब जग छोडा है।

किन्तु तुम्हारी मृदुल गोद पर जी न सकेगा मेरा जीवन
वह तो तुम्हे देखना चाहता दूर क्षितिज पर लेटी साथ
और वही तो ये दो जीवन गहरे मे आलिगन कर ले
एक दूसरे का सूनापन एक शून्यता मे ही भर ले।

हाय ! तभी तो प्रिया तुम्ही ही, फैले अलक-जाल को अपने
ज़रा हटा दिखलाकर प्रिय मुख, जो है मेरे प्यारे सपने
मेरे प्राणो के चुम्बन को अपने प्राणो पर तुम लोगी
मेरा 'मैं' जब तुमको दूँगा, तुम अपना क्या मुझको दोगी ?

[सम्भावित रचनाकाल 1937। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

तुम देख चलो

तुम देख चलो अनुभव कर लो
दुख का उर मे उत्सव कर लो

चुपचाप चलो, सुनते जाओ
तुम अपनी बात न खो पाओ

रे, नित्य व्यथा का भार रहे
दुख सहने को तैयार रहे

फिर, मस्त नदी मन्थर बह ले
उर के समस्त बन्धन खोले

फिर वह मस्तानी चाल चले
फिर ऐसी उर मे ज्वाल जले

जो नभ मे ऊषा-सी हँस दे
सन्ध्या-सी नित्य मधुर रस दे

आँसू बन जाय शुक्र तारा
धुल जाय जगत् का तम सारा

[सम्भावित रचनाकाल 1937। उज्जैन। अप्रकाशित]

रजनी

घोर निशा के गहन तिमिर मे री, प्रभात का स्मरण न आये
विहग, यहाँ से उड चल, प्रिय के उष्ण श्वास से मरण न आये
ओ सन्ध्या के नव सुहाग, मृदु अचल मे मुझको लिपटा ले
तव अथाह उर-सागर है शशिवदनी दिन सन्तरण न पाये।

रजनी, तव आलोक हृदय की ज्वाला-सा जग पर छाया है
क्षितिज-वात फिर अगम देश से सुमनो का मधु भर लाया है
मत्त विहग, उड चल एकाकी, क्योकि साथ भारी अन्तर है
पीछे फिरकर उसे देख मत जिस पर कुछ कोमल गाया है।

रजनी, मेरा मुख आँसू की तरल-चाँदनी मे है जगता
वह अस्पृश्य, न बन अज्ञेय, सरल-कोमल उर मे आ लगता
यामिनि, तेरे बिना इन्दु-लेखा कैसी, मैं सागर उमडूँ
मत्त बकुल की अग-सुरभि मे आँसू का आभास झलकता।

उमडे काली घटा आज फिर, मेरा मन भी भर-भर आये
मेघो ने मेरे भविष्य की कविता पर आँसू बरसाये
दृष्टि बन्द हो, अगम देश के लिए हृदय भी मूर्च्छित हो ले
धरा और आकाश मिले, रे पाँतहीन, तू भी खो जाये।

[सम्भावित रचनाकाल 1937। उज्जैन। **वीणा**, जनवरी 1938, मे प्रकाशित]

अन्धकार का प्राण आज खग, दिशा प्रस्तरो से टकराता
त्यक्त बालिका के मृदु उर-सा, तारा का उर कँपता जाता
किसी बाल के जी मे पलकर दीप तिमिर को पाल रहा है
किसी फूल के द्वार भिखारी बन जब आँसू-कण ढुल जाता।

प्रथम गान का स्वर कुछ भी हो अब तू नि स्वर गान बना ले
अरे, उषा को छोड, सुनहरी सन्ध्या की छाया अपना ले
जब मन गीला-गीला होले उर के शून्य स्तब्ध तिमिर मे
कोई भूला गान सुनाना, जो प्रिय-स्मृति-स्पर्शों से बोले।

[सम्भावित रचनाकाल 1937। **कर्मवीर**, खण्डवा 19 फरवरी 1938, मे प्रकाशित। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

क्षिप्रा-धारा

बहती है क्षिप्रा की धारा
इसमे धुलते पैर तुम्हारे
जो कोमल है अरुण कमल-से
इसमे मिलता सौरभ मादक
जल मे लहराते अचल से,
पर न ठहरती क्षिप्रा-धारा
ले जाती है जो कुछ पाया
सब कुछ पाया, कुछ न गँवाया
धुलकर तेरा रूप मनोहर
अपना सौरभ लेकर आया।
बहती जाती क्षिप्रा-धारा
लेकर तेरा सौरभ सारा
पर न ठहरती, ले जाती है
एक घाट से किसी दूसरे
घाट यहाँ है जो कुछ पाया
इसमे सारा तत्त्व समाया।
बहती है क्षिप्रा की धारा
लेकर तेरा सौरभ सारा
किन्तु न जल का प्रवाह रुकता

चलता जाता कूल-किनारा
यहाँ घाट आ गया पुराना
कटा हुआ टूटा-सा मन्दर
जिसके दोनो ओर उछलता
लहरो का वह साफ समन्दर
यहाँ गाँव की प्रिया नहाती
गरम दुपहरी मे फुरसत से
उनके साधारण कपडो को
वे धोती, चलती मेहनत से
उनकी काली खुली पीठ पर
खूब चमकता सफेद सूरज
उनके मोटे कपडो को वह
जल्द सुखाता सफेद सूरज
मुझे यहाँ तक आ जाने पर
नवीन आकुल अनुभव होता
सौन्दर्याकुल मन होकर भी
यहाँ अधिक मैं मानव होता।

मेरी अन्त क्षिप्रा-धारा

युगो-युगो से प्रवाह जारी
पर अब बदला कूल-किनारा
असख्य लहरे, असख्य धारा
प्रथम बही जो प्रासादो के
सुन्दर श्यामल मैदानो मे
आज वही निज मार्ग बदलकर
अपना जीवन-कार्य बदलकर
अधिक सबल हो, अधिक प्रबल हो,
अधिक मत्त होकर चचल हो
खुल पडती है उन्ही गरीबो
के प्यासे खेतो से होकर
उनके सूखे धूलि-कणो से
अपना धारामय तन धोकर।

मेरी अन्त क्षिप्रा-धारा

युगो-युगो से प्रवाह जारी
पर अब बदला कूल-किनारा
असख्य लहरे, असख्य धारा
असख्य स्रोतो से मिल-भरकर
आगे-आगे, महान् बनकर

क्षिप्रा-धारा चली प्रबलतर

आत्मा-धारा विशाल सुन्दर

गभीर, लहरिल, तन्मय मन्थर
बहती है क्षिप्रा की धारा।

[सम्भावित रचनाकाल 1937-39। उज्जैन। **विचार** (कलकत्ता), मई 1941, मे प्रकाशित]

यह क्षण

(1)

यह क्षण ऐसा है कि यहाँ हम
अपने मे चुपचाप उतर ले।
रहे भले ही मन मे पीडा
अन्तर मे सघर्ष भयानक
तूफानोवाली रातो मे
दावा का उत्कर्ष भयानक
जबकि हृदय के अन्ध-कूप मे
तिमिर रूप का अद्भुत मन्थन
ज्वाला के बादल, पानी की
बूँदें, अन्धकार, आलोडन।
अन्तर के इस अन्तराल मे
मूल प्रकृति का घन उद्वेलन
आज फूट पडना चाहता हे
सहसा उत्तेजित अपनापन
खुदगर्जी हो यह अपनापन
या मेरी मर्जी ताकतवर
किन्तु न सम्हलेगा, न थमेगा
यह उत्कट है सीमोल्लघन
आत्म-लोभ है जबर्दस्त पर
इसी बात पर यहाँ ठहर ले
यह क्षण ऐसा है कि यहाँ हम
अपने मे चुपचाप उतर लें।

(2)

आओ, अपनी शक्ति सम्हाले
जरा स्वस्थ हो शान्त बनें हम।

घनी रात मे काँप रहा था
सागर का विशाल वक्षस्थल
अन्तराग्नि से क्षुब्ध हुआ था
महासिन्धु का अतल धरातल
मृदुल उर्मियाँ बनी भयानक
लहरे प्राणघातिनी चचल
हिल उट्ठा था सागर का
अव्यक्त गूढ काला अन्तस्तल
अन्दर की यह आग और फिर
बाहर के तूफान विनाशक
आत्म-क्षोभ मे कूद पडो तुम
शक्ति-लोभ से, निर्भय सर्जक ।
जहाँ सिन्धु का आलोडन हो
नील गगन से वहाँ तने हम
आओ, अपनी शक्ति सम्हालें
ज़रा स्वस्थ हो शान्त बने हम ।

(3)

फैला अपने हाथो को हम
बाँध चलेगे यह आलोडन
हम सोचेंगे क्यो होता है
ऐसा स्वार्थभरा उत्पीडन
हम न करेगे परवा अपनी
चुप हो जाये आत्मामन्त्रण
हो चुपचाप भयाश्चर्य से
अन्तर्जग सुनकर ललकारें
महासिन्धु का घोर क्षोभ यह
बन जायेगा आत्म-विसर्जन
अन्त सागर की गहराई मे से
नयी शक्ति को लेकर
हम खल-बल का अपने बल से
निय करेंगे स्वय नियन्त्रण।
यह मुसकानो का बल होगा
यह फूलो का परिमल होगा
अन्तर्देश करुणा तट पर
होगा नये राज्य का स्थापन
तब असख्य होगी आशाएँ
मुक्त नीलिमा मे खगदल बन
उडती होगी महन दूर, जब
बाँध चलेंगे यह आलोडन

यह आस्फालन, यह जल-व्यापन
यह कराल कटु आत्मोत्पीडन
यह उद्वेलन—भस्मसात मन
आत्म-क्षोभन का कर मन्थन
अमृत सत्य का निर्भय सर्जन
आत्मशक्ति का निश्चय पूजन
आत्म-मन्दिरे लीन नम्र बन
आत्म-विसर्जन, सर्व-स्पर्शन
सृजन बना है यह नव पूजन
फैला अपने हाथो को हम
बाँध चलेंगे यह आलोडन।

[सम्भावित रचनाकाल 1937-39। किसी पत्रिका मे प्रकाशित]

गीत

नाच उठी है मीरा दासी
घूँघट खोल, पिया आये हैं।
जब लगती रहती विरहागी
जब पुकारती आरत कोइल
ब्रजवासी तब कभी न आये
मौन खडे रह गये अचल पल
किन्तु जभी मीरा विरहिन ने
काट विरह की बेल दई है
साय प्राय आत्म-मन्दिरे
मूर्तिमान् वह भक्ति हुई है
आत्म-दीप बन आँसू सूखे
मीरा अब न जगेगी भाई
तभी सुना कि पिया आये हैं
घूँघट खोल विरहिनी धायी
पद पखारने वह जा दौडी
स्वय पुजाने प्रभु धाये हैं
नाच उठी है मीरा दासी
घूँघट खोल, पिया आये है।

[सम्भावित रचनाकाल 1937-39। किसी पत्रिका मे प्रकाशित]

ओ कलाकार

जीवन मे जितनी गन्दगी
ज़ाहिर की अपने कामो से
अपनी ही तूने पसन्दगी।

तू कलाकार का नाम धार
बन बहुरूपिया अपार बार
तू रहा बहकता-बहकाता
अपने को अपने मे बिसार।
तू भेद देखता जाता था
अपने मे केवल रहा खेद
रेशमी शब्द के जालो मे
मर गयी कला, आत्मा-निहार।

रे, यह नगा कमज़ोर देह
यह साधारण तन अ-डौल
यह विवस्त्र औ' सरल रूप
था रखता आत्मा ही सुडौल।
ओ, कलाकार के रूप-रग!
रे, किया कला का अग-भग
रे, ओ आत्मा के नित्य भक्त
तू आत्मा से है निसग।

ओ दगाबाज़, ओ चालबाज़
तू कितना भोला और मूर्ख
तेरी ही ऊषा तुझे देख
पड गयी शर्म से प्रिया सुर्ख।
तू भूल चुका वह मापदण्ड,
जो रत्ती-रत्ती तोल-तोल
अपने को, सभी मनुष्यो मे
देता है बाँट बिना मोल।
तू भूल चुका वह मापदण्ड
जीवन का सत्य जो अखण्ड।

वे कहते यह भाषा विचित्र
जिसमे है शब्द कला-हीन
जिसमे प्रयोग है ग्राम्य और
वे अति कठोर जो भी नवीन।
पर तू सुन मत ओ कलाकार

तेरे शब्दो मे लाख-लाख
दिलवालो के रहते उद्‌गार!

[सम्भावित रचनाकाल 1937-39। इन्दौर। अप्रकाशित]

बज रहे वाद्य

बज रहे वाद्य, आनन्द-हर्ष
का है न आज रे ओर-छोर
सर्वत्र लोग नव वस्त्र धार
है विचर रहे सुख मे विभोर
छा रहा मुक्त वह हर्ष-गान
यह नीला है रे आसमान

उस पर कोमल छा रही धूप
मृदु दूर्वा पर शोभायमान
है नर-नारी सुन्दर अनेक
कोमल-मुख शिशु भी है समान
वह अट्टालिका विशाल भव्य
उस वास्तुकला आदर्श-मान
की ओर दृष्टि सबकी समान

वह वातायन है मुक्त-प्राण
उस वातायन मे एक लुप्त
है छवि अनिन्द्य दिन-रात वन्द्य
जिसके विवाह को धूमधाम
से गुंजित है आकाश सान्ध्य
उस छवि अनिन्द्य सौन्दर्य वन्द्य
के चरण चूम फिर चूम हाथ
कवि गया पुलककर स्वप्नलोक
की मधुर देवि के साथ-साथ

वह देवि—मधुर ज्योत्स्ना विलोल
मे चम्पक वन मधु गन्ध धीर
या निशा मौन मे अलसायी
बन - गन्ध - मत्त प्रात समीर

या शुभ्र स्रोत के रजत पुलिन
पर सुहासिनी मेनका अदोष
हँसिनी लगी है स्निग्ध-वक्ष
सित पख चूम भी असन्तोष
या कालिदास के मधुर स्नेह
आषाढ मेघ की रसवन्ती
या भोले मुखवाली किशोरि
की सरला चितवन लजवन्ती

वह है उदास, यह धूमधाम
ये वाद्य-गीत—वह विवश मौन
उस सरल हृदय के कष्ट हाय
को देख सकेगा हृदय कौन

यह देह-लग्न वह आत्म-भग्न
उस विश्लथात्म परिरम्भ-भग्न
का व्यग्य तीक्ष्ण कटु असहनीय
औ' बाह्य विश्व आनन्दमग्न

औ' मधुर वाद्य-सगीत रम्य
मे लुप्त हृदय का हास-लास
यह है विवाह का मधुर भाग्य
पति-प्रणयहीन पत्नी उदास

वह कोमलागि यह 'बुद्धि'मान
वह उषा और यह निशा अन्ध
यह काव्य और वह कनक-चन्द
यह मधुर उर्मि वह सरित-बन्ध

इस हृदयरक्त पर कनक-चन्द
का जगत् चले यह सुखासीन
वह उषा आज सन्ध्या विराग
फिर कनक-चन्द से ती न

तुम बजो वाद्य आलाप-तान
सगीत बहे औ' रसोल्लास
औ' इसे सुने मूर्छित किशोरि
औ' देख चले अपना विनाश

इस लौह-मुष्टि के मृदुल हाथ
इस दीर्घ जघ पर विवश देह

इस वज्र वक्ष पर मृदु उरोज
पाषण-हृदय कर रहा स्नेह

तुम बजो वाद्य, हो धूमधाम
तुम रहो छिपाये क्रूर व्यंग्य
यह मिलन रात यह करुण रात
उस लौहगात पर हृदय भग्न

है हुआ गाढ यह अन्धकार
इस मध्य रात्रि मे मिलन क्रूर
जिसमे विनाश के स्वप्न हाय
कर रहे देह से हृदय दूर

तुम बजो वाद्य हो धूमधाम
है बडा तुम्हारा सदा नाम।

[सम्भावित रचनाकाल 1937-39। उज्जैन। अप्रकाशित]

जब तुम मिल न सकीं

जब तुम मिल न सकी इतने दिन
तो वह रात तुम्हारी बनकर
आसमान पर छा जाती थी,
औ' अँधियाले मे तुम उठकर
इसी ओर आती पद गिन-गिन
जब तुम मिल न सकी इतने दिन।

तभी राह मे कूकी कोयल
औ' उसकी आवाज बही थी
उन तूफानो मे जो चलते,
भय आशका से भरकर गिर
इधर-इधर जाता था अचल
तभी राह मे कूकी कोयल।

आसमान मे काले बादले
पृथ्वी पर तूफान उठा था

उसी रात को जान सुरक्षित
तुम आयी थी पास हमारे
कूक उठी थी मीठी कोयल
आसमान मे काले बादल।

उस कमरे मे जहाँ अँधेरा
मेरे दिल से गरम बना था
जहाँ न डर था, पूर्ण सुरक्षित
मेरा दिल भी नरम बना था
नरम-नरम था वहाँ बसेरा
उस कमरे मे जहाँ अँधेरा।

वही अचानक तुम्हे देखकर
आलिंगन मे बाँध लिया था
चुम्बन का अधिकार समझकर
अधर-कपोलो पर बरसा था
मेरे रुद्ध स्नेह का सागर
वही अचानक तुम्हे देखकर।

बाहर तूफानो का ताण्डव
ठण्डी बरसाती वे राते
अन्दर दिल की गरमी मे थी
प्यारभरी उस दिन की बाते
जब तुम पायी चुम्बन अभिनव
बाहर तूफानो का ताण्डव।

[सम्भावित रचनाकाल 1937-39। सम्भवत इन्दौर। अप्रकाशित]

चाह

तुमसे मिलने की नित्य चाह
पर तुमसे कभी मिला न, हाय!
रातें बीती, दिन बीत गये
सन्ध्याएँ चल दी, क्या उपाय—

मै रहा देखता वह क्षण जब
तव स्नेहालिंगन मे विभोर
मै आत्म - विसर्जन कर पाऊँ
बन जाऊँ तेरा ओर - छोर।

पर जब तुम आये इधर हाय
अपनी मस्ती मे सुखासीन
मै रहा पूछता सबसे उनकी
राह कौन - सी है नवीन
थी बही तभी चम्पक वन मे
मधु गन्ध धीर व्याकुल समीर
पीपल तरु पर बैठे विहग
उड चले उधर ले मधुर पीर।

तब कहा किसी ने मुझे हाय
'आ गये स्नेह के शुचि निधान'
मै मुसकाया कह इतना ही
'आते होगे' लाया न ध्यान
पर मेरा मन घुल चला उसी
क्षण से, थी बस वही शाम
मै पा न सका विश्राम कही
खो गया रात का भी विराम।

तुम्हारे मेरे पडी बीच
दे रही चुनौती दीर्घ राह
यह पीली - सी साँपिन पसरी
डस रही हृदय, बढ रही चाह
मैं व्याकुल बेबस नि सहाय
था रहा देखता 'क्या उपाय'
तुमसे मिलने की नित्य चाह
पर तुमसे कभी मिला न हाय।

[सम्भावित रचनाकाल 1937-39। अप्रकाशित]

चार क्षणों का परिचय

तुमसे मेरा चार क्षणो से ही है परिचय
एक प्यास से पीडित दोनो देख रहे हैं
एक दूसरे की अतृप्ति को लेख रहे है
इतने जन-समुदाय बीच हम रहे अकेले
एक दूसरे का साथी बन बहे, न बोले
चलता रहता इसी तरह आँखो से विनिमय
तुमसे मेरा चार क्षणो से ही है परिचय।
कैसी लज्जा, ओ लजवन्ती थोडे हैं क्षण
इतने मे ही क्यो न प्राप्त कर ले अपना धन
क्यो न हरी हो प्यास कि जब हम तुम ही तो है
थोडे हैं क्षण और प्यास है गहरी उन्मन
फिर अचल की हलचल क्यो यह क्यो मुख पर लज्जा का सचय
तुमसे मेरा चार क्षणो से ही है परिचय।

[सम्भावित रचनाकाल 1937-39। अप्रकाशित]

कलाकार की आत्मा

मै वर्णहीन मैं गन्धहीन रहता हूँ
पर वर्ण-गन्ध से अलग कहाँ हूँ, भाई
मैं रूपहीन स्वच्छन्द विचरता जग मे
यह लोल लहर मेरी चचलता लायी।

मैं तालहीन स्वरहीन राग हूँ केवल
पर ताल-स्वर हैं लहरें मेरी ही तो
निर्बन्ध बिखरता हास्य हमारा जग मे
पर जग के बन्धन हैं सब मेरे ही तो।

साँझ किरन से श्याम घनो की कोरें
गहरी स्वर्णिम हैं वन मे आज अकेले!
नि सग नदी के निर्मल जल मे पुलकित
उमडी मेरी ही आकुल स्वर्ण हिलोरें।

मैं ग्राम-कुमारी की कातर आँखो से
हूँ देख रहा—'दिन ढलता ही जाता है
डूब चुका रवि धुँधले क्षितिज तले मे
वह नि सहाय, तम पलता ही जाता है'।

वह कातर-नयनी चली जा रही आतुर,
मैं चला जा रहा हूँ उसके ही पग से।
घर आकर ढुलकी वह प्रिय के चरणो मे
आँसू बनकर मैं बहता उसके दृग से।

उस अत्यन्त विशाल हिमालय का शिर
खोया ऊँचाई के अति-धुँधलेपन मे
उस गहन शून्य का मौन चिरन्तन, भाई
डूबी रवि की एकाकी किरने जिसमे।

उस महादेश मे तन्मय ऊँचे पर्वत
नि सग व्याप्त है नभ के सूनेपन मे,
अन्तरग मेरा खोया है, भाई
विरत प्रेम के ऐसे ही जीवन मे।

मैं मधुर गीत के गायक की आत्मा हूँ
जो बन जाती है वशी की स्वर-लहरी
मैं परित्यक्त के अन्तर की कातरता
जो हो जाती है दृग मे बूँदें खारी।

मै तरु के मर्मर स्वर मे गुनगुन करता
नीलाम्बर मे उठता ही तो रहता हूँ।

[सम्भावित रचनाकाल 1937-39। अप्रकाशित]

एक गुलाबी चित्र

एक गुलाबी चित्र उभरता धुँधले-से अतीत पर आली
एक समय जो प्रतिमा मैंने उर मे रख दृग से धो डाली
आज उन्ही प्राणो का स्पन्दन री फिर वही कहानी कहता
उसी लहर मे अपने जाग्रत प्राण डुबाता फिर-फिर बहता।

आज किसी गत बेला ने फिर मेरी जान मुझे ला दी है
खोई कोकिल खोया गीत पुराने स्वर मे फिर गा दी है।

उन सुन्दर आँखो मे आली, प्राण बिछे थे मधुमय होकर
मृदु गुलाब की दबी सुरभि आती थी अचल से बह-बह कर
तभी कोकिला कूक उठी थी मेरे दिल मे भी अनजाने
उन वासन्ती वन-सुमनो मे कोई नूतन आग लगाने।
तभी राग निकला था ऐसा जिसमे हम-तुम एक हो गये
निज मे गायक-भ्रमर ढाँककर, आकुल कोमल कमल-कुसुम ये।

पीली प्रात मे गुलाब की गन्ध समीरण मे बह-बहकर
पास सामने खडी सखी के छू अरुणिम कपोल कोमलतर
बिखर-बिखर पडती है उसके उलझे मृदुल शिथिल अलको मे
जिससे उर का पुलक-कम्प अगो के प्रति रोमो-रोमो मे।
मेरे दिल की ऊषा उस ऊषा से अधिक लाल-पीली थी
मेरी सखी गगन की तारा से भी अधिक दूर उजली थी।

उस पावन क्षण बाद चाहता कुछ रो लेना कुछ हँस लेना
कमल-कली को लगा प्राण से तारा पर दिल का बिखेरना
अपने दिल की रँगी मदिरा से सम्पूर्ण विश्व को धोकर
मधुर स्फूर्ति बनता मै केवल निज तन तरल वायु मे खोकर।
यही मिलन-पीडा पहले है, जिसकी याद आज आती है
इतने दिवस बाद भी आँखे बरबस गीली हो जाती है।

इस विस्तृत असीम सूने मे शान्त समय-सागर लहराता
जिसका श्यामल वक्ष स्वय मे क्षितिज धरा-आकाश छिपाता
वह इनके ऊपर लहराता एक चिरन्तन आत्म-गीत मे
वर्तमान बहकर भविष्य मे खो जाता है चिर-अतीत मे।
कितने ही रगीन चित्र ऐसे खोये, उसमे सोये है
उसमे से कुछ आज आलि, आँसू लेकर फिर से आये है।

[सम्भावित रचनाकाल 1938। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

इधर भरी दुपहर

इधर भरी दुपहर प्राणो मे
मन उठता है 'हाय', 'हाय' कर
उधर दूर गहरे सूने मे
फफक उठा तव अश्रु-भरा उर।
मोह-स्निग्ध व्रण-कोमल दिल मे
चुभते है स्मृतियो के मणि-कण
री, वियोग की सूनी दुपहर—
मे जाते हैं भीग-भीग क्षण।
गरम धूप सूने मे डूबी
उस विशाल मैदान वक्ष पर
जलती किरण लहरियाँ कॉपी
धरणी-क्षितिज मिलन-कोरो पर।
री, सन्तप्त असीम-गगन-सा
मेरा तेरा अभिनव जीवन
अथक गा रहा जिसमे व्याकुल
वन्य पक्षिणी-सा मेरा मन।

[सम्भावित रचनाकाल 1938। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

क्षितिज-झुके

क्षितिज-झुके उन साध्य घनो के अरुण शिखर पर कोई बाला
गहन मौन मे उदासीन जब अन्धकार था आने वाला
सूने उर से शून्य मार्ग वह देख रही, प्रिय आता भूला
म्लान हुए गीले कपोल, कुम्हला गुलाब, दिन डूब चला।

मन्द वायु मे मदिरोद्दाम सुगन्ध तभी तो गीली ही थी
जीवन-विमुख, निराशा-कातर तरुण साँझ भी पीली ही थी
भीग रहा था मम उर सुन्दर के आँसू के गीलेपन मे
प्रणयी बाला की उर-रजनी डूब रही मम व्याकुल मन मे।

निर्झर तट पर, विपिन-विपिन मे रजनी का धुँधलापन छाया
मिलन-मधुर स्वर बिरह-रागिनी मे अनजाने बजने आया

निष्ठुर प्रिय पर लुटी बालिका के मन-सा कातर मेरा मन
डुबा रहा तम-डूबे वन मे मधु से गीला अपना जीवन ।

[सम्भावित रचनाकाल 1938। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

अपने से

इस निशीथ मे सुध आयी किस मधु दिन की ? ओ व्याकुल बाले,
आज निबिड नीरवता किस पागल स्वर की चेतना सम्हाले !
सघन तिमिर के गहन शून्य मे फैला तेरा लोचन-जल है,
किन किरणो के मधु सवेदन से व्याकुल निशि का पल-पल है ?

तिमिर सिन्धु मे डूब रहा मन किस अम्बर मे नयन खोलता ?
अरे विदेश भटकनेवाले, किस मधु-गृह की बात बोलता ?
आज न जाने कौन याद आता है सखि, तुझको रह-रहकर
जाने किस नाते की स्मृति से भीग रहा तव मधुमय आँचर ।

तिमिर घनो को पार कर रही कौन शरीरी सस्मित छाया ?
मानस-गति-सम कौन तरल-पद री, तेरे सिरहाने आया ?
हाल के छू तेरी मृदु अलके, अरुण कपोल, स्निग्ध स्कन्धाचल,
जगा गया री, इन अधरो पर कौन गन्धमय चुम्बन निर्मल ?

दिल की प्यास असीम उमडकर ढुलकी क्यो आँखो मे आकुल ?
मृदु अधरो पर कोमलता के सुख-स्पर्श-रस से उर विह्वल !
किस असीम अम्बर मे छाया लहराता हिल्लोलित सागर !
दिशाहीन आकाश हुआ क्यो ? विश्व हुआ क्यो घर के भीतर ?

कोमल कर आलिगन-रत थे अग-अग मृदु हृदय बना जब,
मृदुल मालती का सौरभ था मोहित निशि के यौवन पर तब !
बाले, तेरा स्वर व्यापा है अन्तर्जग के सूनेपन मे !
मेरा अन्तर फैल रहा है सखि, तेरे नूपुर निस्वन मे ! !

[सम्भावित रचनाकाल 1938। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

यह जंगल

यह जगल की मुक्त हवा मेरे अन्तर को छू जाती है।
दूर बह रही नदिया-तीरे,
श्यामल हरे नीर के ऊपर,
निबिड द्रुमो की छाया-तम मे
देखा, कोमल कुकुम-आँचर
किसके चपल चरण की प्रतिमा लोल लहर पर दिख जाती है।
यह जगल की मुक्त हवा मेरे अन्तर को छू जाती है।
गहन नील है गगन, बह रही
पथरीली सरि अपने स्वर पर
गरम किरण सूरज की प्यारी
उष्ण कर रही मेरा अन्तर
आयी ऐसी चाह कि जो सूनापन बन मे भर जाती है।
यह जगल की मुक्त हवा मेरे अन्तर को छू जाती है।
रजत क्षितिज पर मधुर मूर्ति
उठती है भावो के रस-घन-सी
जिसके करुण-उदार नयन मे
नभ की नीलम मदिरा सरसी
वन फूलो के रगो से जिसकी चोली मादक बन जाती
यह जगल की मुक्त हवा री, मेरे अन्तर को छू जाती।
मृदुल उष्ण किरणो ने सोने—
का ससार किया देखो तो
निबिड पल्लवो, सरि को, गिरि को
यकसा प्यार किया देखो तो
अपनी एक पुलक मे इतने पुलकित! किसकी ऐसी छाती।
यह जगल की मुक्त हवा मेरे अन्तर को है छू जाती।
सघन आम्र-पल्लव छाया मे
मैं कोकिल के सँग-सँग गाऊँ
रवि के स्वर्ण किरण की पूजा—
कर जग का कल्याण मनाऊँ
नीर-लहरियाँ साथ नाच छाती आँसू से पुलकित होती।
यह जगल की मुक्त हवा मेरे अन्तर को है छू जाती।
पीले ज्वार-खेत के बाजू
गाडी श्वेत बैलवाली है
सूनी पडी, खडी है गुपचुप
आई कौन मुग्ध आली है

उतर गई वह कहाँ ? प्रश्न से मेरी आँखे गीली होती
यह जगल की मुक्त हवा मेरे अन्तर को है छू जाती ।

[सम्भावित रचनाकाल 1938 । **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

मृदु संगीत

मृदु सगीत, गुलाबी घन सा
भार हो रहा वन समीर मे ।
इस पथरीली सरि के तट पर
लाल वसनवाली बालाएँ
पावन लघु चरणो की मादक
स्मृतियाँ छोड चली जाती है ।
उनके स्निग्ध स्कन्ध पर शोभित
पूर्ण कुम्भ मे नित आन्दोलित
मधुर-नीर-सगीत सघन बन
वन के रोम-रोम मे छाया
जो मेरे प्यासे अन्तर मे
मधुर-स्वप्न-माया-सा आया ।
प्रिय है उनका मार्ग मधुरतम
उनके ग्राम्य नम्र घर उत्तम
उनका शोभन विस्तृत आँगन
उनके वचनो-सा प्रिय-पावन ।

[सम्भावित रचनाकाल 1938 । **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

तन्द्रिल-नील

तन्द्रिल-नील-हरित-श्यामल जल
पर फैली है शान्त-स्निग्ध चिर
सघन हरे तरुओ की छाया ।

पास पुलिन-वन से है आया,
किस वशी का पुष्पाकुल स्वर,
मधुर कम्प्र किसका है उर तल ?
श्लथ-पुष्पाकुल-कुन्तल बाला—
की भोली-स्मित-शाली सूरत
जीवन का मद बन जाती है
वशी का मधु बन जाती है
वन की अल्हड चचल मूरत—
की उन्मुक्त सरल-मन लीला ।
पीत-गुलाबी-लाल श्वेत—
सुमनो मे मृदु सारी का अचल
नील गगन है सौन्दर्याकुल।
स्निग्धच्छाया मे है विह्वल
वनवासी अति दर्शन-व्याकुल
भोली-स्मित-मूरित अन्तरतम ।

[सम्भावित रचनाकाल 1938। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

पथ के दीपक

मेरे पथ के दीपक पावन
मेरा अन्तर आलोकित कर
यदि तू जलता बाहर उन्मन
अधिक प्रखर जल मेरे अन्दर
फैल रहा तू सबके उर पर
आलोकित कर निर्जन कानन
मेरे अन्तर मे बिछ जा तू
बन अलक्त का लालिम यौवन
बाल सखी के भोले मुख की
मधुर ज्योति-रेखा तुम कोमल
सहज कुतूहलमय नयनो मे
आत्म-प्रकाश-सरल तुम अविचल
सघन वनश्री के छायामय
तल मे अलस किशोरी विलसित

उसे प्यार कर आत्म-भार से
जल उठने की प्यास विमोहित
मुझको यों तू खींच न बाहर
मुझको यों मत तू व्याकुल कर
मेरे पथ के दीपक पावन
मेरा अन्तर आलोकित कर

अन्तहीन पथ के साथी है
नभ के ये अगणित तारागण
अन्तहीन दुख का साथी है
स्नेहशील शशि का नवयौवन
मेरे पथ के दीपक पावन
जल-जल उठते मादकतम क्षण
किन्तु न रहते साथ सदा तुम!
मैं एकाकी, तुम एकाकी,
से मिलकर पाता दुख का तम।

[सम्भावित रचनाकाल 1938-1939। अप्रकाशित]

तेरे स्मित

तेरे स्मित का स्वर्णिम बादल
वन मे किरणे बरसाता है
जीवन गीला हो जाता है
किरण-धार पुलकित जब शतदल।
शाद्वल खेत अछोर छू रहे
मुग्ध नील अम्बर के पदतल
किरणस्नात मानस के अलिदल
आत्ममुग्ध स्वच्छन्द उड रहे।
कितना गगन पार कर आये
दोराही किरणो मे रंगित
मुग्ध-प्राण तव अमृतपोषित
स्निग्ध वायु पर पर फैलाये।
धवल गाय है नीर पी रही
वन-पथ पास अमल पल्लव पर
नभ से ज्योतित रंगित अन्तर—
मे वन-शोभा लीन हो रही।

कटक वृक्ष गुलाब द्रुमो से
एक हुए तब मुसकाने मे
दोनो मुग्ध एक सपने मे
एक किरण के सभी भरोसे।
पाप-पुण्य तेरी दुनिया के
खो जाते हैं तेरे सम्मुख
सोने का सुख रजकण का दुख—
भूल सुखी हम तुझको पाके।
तेरे स्मित का स्वर्णिम बादल
मेरे मन के तरु पर बरसे
तेरी दुनिया से जड सरसे
तव स्पर्श से फिर आये फल।
हृदय सबल पी प्रात-पवन, घर
पाता जब स्मित-मधुरा कान्ता
मन उन्मुक्त उर्मिमय उडता
नील गगन मे सोने के पर।

[रचनाकाल 20 जनवरी 1939। शुजालपुर। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

मुझको मरण मिला

मुझको मरण मिला जीवन मे
मेरे नभ मे बादल छाया,
प्रात-क्षितिज पर सन्ध्या का
अरुण राग कोमल बन आया!
प्रातर्विहगिनि, तेरे स्वर मे
आज विदा का राग जगे क्या?
प्रिय का रूप भाग्य-तारा-सा
ज्वाला बनकर आज लगे क्या?
कोई कोकिल मेरे वन मे
शशि-ज्योत्स्ना आकुल करती है,
मुझसे कुछ न बोलती आली,
किन्तु कहानी कह लेती है—
वह कहती 'कैसे सह लूँगी
ये वसन्त की शीतल राते?

जबकि चन्द्र मे ज्वाल जलेगी
कौन करेगा मुझसे बाते ?'
तिमिरमयी रजनी मे कान्ते,
अविचल ध्रुवतारा बन जाओ।
अपने इसी दूर दर्शन से,
मुझको पास खीचकर लाओ ।।
मेरे प्राण तुम्हारे पद पर।
प्रात-साँझ की बेला क्या है।
जलनिधि की इस गहराई मे
शशिकर का रहस्य उलझा है ।।

[रचनाकाल 25 अप्रैल 1939। उज्जैन। अप्रकाशित]

छोड़ न सकते चरण

छोड न सकते चरण तुम्हारे जो अमरण है स्वप्न हमारे।
जहाँ पहुँचने की इच्छा ही
पैरो को गति देती जाती
जिसके पूजन की आकाक्षा
मानस को मति देती जाती
मार्ग हमारा बन चलता है, मन मे इच्छा, चचलता है
अन्तर मे स्वप्नो का स्वामी पालन करते खुद पलता है।
जीवन की क्षण-क्षण पल-पल
जो माँगें है प्राणो से मेरे
वे नित आकुल करती मन को
सदा रही जीवन को घेरे
उस पथ पर ऐसा चलता मैं जैसे युग-युग से उस पर हूँ
तुम्हे स्मरण करने के मृदु क्षण मिलते कहाँ ? तुम्हे सच कह दूँ।
क्रान्ति भरे तूफानो मे मै
कभी रज कण बनकर उडता
निम्न भूमि पर जा गिरता हूँ
या कि गिरिशिखर पर जा चढता
कभी समुन्नत कभी विनत हूँ
कभी सरल ऋजु पथ पर चलता
केन्द्रहीन दिखकर भी निज को केन्द्रबिन्दु पर मैं नित पाता
चाहे जहाँ रहूँ, जैसा हूँ, मैं हूँ नित सलग्न, न रीता।

कहाँ रिक्तता-सूनापन है ?
यहाँ व्यस्तता सदा चरम है
यहाँ भरम को कहाँ ठिकाना
जहाँ कार्य मे भाव परम है
मैं नित तुझको भूले रहता, क्या तव स्मृति की आवश्यकता ?
जब जीवन की ओर निहारूँ, वहाँ मिली है मुझे सबलता।
नित क्षण-मन को उत्तर देती—
बात प्राण मे ऐसी आई
काल-शिखर पर खडा भव्य मैं
पल-पल का हूँ उत्तरदायी
मै प्यासा क्षण-प्रात के उस अमर प्रकाश दिवस-दर्शन का
सतत चपल क्षण-चित्रो के रगीन चिरन्तन रेखा-क्रम का।
क्षण-क्षण दिन-दिन वर्ष-वर्ष मे
सदा व्यस्त, अपने मे खोया
जितना गहरा गया कि
उतना मैने निज को प्यासा पाया
बढती तृषा चिरन्तन, जीवन तरु पर सघन बेल बन छाई।

[सम्भावित रचनाकाल 1939। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

यदि तुम्हारे स्नेह से

यदि तुम्हारे स्नेह से यह वक्ष मेरा दृढ अचल पाषाण-सा हो
तो मुझे है चाहिए कर-परस तेरा
रोज मिल जाये सुकोमल दरस तेरा
यदि तुम्हारे बोल से, हृदय ऊँचे गिरि-शिखर की शान-सा हो।
थक चुका है मानकर वह उच्च सत्वर
आ रहा है पास मेरे निम्न होकर
दूर की धुँधली सुदूरी नापने कुछ क्षितिज-मोहित गान-सा हो।
रे, सनेही, बात ऐसी मधुर हो ले
नव दिशाएँ निकल आये प्रखर हो ले
उन क्षणो के तेज मे आदान-सा उन्मुक्त मधुर प्रदान-सा हो।
कह नही सकता, उभरता हृदय अन्दर
साँस का है अर्थ से भर भार का स्वर

एक चचल पीर उर मे आज निज का गान क्या हो ?
वह चली आई प्रथम से ही विकल
बालपन के स्वप्न-क्रम से ही चपल
वह ठहरने ही नही देती मुझे उर काम (?) औ' फिर स्थान क्या हो ?
जा रहा हूँ मैं जहाँ वह है सुनिश्चित
है न मुझसे आज कुछ भी रे अपरिचित
किन्तु पाकर भी रहूँगा स्थिर वहाँ इसका सदृढ अनुमान क्या हो ?
जा रहा हूँ मैं जहाँ वह है सुनिश्चित
है न मुझसे आज कुछ भी रे अपरिचित
किन्तु पाकर भी रहूँगा स्थिर वहाँ इसका उचित अनुमान क्या हो ?
एक अचल पीर जलती आ रही, इसका अरे अभिमान क्या हो ?
किन्तु उसको भी न मानूँ (जी चलूँ) इससे अधिक अपमान क्या हो ?

[सम्भावित रचनाकाल 1939]

कविताएँ
(1940-1948)

लिख न सका हूँ

लिख न सका हूँ जो कि चाहता हूँ मैं लिखना
बाहर की बातें ही घिर-घिर
आ जाती है
सहज रोक देती है मन के
अन्दर के स्वर
शब्द रोक देते भावो को
चित्र रोक देते स्वप्नो को
लेखन रोक चला अपने प्राणो के ही सवेदन को
सहज बाह्य मे भटक भूलकर छूट चला जाता
धन मन का।

[अपूर्ण। सम्भावित रचनाकाल 1940-42]

तन्मयता के बाद

(बूर्ज्वा विचारधारा मे भावनात्मक एकाकारिता के क्षण अपने-आपमे अन्तिम और, वैसे ही, लोभनीय माने गये हैं। परन्तु जीवन-प्रवाह का छन्द इसके विपरीत जाता है। प्रत्येक तन्मय क्षण भावी कार्य-प्रवाह की शक्ति को तैयार करनेवाले मूल केन्द्र हैं।—ले)

'जिस ओर जो बढता रहे
उस ओर उसको दीखती ही जाय लम्बी राह'
साँझ के नीलान्त मे पिछडे हुए
उन युग खगो के गीत का ऐसा प्रवाह।

पीत धारा सरित की हो श्याम,
द्राभा की करुण गम्भीरता मे डूबती है।
मृदु विराम
जगत् के चचल हृदय पर छा गया है।
देखते है वृक्ष-दल निस्तब्ध,
सन्ध्या डूबती जिस ओर अवनत,
तिमिर के छाया-पटल मे मुँह छिपाना चाहती द्रुत-चरण।
नील तम मे विश्व-रेखाएँ चली है डूब,
औ' मुझको समेटे जगत् एकाकार।
नील तम मे मुग्ध मै
बैठा हुआ ही देखता हूँ सरित का मन्थर प्रवाह,
मेरी प्राण-धारा का बहा यह कौन-सा अन्तर्प्रवाह !

और सहसा नील तम मे लुप्त मेरी धुकधुकी मे
बोल उठती विपिन-आत्मा मधुर औ' गम्भीर।
तिमिर के मोहाक्त अचल मे छिपे
वन-विश्व की जागी
न जाने कौन-सी मेरे हृदय मे पीर !

कौन-सी वह टीस सुमधुर जो चली आती विपिन के
मग्न तरुओ के मृदुल शाखा-करो से,
लुप्त उनके पत्र-आच्छादित सघन-छाया-उरो से,
सरित के गहरे मृदूर्मिल नीर के उन सघन-स्मित गम्भीर कूलो से
तिमिर के आक्षितिज पूरे श्याम-अचल से
कि जिसमे मग्न कानन-कुसुम की छोटी पहाडियाँ।

कौन-सी वह टीस तीखी धीर जिससे
फैल जाता हास-सा मेरा हृदय
उस साँझ-तम के स्निग्ध डूबे विश्व-अचल मे
ज्यो खीचता वह विश्वप्रिय को प्यार से भर मृदुल अपने अक मे रखने,
कि जैसे फैल जाता हाथ, सहसा दीर्घ होता वक्ष
जब उस प्रथम क्षण मे सरल-चुम्बन-लाभ को पाने
समर्पण-भाव के नीचे !
सहसा फैल जाता हास-सा मेरा हृदय यह,
और रो पडता उसी क्षण,
तारको-से दीर्घ-उज्ज्वल अश्रु की बूँदे समेटे,
जो रहा था सो अभी तक,
आत्मशाली पुरुष।

हास के ही बाद,

जैसे साँझ के ही बाद,
जाने कौन, कैसे, किन स्तरो से, फूट पडती यह अजस्रा अश्रु-धारा
जो कि उद्गम-स्रोत का आदिम सम्हाले बल, कदाचित्,
विविध प्रान्तो, विविध देशो मे बनाये कूल बहती चली जाये।
तभी मुझमे कौन जागा
पा अमर विश्वास से उन्मुक्त शका की चपलता
ले विपुलतम स्नेह से अतिव्यस्त चिन्ता की अतलता ?
उठ खडा मै देखता हूँ
तिमिर-आप्लावित जगत् यह दीर्घ है, सुविशाल है, आगे धरा है।

तब पुलक से भर उठा मन,
अब सजल हो निकल आया
वह अकेला।
उस मधुर सम्पर्क का बल ले
अभी भी मै खडा हूँ,
देखता हूँ तिमिर-आवृत-वन-दिशाएँ।
तभी सहसा याद आता
साँझ के पिछडे हुए उन विहग-युगलो का नया उत्साह
रे,
जिस ओर जो बढता रहे
उस ओर उसको दीखती ही जाय लम्बी राह।

[सम्भावित रचनाकाल 1940-42। अप्रकाशित]

आत्मा के मित्र मेरे

वह मित्र का मुख
ज्यो अतल आत्मा हमारी बन गयी साक्षात् निज सुख।
वह मधुरतम हास
जैसे आत्म-परिचय सामने ही आ रहा है मूर्त होकर
जो सदा ही मम-हृदय-अन्तर्गत छुपे थे
वे सभी आलोक खुलते जिस सुमुख पर !
वह हमारा मित्र है,
आत्मीयता के केन्द्र पर एकत्र सौरभ। वह बना,
मेरे हृदय का चित्र है !
जो हृदय-सागर युगों से लहरता,

आनन्द मे व्याकुल चला आता
कि नीला गोल क्षण-क्षण गूँजता है,
उस जलधि की श्याम लहरो पर जुडा आता
सघनतम श्वेत, स्वर्गिक फेन, चचल फेन।
जिसको नित लगाने निज मुखो पर स्वप्न की मृदु मूर्तियो-सी
अप्सराएँ साँझ-प्रात
मृदु हवा की लहर पर से सिन्धु पर रख अरुण तलुए
उतर आती, कान्तिमय नव हास लेकर।
उस जलधि की युग-युगो की अमल लहरो पर
जुडा जो फेन,
अन्तर के अतल हिल्लोल का जो बाह्य हे सौन्दर्य—
कोमल फेन।
जिसके आत्म-मन्दिर मे समर्पित,
दु ख-सुखो की साँझ-प्रात जो अकेला
याद आता मुख हमे नित!

काल की, परिवर्तनो की तीव्र धारा मे बहा जाता
मधुरतम साथ जिसका,
प्राण की उत्थान-गति की तीव्रता मे
बह रहा उच्छ्वास जिसका,
जो हमारी प्यास मे नित पास है—
व्यक्तित्व का सौरभ लिये, व्याकुल निशा-सा।
निकटता के निज क्षणो मे
जो कि उर की बालिका का मौनतम विश्वास है।
जो झेलता मेरे हृदय को निज हृदय पर
आत्म-उन्मुक्तीकरण की खुली बेला मे कि जब
दो आत्माएँ
बालको-सी नग्न होकर खडी रहती
दिव्य नयनो मे सहजतम बोध नीलालोक लेकर!
वह परस्पर की मृदुल पहचान, जैसे पूर्ण
चन्दा खोजता हो
उमडती नि सीम निस्तल
कूलहीना श्यामला जल-राशि मे प्रतिबिम्ब अपना, हास अपना

वह परस्पर की मृदुल पहचान जैसे
अतल-गर्भा भव्य धरती हृदय के निज कूल पर
मृदु स्पर्श कर पहिचान करती, गूढतम उस विशद
दीर्घच्छाय श्यामल-काय बरगद वृक्ष की,
जिसके तले आश्रित अनेको प्राण,
जिसके मूल पृथ्वी के हृदय मे टहल आये, उलझ आये।

मित्र मेरे,
आत्मा के एक !
एकाकीपने के अन्यतम प्रतिरूप ।
जिससे अधिक एकाकी हृदय ।
कमज़ोरियो के एकमेव दुलार
भिन्नता मे विकस ले, वह तुम अभिन्न विचार
बुद्धि की मेरी शलाका के अरुणतम नग्न जलते तेज
कर्म के चिर-वेग मे उर-वेग के उन्मेष ।

पितृ-मन की स्नेह-सीमा का जहाँ है अन्त,
छलछल मातृ-उर के क्षेम-दर्शन के परे जो लोक,
पत्नी के समर्पण-देश की गोधूलि-सन्ध्या के क्षितिज के पार,
जो विस्तृत बिछा है प्रान्त
तन्मय तिमिर-छाया है जहाँ हिल-डोल से भी दूर,
है केवल अकेला व्योम ऊपर श्याम,
नीचे तिमिरशायी अचल धरती भी अकेली एक,
तरु के तले भी केवल अकेला मौन,
जिसकी दीर्घ शाखाएँ बिछी निस्सग
जैसे लटकती है एक स्मृति-पहचान, मन के तिमिर-कोने मे त्यजित,
पत्ते भी खडे चुपचाप सीने तान—
अपनी व्यक्तिमत्ता के सहारे जो चले है प्राण,
उनको कौन देता है
अचल विश्वास का वरदान !
उनको कौन देता है प्रखर आलोक
खुद ही जल
कि जैसे सूर्य !
अपने ही हृदय के रक्त की ऊषा
पथिक के क्षितिज पर बिछ जाय,
जिससे यह अकेला प्रान्त भी नि.सीम परिचय की मधुर सवेदना से
आत्मवत् हो जाय
ऐसी जिस मनस्वी की मनीषा,
वह हमारा मित्र है
माता-पिता-पत्नी-सुहृद् पीछे रहे हैं छूट
उन सबके अकेले अग्र मे जो चल रहा है
ज्वलत् तारक-सा,
वही तो आत्मा का मित्र है ।
मेरे हृदय का चित्र है ।

[सम्भावित रचनाकाल 1940-1942 । *तारसप्तक* मे प्रकाशित]

दूर तारा

तीव्र-गति
अति दूर तारा,
वह हमारा
शून्य के विस्तार नीले मे चला है।

और नीचे लोग
उसको देखते है, नापते है गति, उदय औ' अस्त का इतिहास।
किन्तु इतनी दीर्घ दूरी,
शून्य के उस कुछ-न-होने से बना जो नील का आकाश,
वह एक उत्तर
दूरबीनो की सतत आलोचनाओ को,
नयन-आवर्त के सीमित निदर्शन या कि दर्शन-यत्न को।
वे नापनेवाले लिखे उसके उदय औ' अस्त की गाथा,
सदा ही ग्रहण का विवरण।
किन्तु वह तो चला जाता
व्योम का राही,
भले ही दृष्टि के बाहर रहे—उसका विपथ ही बना जाता।

और जाने क्यो,
मुझे लगता कि ऐसा ही अकेला नील तारा,
तीव्र-गति,
जो शून्य मे निस्सग,
जिसका पथ विराट्
वह छिपा प्रत्येक उर मे,
प्रति हृदय के कल्मषो के बाद,
जैसे बादलो के बाद भी है शून्य नीलाकाश।
उसमे भागता है एक तारा,
जो कि अपने ही प्रगति-पथ का सहारा,
जो कि अपना ही स्वय बन चला चित्र,
भीतिहीन विराट्-पुत्र।

इसलिए प्रत्येक मनु के पुत्र पर विश्वास करना चाहता हूँ।

[सम्भावित रचनाकाल 1940-1942। तारसप्तक मे प्रकाशित]

खोल आँखें

जिस देश प्राणो की जलन मे
एक नूतन स्वप्न का सचार हो,
ओ हृदय मेरे, उस ज्वलन की भूमि मे बिछ जा स्वय ही
औ' तडपकर उस निराले देश मे तू खोल आँखें।
देख—जलते स्पन्दनो मे क्या उलझता ही गया है,
जो नयी चिनगारियाँ
नव स्वप्न का आलोक ले
उत्पन्न होती जा रही है,
उन सबलतम, तीव्र, कोमल देश की
चिनगारियो मे
जो खिले है स्वप्न रक्तिम,
देख ले जी-भर उन्हे तू।
उस असीम विकल रस को पी स्वय भी।
वह महा-व्याकुल अनावृत ज्ञान-लिप्सा
रख रही निज मे अनावृत एक सपना—
सहस्रो स्वर्गीय स्वप्नो से बृहत्तर
स्वप्न का वह व्योम नीला
प्राण-पृथ्वी पर झुका है।
उस महा-व्याकुल अनावृत ज्ञान-लिप्सा
के क्षितिज पर
जो खिचा है स्वप्न--
श्रावण-साँझ के वितरित घनो पर
अमित, नीला, जामुनी, अति लाल, सुन्दर
दिवस की बरसात को सूर्यास्त का चुम्बन
कि ऐसा अद्वितीय
मधुरतम
आश्चर्यमय।
वह ज्ञान-लिप्सा-क्षितिज-सपना
रे, वही तुझमे अनेको स्वप्न देगा।
औ' अनेको सत्य के शिशु
नव हृदय के गर्भ मे द्रुत
आ चलेंगे।

आत्मा मेरी—
उस ज्वलन की भूमि मे तू स्वय बिछ ले
देख, जलते स्पन्दनो मे क्या उलझता ही गया है।

[सम्भावित रचनाकाल 1940-1942। तारसप्तक मे प्रकाशित]

अशक्त

क्या हमारे भाव शब्दातीत है ?
या तुम्हारा रूप भावातीत है ?
हम न गा सकते तुम्हारा गीत है
वह हृदय गम्भीर, नीरव सिक्त है !

यह विशद जीवन कि जो आकाश-सा
या कि निर्झर-सा चपल लघु तीव्र है,
क्या पूर्ण है ? क्या तृप्ति पाता शीघ्र है,
वह ग्रीष्म-सा है या मदिर मधुमास-सा ?

हम लिखे कविता विरह पर, दुख पर
या मधुर आराधना पर, युद्ध पर,
या रचे विज्ञान जीवन के बने—
प्रश्नमय जो अग सन्तत क्रुद्ध पर ?
खीच ले हम चित्र जीवन मे बहे
रम्य मिश्रित रग-धारा के नवल,
चकित हो ले, उल्लसित हो ले कभी
दुख ढो ले तत्त्व-चिन्ता कर सकल।

किन्तु यह सब तो सतह की चीज है,
भार बन मेरे हृदय पर छा रही।
या कि बहते सरित के ऊपर तहे
बर्फ की जमती चली ही जा रही।

पान्थ है प्यासा, थका-सा धूप मे
पीठ पर है ज्ञान की गठरी बडी।
झुक रही है पीठ, बढता बोझ है
यह रही बेगार की यात्रा कडी।

अर्थ-खोजी प्राण ये उद्दाम हैं,
अर्थ क्या ? यह प्रश्न जीवन का अमर।
क्या तृषा मेरी बुझेगी इस तरह ?
अर्थ क्या ? ललकार मेरी है प्रखर।

जबकि ऐसा ज्ञान मेरे प्राण मे
तृप्ति-मधु उत्पन्न करता ही नही,

जबकि जीवन मे मधुर सम्पन्नता,
ताज़गी, विश्वास आता ही नही,

जबकि शकाकुल तृषित मन खोजता
बाहरी मरु मे अमल जल-स्रोत है,
क्यो न विद्रोही बने ये प्राण जो
सतत अन्वेषी सदा प्रद्योत है!

जबकि अन्दर खोखलापन कीट-सा
है सतत घर कर रहा आराम से,
क्यो न जीवन का वृहद अश्वत्थ यह
डर चले तूफान के ही नाम से!

[सम्भावित रचनाकाल 1940-1942। **तारसप्तक** मे प्रकाशित]

मेरे अन्तर

मेरे अन्तर, मेरे जीवन के सरल यान,
तू जबसे चला, रहा बेघर,
तन गृह मे हो, पर मन बाहर,
आलोक-तिमिर, सरिता-पर्वत कर रहा पार!
वह सहज उठा ले चला सुदृढ तपते जीवन का महा ज्वार,
उसके द्रुत-गति प्रति पदक्षेप से झकृत हो उठ रहा गान,
जो नव्य तेज का भव्य भान।
घर की स्नेहल-कोमल छाया मे रहा महा चचल अधीर।
वे मृदुल थपकियाँ स्नेहभरी,
वे शशि-मुस्काने शुभकरी,
सबको पाया, सबको झेला पर स्वय अकेला बढा धीर!
जीवन-तम को सगीत-मधुर करता उर-सरि का वन्य नीर,
ऐसा प्रमत्त जिसका शरीर, उन्मत्त प्राण-मन विगत-पीर!!

यह नही कि वह था तुग पुरुष
जो स्वय पूर्ण गत-दु ख-हर्ष
पर ले उसके घन ज्योतिष्कण जो बढा मार्ग पर अति अजान।
उसके पथ पर पहरा देते ईसा महान् वे स्नेहवान्।
छाया बनकर फिरते रहते वे शुद्ध बुद्ध सम्बुद्ध प्राण!!

यह नही कि करता गया पुण्य,
उसका अन्तर था सरल वन्य,
तम मे घुसकर चक्कर खाकर वह करता गया अबाध पाप।
अपनी अक्षमता मे लिपटी यह मुक्ति हो गयी स्वय शाप।

पर उसके मन मे बैठा वह जो समझौता कर सका नही,
जो हार गया, यद्यपि अपने से लडते-लडते थका नही
उसने ईश्वर-सहार किया, पर निज ईश्वर पर स्नेह किया।
स्फुरणा के लिए स्वय को ही नव स्फूर्ति-स्रोत का ध्येय किया।
वह आज पुन ज्योतिष्कण हित
घन पर अविरत करती प्रहार,
उठते स्फुलिग
गिरते स्फुलिग
उन ज्योति-क्षणो मे देख लिया
करता वह सत्य महदाकार!
सन्नद्ध हुआ वह ज्वाल-विद्ध करने को सारा तम-प्रसार,
वह जन है जिसके उच्च-भाल पर
विश्व-भार, औ' अन्तर मे
नि सीम प्यार!!

[सम्भावित रचनाकाल 1940-1942। **तारसप्तक** मे प्रकाशित]

मृत्यु और कवि

घनी रात, बादल रिमझिम है, दिशा मूक, निस्तब्ध वनान्तर,
व्यापक अन्धकार मे सिकुडी सोयी नर की बस्ती, भयकर
है निस्तब्ध गगन, रोती-सी सरिता-धार चली वहराती,
जीवन-लीला को समाप्त कर मरण-सेज पर है कोई नर।
बहुत सकुचित छोटा घर है, दीपालोकित फिर भी धुँधला,
वधू मूर्च्छिता, पिता अर्द्ध-मृत, दुखिता माता स्पन्दनहीना।
घनी रात, बादल रिमझिम है, दिशा मूक, कवि का मन गीला
'यह सब क्षणिक, क्षणिक जीवन है, मानव जीवन है क्षणभगुर',
ऐसा मत कह मेरे कवि, इस क्षण सवेदन से हो आतुर
जीवन-चिन्तन मे निर्णय पर अकस्मात् मत आ, ओ निर्मल!
इस वीभत्स प्रसग मे रहो तुम अत्यन्त स्वतन्त्र निराकुल,
भ्रष्ट न होने दो युग-युग की सतत साधना महाराधना,

इस क्षण - भर के दु ख-भार से, रहो अविचलित, रहो अचचल।
अन्तर्दीपक के प्रकाश मे विनत - प्रणत आत्मस्थ रहो तुम,
जीवन के इस गहन अनल के लिए मृत्यु का अर्थ कहो तुम।

क्षणभगुरता के इस क्षण मे जीवन की गति, जीवन का स्वर,
दो सौ वर्ष आयु यदि होती तो क्या अधिक सुखी होता नर?
इसी अमर धारा के आगे बहने के हित यह सब नश्वर,
सृजनशील जीवन के स्वर मे गाओ मरण-गीत तुम सुन्दर।
तुम कवि हो, ये फैल चले मृदु गीत निबल मानव के घर-घर
ज्योतित हो मुख नव आशा से, जीवन की गति, जीवन का स्वर!

[सम्भावित रचनाकाल 1940-1942। **तारसप्तक** मे प्रकाशित]

नूतन अहं

कर सको घृणा
क्या इतना
रखते हो अखण्ड तुम प्रेम?
जितनी अखण्ड हो सके घृणा
उतना प्रचण्ड
रखते क्या जीवन का व्रत-नेम?
प्रेम करोगे सतत? कि जिससे
उससे उठ ऊपर बह लो
ज्यो जल पृथ्वी के अन्तरग
मे घूम निकल झरता निर्मल वैसे तुम ऊपर बह लो
क्या रखते अन्तर मे तुम इतनी ग्लानि
कि जिससे मरने और मारने को रह लो तुम तत्पर
क्या कभी उदासी गहिर रही
सपनो पर, जीवन पर छायी
जो पहना दे एकाकीपन का लौह वस्त्र, आत्मा के तन पर?
है खत्म हो चुका स्नेह-कोष सब तेरा
जो रखता था मन मे कुछ गीलापन
और रिक्त हो चुका सर्व-रोष
जो चिर-विरोध मे रखता था आत्मा मे गरमी, सहज भव्यता,
मधुर आत्म-विश्वास।
है सूख चुकी वह ग्लानि

के बाद हृदय पुसत्वहीन,
अन्तर्मनुष्य
रिक्त-सा गेह
दो लालटेन-से नयन दीन,
निष्प्राण स्तम्भ
दो खडे पाँव
लकडी का खोखा वक्ष रिक्त,
मस्तिष्क तेल
की है मशीन
ससार-क्षेत्र है तैल-सिक्त ।
दिन के बुखार
रात्रि की मृत्यु
के बाद हृदय दु ख का नरक,
रात्रि के शून्य
दो देह युक्त—
दो रिक्त प्राण व्यग्य मे गर्क ।

[सम्भावित रचनाकाल 1940-1942 । **तारसप्तक** मे प्रकाशित]

पूँजीवादी समाज के प्रति

इतने प्राण, इतने हाथ, इतनी बुद्धि
इतना ज्ञान, सस्कृति और अन्त शुद्धि
इतना दिव्य, इतना भव्य, इतनी शक्ति
यह सौन्दर्य, वह वैचित्र्य, ईश्वर-भक्ति,
इतना काव्य, इतने शब्द, इतने छन्द—
जितना ढोग, जितना भोग है निर्बन्ध
इतना गूढ, इतना गाढ, सुन्दर जाल—
केवल एक जलता सत्य देने टाल।
छोडो हाय, केवल घृणा औ' दुर्गन्ध
तेरी रेशमी वह शब्द-सस्कृति अन्ध
देती क्रोध मुझको, खूब जलता क्रोध
तेरे रक्त मे भी सत्य का अवरोध
तेरे रक्त से भी घृणा आती तीव्र
तुझको देख मितली उमड आती शीघ्र
तेरे ह्रास मे भी रोग-कृमि है उग्र
तेरा नाश तुझ पर क्रुद्ध, तुझ पर व्यग्र ।

मेरी ज्वाल, जन की ज्वाल होकर एक
अपनी उष्णता से धो चले अविवेक
तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ
तेरा ध्वस केवल एक तेरा अर्थ।

[सम्भावित रचनाकाल 1940-1942। **तारसप्तक** मे प्रकाशित]

नाश-देवता

घोर धनुर्धर, बाण तुम्हारा
सब प्राणो को पार करेगा,
तेरी प्रत्यचा का कम्पन
सूनेपन का भार हरेगा।
हिमवत्, जड, नि स्पन्द हृदय के
अन्धकार मे जीवन - भय है।
तेरे तीक्ष्ण बाण की नोको
पर जीवन - सचार करेगा।

तेरे क्रुद्ध वचन बाणो की
गति से अन्तर मे उतरेंगे,
तेरे क्षुब्ध हृदय के शोले
उर की पीडा मे ठहरेंगे।
कोपित तेरा अधर - सस्फुरण
उर मे होगा जीवन - वेदन,
रुष्ट दृगो की चमक बनेगी
आत्म-ज्योति की किरण सचेतन।

सभी उरो के अन्धकार मे
एक तडित् वेदना उठेगी,
तभी सृजन की बीज-वृद्धि हित
जडावरण की मही फटेगी।
शत - शत बाणो से घायल हो
बढा चलेगा जीवन - अकुर,
दशन की चेतन किरणो के
द्वारा काली अमा हटेगी।

हे रहस्यमय, ध्वस - महाप्रभु,
जो जीवन के तेज सनातन,
तेरे अग्निकणो से जीवन,
तीक्ष्ण बाण से नूतन सर्जन।

हम घुटने पर, नाश - देवता,
बैठ तुझे करते है वन्दन,
मेरे सिर पर एक पैर रख
नाप तीन जग तू असीम बन।

[सम्भावित रचनाकाल 1940-1942। **तारसप्तक** मे प्रकाशित]

सृजन-क्षण

जो कि तुम्हारे गर्त बने है अक्षमता के,
उन पर लहराकर भरता मै एक अवज्ञा।
वही गभीर अतल होते है,
वे ही सदा अमल होते है,
फिर जाती जिन पर वन्या-सी मेरी प्रज्ञा।
जबकि स्वय मै सुज्ञ बना हूँ
अज्ञो का अन्तर पाकर ही,
सदा रहूँ उनका चाकर ही
वे कि जिन्होंने आत्मरक्त से मुझको सीचा।
कैसे हँस सकता हूँ मैं उन पर ही।
उनकी मर्यादाएँ पाकर
दरिया अमर्याद लहराया,
अपने स्वर मे स्वरातीत गीता दुलराता
मैने अरे उसी को पाया।
वे अपूर्णताएँ, ईर्ष्याएँ
मुझमे घुलकर धुलकर बनती सूर्य सनातन,
यह छिछलापन लघु अन्तर का
क्षण-क्षण नूतन को करता है शीघ्र पुरातन।
यो नूतन की विजय चिरन्तन,
महामरण पर महाजन्म का उदय क्षिप्रतर,
महाभयकर से बहता है परम शुभकर।
जो खण्डित औ' भग्न रहे है,
वे अखण्ड देवता उन्ही के
मुझमे आकर मग्न हुए है।
ये आँसू, ये चिन्ता के क्षण
मुझमे आकर, पा परिवर्तन
जग के सम्मुख नग्न हुए है।

ओ रे, भग्न नग्न मलिनो के
खण्डित उग्र विकल के सागर,
ओ कुरूप वीभत्स सनातन—
की प्रतिनिधि प्रतिभा के आगर,
अरे, अशिव बौने मस्तक के
चिरविद्रूप स्वप्न आत्मान्तक,

अरे अमगल हास, घृणित आनन्द,
मरण के सदा उपासक,
भय मत खाओ, अरे पिशाचो,
जबकि सत्य तुम बने हुए हो।

अन्धकार मे, किसी आड मे,
किसी झाड की छाया मे तुम,
क्यो छिपते हो ? अरे भयकर
व्रण-से जग की काया मे तुम।
मै स्वागत करता हूँ सबका,
क्योकि प्रकृति से सूर्य-सत्य हूँ।
और जबकि तुम भव्य तने हो
मुझमे जलते स्वर्ण बनोगे
ज्वालाओ का नग्न नृत्य हूँ,

नभ की पृष्ठभूमि पर मेरी ज्वाला की छाया फिरती है,
काल झुलसता है, मुझसे सब तसवीरे बनती गिरती है।
पर यह कैसे ? जबकि तुम्हारे
लिए बना हूँ मै प्रखर-प्रभ।
मेरे स्वर्ण-स्पर्श से आकुल
होता है अपार जीवन-नभ।

मै उत्साह अनन्त, और तुम क्यो उदास अति अक्षम ?
मेरी ममता हो जाती है पर कठोर औ' निर्मम।
गर्वशील मुझको मत समझो,
किन्तु भार गुरु पाकर मैं भी
निज नयनो मे हुआ भव्य हूँ, उत्साहित हूँ।
यह उत्साह सफेद ज्वाल है
जो कि कलुष का महाकाल है,
इसमे पडकर तुम भी श्वेत बनोगे तपकर।
नाप कौन पायेगा तुमको
आओगे जब इससे नपकर।
मै केवल तुम पर जीवित हूँ
मेरी साँस, किन्तु तेरा तन,
मेरी आस और तेरा मन,
तू है हृदय और मै लोचन

मै हूँ पूर्ण, अपूर्ण झेलकर,
मै अखण्ड, खण्डित प्रतिभा पर।
मैं मैली आँखों के अन्दर ज्योति गुप्त हूँ।
मै मैले अन्तर के तल मे
घन सुषुप्त आत्मा प्रतप्त हूँ
मै हूँ नम्र धूलि के कण-सा,
मै अजस्र पृथ्वी के मन-सा,
घन मृत्कण मे सृजन-क्षण मैं,
मलिनों मे रह अग्नि-बिन्दु हूँ,
जीवन की सौन्दर्य-शान्ति मे
नभोविहारी शरद-इन्दु हूँ।
शुभ्रारुण किरणो से बिम्बित
रजत-नील सर उत्कट उज्ज्वल।
जिसमे अनलोर्मिल, अनिलोर्मिल
कमल खिले है वे रक्तोत्पल।
मनोमूर्ति यह चिरप्रतीक है।
ध्येय-धृष्ट उर की ज्वालामय।
मेरी प्रज्ञा का सृजन-क्षण
ऐसा उष्ण शुभकर तन्मय।

[सम्भावित रचनाकाल 1940-1942 । तारसप्तक मे प्रकाशित]

अन्तर्दर्शन

मै अपने से ही सम्मोहित, मन मेरा डूबा निज मे ही।
मेरा ज्ञान उठा निज मे से, मार्ग निकाला अपने से ही।।
मैं अपने मे ही जब खोया तो अपने से ही कुछ पाया।
निज का उदासीन विश्लेषण आखो मे आँसू भर लाया।।
मेरा जग से द्रोह हुआ पर मैं अपने से ही विद्रोही।
गहरे असन्तोष की ज्वाला सुलग जलाती है मुझको ही।।
आत्मवचना-पीडित मेरा तिमिर-मगन उर बिम्बित मुख पर।
सिहर उठा मैं अश्रु-मलिन-मुख, अपने अन्तर के दर्शन कर।।
मैंने मरण-चिन्तना की, जब जीवन का था दर्द बढ चला।
मानवता का कटु आलोचक अपने को ही दण्ड दे चला।।
मेरा मन गलता निज मे जब अपने से ही हार खा चुका।
दारुण क्षोभ-अग्नि मे अपना प्रायश्चित्त-प्रसाद पा चुका।।

रक्त-स्रोत अन्तर से फूटा—लाल-लाल फव्वारा दुख का।
आत्म-दाह की ज्वलित पिपासा के युग मे आया क्षण सुख का।।
रक्त-स्रोत अन्तर से फूटा, मेरा गात शिथिल हिम-शीतल।
मैने साक्षात् मृत्यु देख ली एक रात सपने मे उज्ज्वल।।
मैने यह जब कहा किसी से तो कहलाया अपना खूनी।
जीवन-दाह-शान्ति-हित किसकी गोद अपेक्षित ऊनी-ऊनी।।

[सम्भावित रचनाकाल 1940-1942। **तारसप्तक** मे प्रकाशित]

आत्म-संवाद

(यह एक नाटकीय आत्म-सवाद है जिसमे प्रकाश मे बोलने के वाक्य ब्रैकेट मे नही है। जो ब्रैकेट मे है वे यथार्थ आत्म-स्वीकृतियाँ है, और जो उसके बाहर है वे उसके यथार्थ रेशनलाइज़ेशन्स है। बाहरी जिन्दगी मे ये रेशनलाइज़ेशन्स काम मे आते है, किन्तु कुछ क्षणो मे मन की यथार्थ अवस्था एकाएक खिच आती है। तब इन दोनो का विरोध मन मे चित्र-रूप-सा सामने आता है। उसी को नाटकीय ढग से पेश किया गया है।—ले)

आज छन्दो मे उमडती आ रही है बात
जो कि सादे गद्य मे खुलती रही
जो कि साधारण सडक चलती रही
आज छाती मे घुमडती आ रही है बात
रास्ता ह, पैर है, औ' धैर्य चलता जा रहा है
(किन्तु उर मे क्यो उदासी शाप-सी
प्रत्येक चेहरे पर लिपी जो राख-सी)
प्राण है, औ' बुद्धि का भी कार्य चलता जा रहा है
वक्ष है, बल है, हृदय मे ओज भी तो कम नही है
(किन्तु उर मे अश्रु है अति म्लान भी
विवशता का है सहज अनुमान भी)
स्नेह है, आदर्श है, औ' तेज भी तो कम नही है
तर्क हे औ' तर्क का राक्षस हमारे बाहु मे है।
(किन्तु चिन्ता गुनगुनाती असगुनी
मौन ले बैठी व्यथा बनकर मुनी)
चन्द्र का माधुर्य उर के राहु मे है।
चुप रहो तुम, तीर-सा आगे चला जाता सदा मैं।
(भुनभुनाता यह हृदय चुपचाप है,

गुनगुनाता जो मनुज का शाप है,)
निर्झरों-सा मैं चपल बहता चला गाता सदा मै ।
मूर्ति मैं भव्योच्च, मृदु-गम्भीर, तन्मय, पूजनीया
(किन्तु उर है हिम-कठिन नि सज्ञ भी
हृदय मे शका भरी है अज्ञ-सी)
सत्य की व्याख्या स्वय हूँ !! (जो सदा है शोधनीया)
सफल हूँ (पथभ्रष्ट हूँ) अविजेय हूँ (आधीन हूँ मैं)
हृदय मे घुन-सा लगा रहता
(पाप यह दारुण जगा रहता)
मै महाशोधक महाशय सत्य-जल का मीन हूँ मै
सत्य का मै ईश औ' मै स्वप्न का हूँ परम स्रष्टा
(किन्तु सपने ? प्राण की है बुरी हालत
और जर्जर देह, यह है खरी हालत)
उग्र-द्रष्टा मै स्वय हूँ जबकि दुनिया मार्ग-भ्रष्टा ।

[सम्भावित रचनाकाल 1940-1942 । **तारसप्तक** मे प्रकाशित]

व्यक्तित्व और खण्डहर

(व्यक्तित्व किन्ही भी कारणो से विकेन्द्रित हो, परन्तु उसके लिए पुकार अवचेतन से, जो कि जीवन-शक्ति का रूप है, निकट सम्बन्ध रखती है। वह समग्रता की ओर, मनस्सगठन की ओर का प्रयत्न केवल बुद्धिगत ही नही, शुद्ध जीवनगत है। परन्तु यह विकेन्द्रीकरण अन्तरर्बाह्य-विरोध, परिस्थिति-विरोध, आत्मविरोधो, के द्वारा शुरू होता है। यह विकेन्द्रित व्यक्तित्व, यानी व्यक्तित्व का खण्डहर, किसी अबूझे समय मे अपने गत वैभव पर रो उठता है। उसी का कल्पनात्मक चित्रण निम्न कविता है।—ले)

खण्डहरो के मूक औ' निस्पन्दन-से
उमडे अकेले गीत।
ये भूत-से निर्देह भयकर
बेचैन काले व्यथित आतुर
तिमिर नूपुर के अकेले स्वर,
उमडे अकेले गीत।

हुए चचल भयद श्यामल
भूत सम आकुल अकेले गीत
रात मे जब छा चुका खण्डहर तिमिर मे
तिमिर खण्डहर मे,

घूमते उस काँपती-सी वायु के स्वर मे
अकेले गीत !
तम-आवरण मे लुप्त झरती धार के तट पर
रागिनी मे म्लान-तन-मन करुण रोदन-गीत
भर चला जाता विपिन के पात-पुष्पो मे प्रकम्पन
शिथिल उर गम्भीर सिहरन।
ये अकेले गीत
दब चुकी जो मर चुकी है आत्मा,
खत्म जो हो ही गयी आकाक्षा,
व्यक्ति मे व्यक्तित्व के खण्डहर।
गान कर उठते उसी के गीत।
ये अकेले गीत, स्वर-लयहीन गीत
मीन-से बेचैन, लोचनहीन गीत।
शीत रजनी काँप उठती
भर विजन के गीत, खण्डहर गीत
ये अकेले गीत, पत्थर गीत, हिम के गीत
अन्धी गुफा के गीत !
बेचैन भूतो-से, व्यथित के स्वप्न-से वे गीत !
वे दुष्ट औ' दयनीय गीत,
कमज़ोर औ' कमनीय गीत,
उन्माद की तृष्णा सरीखे गीत !
स्वप्न की विक्षुब्ध सरिता के भयानक गीत !
निशि के अकेले औ' अचानक गीत !

विपिन औ' निर्झर,
तिमिर के घन आवरण मे, भावना के इस मरण मे
है हुए भय-स्तब्ध, तन निस्पन्द, दिग् रवहीन
क्योकि आलोडित हुआ विक्षुब्ध गीतो का महा तूफान,
ले तीक्षण स्वर-सागर-उफान !
तम शून्य मे नभ के प्रवाहित हो चला भूचाल-सा यह गान
इस शीत स्वर के
कष्टदायी स्पर्श-शर-निर्झर प्रखर से
हुआ आप्लावित रुदित वन का सतत कमज़ोर प्रान्तर-प्राण
दब चुकी जो, मर चुकी है आत्मा,
खत्म जो हो गयी, आकाक्षा।
आज चढ बैठी अचानक, भूत-सी इस काँपते नर पर
विक्षुब्ध कम्पन बन चढी जाती सरल स्वर पर
प्रश्न लेकर, कठिन उत्तर साथ लेकर,

रात के सिर पर चढी है, नाश का यह गीत बनकर।
हँस पडेगी कब सहज प्रकाश का यह गीत बनकर !

[सम्भावित रचनाकाल 1940-1942। **तारसप्तक** मे प्रकाशित]

मैं उनका ही होता

मैं उनका ही होता, जिनसे
मैने रूप-भाव पाये है।
वे मेरे ही हिये बँधे है
जो मर्यादाएँ लाये हैं।
मेरे शब्द, भाव उनके है,
मेरे पैर और पथ मेरा,
मेरा अन्त और अथ मेरा,
ऐसे किन्तु चाव उनके हैं।
मैं ऊँचा होता चलता हूँ
उनके ओछेपन से गिर-गिर,
उनके छिछलेपन से खुद-खुद,
मैं गहरा होता चलता हूँ।

[सम्भावित रचनाकाल 1940-1942। **तारसप्तक** मे प्रकाशित]

हे महान्!

हे महान् ! तव विस्तृत उर से
दृढ परिरम्भण की क्षमता दो,
तव स्नेहोष्ण हृदय का स्पन्दन
सुन पाने की आकुलता दो।
जिससे विवश रहस्य खोल दे।
सत्य कि विद्युत् विह्वलता दो।
जो तुझसे सघर्ष कर सके
ऐसी उर मे कोमलता दो।

तुझसे कर संघर्ष, स्पर्श से
तेरे नव चेतनता आये,
तुझसे करके युद्ध, क्रुद्ध हो
जीवन यह ऊँचा उठ जाये।
तेरे तन के अणु-अणु से तब
निरावरण हो अन्तर्ज्वाला,
एक-एक अणु सत्य खोल दे
ऐसी सतह स्वयं चल आये।
तेरे उर की मर्मज्वाल को
मुक्त खोलने की ममता दो,
हे महान्! तव विस्तृत उर से
दृढ परिरम्भण की क्षमता दो।

[सम्भावित रचनाकाल 1940-1942। **तारसप्तक** में प्रकाशित]

जीवन जिसने भी देखा है

(1)

जीवन जिसने भी देखा है
क्या पाया है, क्या लेखा है?
क्या अपने में तृप्त हो चला?
क्या संघर्षण-कोलाहल के
जीवन में वह शक्ति खो चला?
उतरी साँझ शान्त-कानन में
घर की याद दुलार-भरी सी,
किन्तु सतत आलोडित उर की
बुझने वाली प्यास न ऐसी।
प्रथम किरण रवि की जो तैरे
वन-सरिता की मृदु लहरी पर
सुन्दर है, पर कैसे ठहरे
मन उद्विग्न अग्निमय उस पर।
उलझन भरे जगत् के नाना
बन्धन तोड बाँधने वाला,
अपने प्यासे अन्तर से जो
जग को प्यासा करने वाला,
कहीं न रुक सकता वह मानव!
स्निग्ध निशा के ज्योत्स्नाचल में

(2)

बाल वयस की मधुर प्यास जो
नारी-रूप पान करती है,
तृषित नवल आँखो को रमणी
मधुर-रहस्य-दान करती है,
व्यथित प्रणय की रातो मे—
जिसने अपना ही सुख देखा है
चन्द्रोज्ज्वला नदी मे तन्मय—
—उज्वल मधुर स्वप्न-रेखा है
जिसने अपनी नीलिभ आशा
मोह-मिलन-मधु ही लेखा है
जीवन के अपमान अनेको—
कई पराजय-नरक व्यथा से
वे मुँह मोडे, तो क्या पाया
विविध कला से स्नेह कथा से!
प्यार किया औ' किया पाप भी,
फिर भी चिर उन्मुक्त रहे जो,
अपनी आत्मा की मदिरा से
पथ के काँटे सिक्त करे जो,
उनसे रक्त बहे तो बह ले,
रुक न सकेंगे चलने वाले!
एक दिव्य आभा के घेरे
चले शक्ति-भर स्वप्न सुनहले!!

(3)

जीवन की प्रत्येक परिस्थिति
धूप-छाँह-सी, स्वर्ग-नरक-सी,
जिसके लिए बनी है सुन्दर
काव्य-कथा-सी एक व्यथा-सी,
वह निरपेक्षित कलाकार-सा,
सब पर अकन करता चलता।
अपने ही गुण-दोषो पर हो
मुग्ध, सदा जो बढता चलता।
उसके उर की आग न ऐसी
जो बुझ सके स्निग्ध-वक्षो पर!
वह है ऐसी प्यास अनोखी
छोड चली जाती अपना घर!!
वर्षा के बिखरे श्यामल
मेघो पर रक्त किरण-धारा-सी।

जीवन आलोकित करती है
निश्चित भव्य सतत ज्वाला-सी—
कोटि कोटि नारी-वक्षो की
जिनमे मधुमय रूपज्ज्वाला,
उससे कही अधिक सम्मोहक
रवि की सान्ध्य सुनहली माला
उसके अन्तर मे जलती है
एक सुदूर स्वप्न-सी सन्तत
जीवन एक मधुर ज्वाला है
चिर-स्वतन्त्र, व्योमोन्मुख, उन्नत !

(4)

जीवन मे चलते चलते क्या
देखा है, क्या क्या पाया है ?
तुम्हे पूछना हो तो राही
पूछ चलो स्वाधीन प्रश्न कुछ,
उसका मर्म समझना हो तो,
अन्तर की पहचान करो कुछ।
क्या वह निज मे तृप्त हो चला ?
क्या सघर्षण-कोलाहल के
जीवन मे वह शक्ति खो चला ?
यदि उत्तर मिल जाय कि निश्चय
द्विगुणित हो जिससे नि सशय,
तो उस सन्त-चरण-रज मे तुम
लोट पडो पुलकित श्रद्धामय !
पावन-रेणु चढाकर सिर पर !
नाच चलो, ले लोचन जलमय !
स्नान करो इस रेणु-तीर्थ मे !
उर-पवित्र, गद्गद् तव स्वर हो !!
जीवन के मधुमय अमृत से
तेरा स्वप्न-यथार्थ अमर हो !

[**विश्ववाणी**, अगस्त 1941 मे प्रकाशित। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

सहज गति से

सहज गति से मै चला आया तुम्हारे पास
जैसे रात सन्ध्या को स्वय मे मग्न करने
मधुरतम गोधूलि बेला मे
क्षितिज के पास-जैसे रात।

और उस ज्योत्स्ना-विचुम्बित रात की वे सुरभि-छायाएँ
बिछी थी स्वप्न-सी उत्कट गहन झिलमिल।
कि जैसे मैं तुम्हारे वक्ष-ज्योत्स्ना पर विकल हो
स्निग्ध स्वप्निल मधुर छाया-सा बिछा आत्मीय।

जो चली आयी निरन्तर
एक प्यासी ज्वलत् आस्था,
तृषित आराधन,
सजल विश्वास,
पुलकित हो पिघल आया तुम्हारे वक्ष पर के स्पर्श के कारण।

युग युगो की प्यास बहकर नयन मे से अश्रु उज्ज्वल
बन रही, या—
उस अतल-क्षण ज्योत्स्ना-गगा
नवल हो
हृदय मे से बह उठी थी।
नयन के कण
हो गये थे
तारकामय, चाँदनीमय, फूल-दलमय रात-नभ के
एक प्रिय शिशु।
पा चुके थे फूल से सौरभ,
निशा की चाँदनी से नवल आभा,
और तेरे वक्ष से
वह उष्णतम सुकुमारता, वह अतलतम प्रेमालता।

अवनि के उन कुसुम-अधरो को
छुए ज्यो प्रात-चुम्बन
प्रात-परिरम्भण अवनि पर
छा गया था नवल प्रात-सा तुम्हारे वक्ष पर ही
एक आलिगन!

[सम्भावित रचनाकाल 1941-42। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

लाल सलाम

अरे, आज काले सागर के, वोल्गा के उस पार
जो प्रकाश के दरिया का लहरा उट्ठा है ज्वार
उससे वक्ष हुआ जन-जन का उत्साहित अनिवार
मानो नया सत्य आया दुनिया मे पहली बार।
मानव-समता की सस्कृति की बजी नफीरी आज
अरे वहाँ से जिसको कहते मज़दूरो का राज।
लाल सोवियत देश कि नूतन मानव की वह आग
दुनिया के मजलूमो का वह जलता एक चिराग।
फासिस्टो की अन्धकार-मेघो की सेना चीर
चली हजारो लाल किरण-सरिताएँ तीव्र अधीर।
वोल्गा के उस पार उगा है लाल सूर्य अनिवार
फासिस्टो के कुहर-जाल को भेद रहा इस बार,
जिसकी अरुण स्वर्ण किरणे प्रतिबिम्बित हैं सब दूर
पृथ्वी की प्रत्येक नदी की लहरो मे भरपूर।
मानव-समता की सस्कृति के ये रणमत्त जुझार
ये कज़ाक, उज़बैक व रूसी उक्रैनी तैयार।
ये किसान के मज़दूरो के पुत्र रक्त से स्नात,
एक सचाई के सैनिक, ये विश्व-क्रोध-आघात।
मानव-समता की सस्कृति की नदियाँ नीपर डॉन
है पवित्र उतनी ही जितनी गगा-सिन्धु महान।
रामायण के एक युद्ध मे हुई राम की कीर्ति,
मानवता के महायुद्ध मे आदर्शों की जीत।
साम्य-सभ्यता के सगर मे मज़दूरो की शान,
मजलूमो का हुआ भयकर क्रोध, क्षोभ, अभिमान।

अरे, आज काले सागर के, वोल्गा के उस पार
जो प्रकाश के दरिया का लहरा उट्ठा है ज्वार
उसमे नये सत्य का यौवन, प्रात पवन-सा मुक्त
एक चुनौती निर्भय, चुम्बन एक हृदय-सयुक्त।
मानवता की अग्नि-शक्तियो का जलता आलोक
तरुण कपोलो पर प्रतिबिम्बित, विश्व-स्नेह बेरोक।
उसके भुजदण्डो मे दौडा एक भयकर क्रोध,
वज्र वक्ष मे प्रतिध्वनित है एक घोर प्रतिशोध।
ऐसे नये सत्य का यौवन, ज्यो गभीरतम राग
गूँज रहा, ले युग-युग के मानव की जलती आग।
तडिल्लता-सा चपल कौंधनेवाला निर्भय छन्द,
दारुण भय उत्पन्न कि ऐसा भीम सत्य निर्बन्ध

नूतन यही सत्य चमका है मज़दूरो के देश,
फासिस्टी असत्य पर जय का यही साम्य आदेश,
मज़दूरो के क्रुद्ध सोवियत का है खूनी वेश।

अरे, आज काले सागर के, वोल्गा के उस पार
जो प्रकाश के दरिया का लहरा उट्ठा है ज्वार
कोई नयी सभ्यता है, वह सौ सूर्यों का प्रात,
अब तो सौ समुद्र, सौ नदियाँ, सौ चन्द्रो की रात।
पृथ्वी की छाती हो उट्ठी दुगुनी, दुगुना वेग,
और चौगुनी गति से फूटेगे अकुर औ' मेघ।
बरसाएँगे अपने अमृत जल का वैभव भार,
हरियाली रेगिस्तानो पर छायेगी सौ बार।
लाल क्रान्ति की लडनेवाली मजूर-सेना आम,
उनको, उनके स्त्री-पुरुषो को मेरा लाल सलाम।

[4 जून 1944 को बम्बई मे भारत-सोवियत सघ की पहली काग्रेस के लिए लिखी गयी। **लोकयुद्ध**, 11 जून 1944, मे प्रकाशित]

प्रथम छन्द

युगारम्भ के प्रथम छन्द ये।
पीले दाह-दग्ध मैदानो से युग-जीवन के मटमैले
तप्त क्षितिज पर
धुँधले, छितरे, गहरे, काले मेघ अन्ध ये।
तूफानी उच्छ्वास-गन्ध ले,
भावी के विकराल दूत है, काल-चिह्न ये।
दुनिया के आराम-नीद के मधु-स्वप्नो मे
क्षुब्ध, निपीडित, दमित भावनाओ के गहरे श्याम विघ्न ये।
शून्य श्वेत भयकर दुपहर के
सतत क्रुद्ध विस्तार, ताप मे
गहन अतल तक तप्त धूलि कण—
उनकी गहरी ऊष्ण सुरभि से
वायु वासना-व्याकुल चचल हो जाती
वह ज्यो तूफानी छाया मे मृदु क्रीडा करती
त्यो कविता के नृत्य-छन्द ये।
ये सघर्षातुर जीवन के आग मे रखे लौहदण्ड पर

उठती लौ है,
नीली उठती लाल ज्योति है,
घोर-श्याम-घन-घटा-मार्ग
एक सत्य की पीडा के चल तडित-चरण है अनिर्बन्ध ये ।
आज भविष्यत् सिंहद्वार के प्रवेश-पथ पर
एक भयकर तुमुल नाद है
आत्मद्वन्द्व का, जन-सगर का ।
व्यक्ति जूझता, समाज लडता,
काल काँपता ।
शब्द भाव से, भाव रूप से,
कला लक्ष्य से,
स्वप्न कर्म से,
बाधाहीन मुक्ति-सगर मे रक्तालकृत
एक मधुर उन्मुक्ति के लिए
रक्ताप्लावित ।
घन-गर्जन-सी जन-मन-दुन्दुभि के गुजित स्वर अनिर्बन्ध ये ।

ये जन की बलिदान-शक्ति की सागर-लहरो-से अपार है ।
अजन-श्याम निविड मेघो ने
नील-मलयगिरि की ग्रीवा को
सघन वक्ष-बन्धन मे जकडा ।
कही कान मे
युग-युग से जलती दावा-सी अपनी पीडा ।
वे सघर्षातुर मेघो की क्रान्ति-दूतिका, मृदु बयार है ।
मधुर परस से जिसके चौंका
दाह-दग्ध जन, उसने देखा—
आसमान मे उमड-घुमडकर चली आ रही
उसकी-जैसी जलती आत्मा की पुकार है ।
वे मानव की पीडित पावनता का उत्तेजित क्षोभित रण-तूर्य नाद है
दिन-भर की मेहनत से उमडे क्षुब्ध स्वेद का क्रान्तिवाद हैं,
क्रान्ति-सत्य है ।
जन-जन के अन्तर-मृदग मे सवेदित छन्दो के बल पर
काल नृत्य है ।
है अनथक प्रयास का गुजन अनिर्बन्ध ये ।
युगारम्भ के प्रथम छन्द ये ।

[**हंस** मे 1944 मे प्रकाशित । **धर्मयुग**, 1 नवम्बर 1964, मे 'आरम्भ' शीर्षक कविता इसी का एक पूर्व-प्रारूप है ।—स]

जीवन की लौ

जलते अगारे लाल बुझ चले
मन के ।
ज्यो कभी यकायक वायु ठहर जाती है
वन के उजले सूनेपन मे,
और घूरने लगते है बरगद पथराई आँखो से,
फैले रीतेपन की विराट् लहरो को,
त्यो मन के अन्दर प्राण खो चले ।
आँखो मे दो दीपो की लौ मन्द हुई कि शीत हुई,
या चली गयी ।
ज्यो आँख बचाकर मानव-बल,
व्यक्तित्व-कुहर मे से भागे,
ठण्डी दीवारे जीवन की निश-दिन जागे सूनेपन मे ।
या गगा समुद्र से लौटे,
औ' कठिन हिमालय की बर्फीली कडी शिला के
अन्तराल मे,
अटक समा जाये अनाम हो,
त्यो जीवन की लौ आँखो से लौट गयी ।
यह पैरो की विस्तृत यात्रा—
सम्पूर्ण तपस्या भरी चिलचिलाती आशा-सी
धूलि-धूसरित मीलो की सर्पिल रेखा,
सहसा आकर है सिमिट गयी पैरो के नीचे
झुकती नवती आधारहीन पटिया-सी
डाँवाडोल,
कि जिस पर कँपती जाँघे कँपते पाँव
देखकर सूनी गहराई नीचे-नीचे
वे पाँव कि जिन पर मनो बोझ जीवन का, मन का ।
यो यह जीवन की राह
एक गहरी खाई के
अन्धकार सूने मे लटकी ।
लम्बी सीमाओ पर बहता अविजेय,
सिन्धुनद-सा, जीवन-प्रवाह सहसा
बहते ही बहते लौट पडा है
वह पुन एक कोरा चक्कर बन बैठा
बरगद की मुडी हुई, सूखी, लम्बी औ' गोल हुई
काली शाखा-सा अर्थहीन, निष्पत्तिहीन ।
वह गिनती के अरबो-खरबो की गति दौडा,
पर रिक्त शून्य रह गया सिमिटकर

ऋण की, धन की सीमा-रेखा मे विलीन-सा
केवल माना हुआ एक सकेत युगो से ।
लम्बी सीमाओ पर बहता जीवन-प्रवाह,
उतना खाली है
जितना घिसी और बासी उपमाओ का
आकार, कि जो
मति के सम्मुख सुस्पष्ट नही होता,
शायद जो स्पष्ट नही होगा ।

[*हम*, नवम्बर 1944, मे प्रकाशित ।]

ये तुम्हारी

ये तुम्हारी भव्य दीवारे कठिनतम
लाल पत्थर की
और उसके बुर्ज
और विशद ऊँचाइयाँ दिखती जहाँ से
दूर विस्तृत पार यमुना के हरे मैदान
यह रुचिर मस्जिद नगीना
जो स्फटिक के स्तम्भ ऊँचे के सहारे
देखती है तारको को दूर—ऐसी भव्य ।
नीचे बह रही यमुना
उसी के वे विशद मैदान—
से बहुत ऊपर खडा तेरा चमेली बुर्ज,
ये तुम्हारा सगमर्मर सगमूसा
औ' विशद विस्तारवाले, भव्यतम सौन्दर्य के
दीवाने आम, आसपास दीवानेखास
है वही विस्तार ऊँचा, लाल पत्थर की कठिन
दीवार
स्फटिक से निर्मित हुआ जिनका रुचिर आकार
ऐसे भव्य ये प्रासाद,
है नही मुझसे बडे
इस वक्ष के अन्दर चली जो धुकधुकी
वहाँ कोई है कि जो ऐसा
भव्य महलो से अधिक ऊँचा रहा,
देखते हैं, गगन ऊपर

ये रुचिर प्रासाद तेरे ।
किन्तु चूमता आकाश के कोमल कपोल
नीचे धरा के मरस अचल को समेटे
जो
वक्ष के अन्दर सदा से बोलता है
धुकधुकी मे गति भरे
मैं तुम्हे अपने विशालाश्लेष मे—
बद्ध कब से ही किये, ओ भव्य सुन्दर,
ऐसी कई ऊँचाइयाँ
है छिपी मेरे हृदय के अन्तराल-निवेश मे,
चचल रही वे झाँकती भी रही बाहर
बन एक अखड आलोडित प्रवाह
चमकते सौन्दर्य का वह सिन्धु
है मुझी मे व्यग्र चचल
ये तुम्हारी भव्य दीवारे कठिनतम
लाल पत्थर की है नही मुझसे बडी ।

[सम्भावित रचनाकाल 1944-45 । **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

रबिन्द्रनाथ

रबिन्द्रनाथ,
विश्व के सतत प्रवाह के अनन्त साथ-साथ
आत्म-गीत से बहो,
मनुष्य-गीत से रहो
अनन्त-साँझ-रात-प्रात ।

विश्व-मातृ-उदर आज
नवल-ज्योति-बाल की प्रसूति-वेदना सुदीर्घ
काल-रेख के समान
सूक्ष्म-तीव्र ।
आज ओ रबिन्द्रनाथ
क्रुद्ध आसमान मे हिले विशुद्ध आत्म-गीत साम्य-गीत,
हिले प्राण, हिलेऽ प्रीत,
हिले मनोज्ञ राग-मूर्ति साथ-साथ ।

मैं समझ चुका सहज
जब हृदय सजल अपार का अतल समुद्र-छोर
पर विभोर
जो अनन्त सघन नम्र, बरसने विपुल विकल,
जलधि मेघ-पक्ति श्याम
से अछोर,
उठ समुद्र-गर्भ से गिरे समुद्र-वक्ष पर
घनार्द्र मेघ-सा उदार मन विभोर
वह अतुल अकल्पनीय गाढ चम्बनेच्छु
वर्षणेच्छु प्राण सुविम्तार
सिन्धु के अथाह वक्ष पर झुके मिलन-प्रगाढ आसमान के
सजल मधुर प्रसार-सा सघन हृदय उदार।
वह कविर्मनीषि भान
जो कभी सुखद समय मनुष्य-सिन्धु पर विशाल
स्वर्ण-मेघ दीप्ति-जाल-सा महान्
हो उठे समुद्र-वक्ष स्वर्ण-दीप्त लहरपूर्ण
व्योम-बिम्ब से अछोर पुलक-क्षुब्ध सिन्धु-प्राण
मनुज-वक्ष का प्रकाश वह कविर्मनीषि भान ।

सान्ध्य व्योम के विशाल स्वर्ण-मेघ-शिखर बैठ
तुम सुदीर्घ-काय, श्वेत-वस्त्रवान्
उच्च-भाल, श्वेत-केश
अतल स्मित लिये अधर
करुण नील-मग्न नयन,
बीन के सहस्र-रन्ध्र मे प्रवाह भर अथाह
मनुज-प्राण की अनेक सजल घोर वेदना-तरग
श्वास मे भरे उँडेलते रहे अनेक राग,
विश्व सृष्टि के !

भाल पर अनन्त रेख
जो कि भाविनी विराट कार्य-मूर्ति
का अपूर्ण चित्र एक
आज ओ रबिन्द्रनाथ
तुम हमारे साथ-साथ
सदा बहो, सदा रहो हाथ-हाथ
जिस समीर ने तुम्हारे हृदय मे स्फुलिंग
भर दिया वही समीर
वही मम-हृदय-पीर

आज ओ रबिन्द्रनाथ
जो कि छोड गये कार्य
तुम विमुक्त
वही नम्र स्कन्ध पर उठा लिया है सहास
मेरे बडे भ्रात
तव तृषा उग चली, बढ चली
बन हमारी तीव्र प्यास
जो कि गगा तव सतल हिमाद्रि-गोद से झरी
वह बदल पाट आज
मेरे दीर्घ वक्ष की विशाल अवनि पर बही
सीच प्राण-कोष
पिघल चला
ज्यो कि बर्फ से पिघल गग-धार
विहर अनन्त स्थान मे समुद्र से किये प्यार
बह चली
यो भटक प्राणस्राव को
गगन दिखी एक
तव पुनीत गीत-हस की उडान।
शुद्ध भान
खिंची अन्त चित्र की विकास-रेख।

मै बदल चला सहास
दीर्घ प्यास
मुझे देखना अरे अनेक स्थान
अभी मुझे कई बार मरण, और प्राण प्राप्त
कई बार शुरूआत, कई बार फिर समाप्त
मुझे अभी गूँजना क्षितिज तीव्र वायु
मुझे अभी अनेक पर्वतो-उभार पर अनेक साँझ बहुत प्रात
देखना। अपूर्ण आयु।
पूर्ण उर, अपूर्ण स्वर !

आज ओ रबिन्द्रनाथ
व्योम-पुत्र तू विशाल
अवनि-पुत्र मे विशाल
आज मैं तुम्हारा कार्य कर रहा विमुक्त भाल
देखते नही कि श्वास—
मे तुम्हारा मुक्त हास
भाल पर अनेक रेख।

ओ रबिन्द्रनाथ

तव अनुज प्रणत तव हिमाद्रि-वक्ष देख
वह तुम्हारा मुक्तिबोध !

[सम्भावित रचनाकाल 1944-45। रचनावली के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित।]

आ-आकर कोमल समीर !

आ-आकर कोमल समीर
सहलाता उलझे हुए बाल
टेबल पर झुके हुए सिर के।
विद्रूप अक्षरो की बाँकी-
टेढी टाँगो के बल चलती,
स्याही के नीले धब्बो से जो रँगी हुई
पीले काग़ज़ की दुनिया है,
उसकी खिडकी की चौखट से
झाँका करते नीली प्रशान्त मृदु क्षितिज रेख पर बसे हुए
वे गहरे-गहरे हरे मेघ (सौ तरुओ के)
पीले मैदानो पर फैली उस नरम धूप के रम्य लोक मे दूर
और अस्पृश्य।
छू उन्हे चली आती केवल कोमल समीर।
मुझको छूकर अन्तर मे देती खीच एक जलती लकीर अंगारो की,
यह मेरा मन
निज आत्म-चेतना के दाहक ऊष्मा-सवेदन मे बल खा होता
है अधिक सचेतन-सा सब जडीभूत आवरण चीर
वह झर-झर करती हुई
धूप मे चपल चमकती लहरो मे
है फूट पडी सहसा,
मानो यो दूर हुआ वर्षों का काला जडीभूत अभिशाप,
और अब एक स्वर्ग है यही धरित्री
इसकी सीमाएँ मटमैली राहे
औ' साथी अनुभवी वृक्ष
घन पत्र-भार के।
पीले कागज की दुनिया के मुरझाये मैले कपोल
अब भी मैले,
पर जीवन के अनन्त उद्गमवाले प्रेरणा-लेख

अब रहे न अन्तर के समाप्त फाइलो-बँधे
केवल रेकार्ड के योग्य।
मात्र एक कोमल समीर की चपल लहर
कोमल बालो के मुक्त स्पर्श-सी,
और नरम पीली दुपहर
राह पर एक वह धुआँधार
कोलाहल करता सगर्व उद्धत मज़दूरो का जुलूस
प्राण के बन्ध देता विदार।
है ऊष्ण स्पर्श
शत-लक्ष प्रात सूर्यो की छवि का वह
भरता उभार।
मै गूँज उठा सहसा छन्दो की लहरो-सा
अपने ही हिय की गुबज मे
काँपा अधीर।
प्रेरणा-सरित की लहरो के शत-लक्ष स्रोत
गूँजे अन्तर का शून्य चीर
उस अनुभव-क्षण के शैल-शिखर
पर खडा हुआ
गा उठा प्रपूरित प्राणो के गम्भीर
गर्व का मैं प्रतीक,
मै दुर्निवार।
हूँ सृजनशील आत्मा निसर्ग की
मानव की
आशा की कोमल मधुर धूप-सा फैला हूँ
सरि-तट, मरु-भू, हरिताचल पर
जीवन के उस गहरे सासारिक दलदल पर।
आक्षितिज प्रसृत-अचला, नरम
सुन्दर हँसती है पारदर्शिका मृदु दुपहर
मधु-शरद काल की।
लगा हृदय सबको, अपनी ज्वालाओ मे ढँक लेती है
आकुल मानवता की सुविजय।
मैं जो भी एक नगण्य व्यक्ति, करता रहता दिन-रात काम,
पर सहसा सारे प्राण-स्रोत सम्पूर्ण विश्व के निर्विराम
बह उठते हैं वे, पार्वतीय जलधारा से आकुल सवेग
मै अपने से ही कह उठता, मैं प्राण एक, पर हूँ अनेक।
मैं एक लक्ष्य पर हुई उदित, विकसित गुलाब-सी, मधुर प्रात।
आ उसी लक्ष्य पर हूँ अवसित
गम्भीर साँझ वेदना-स्नात।
नित देख-देख उद्ध्वस्त शिखर जीवन के, जन के
मैं आहत हो गया,

प्राण का श्वास रुक गया।
देखा विस्मयपूरित दृग से
आस-पास सब ओर स्तब्धत
सुन्दर मूर्ति और मीनारो के खण्डहर है इस जीवन के।
उडते तिनके।
भग्न गुबजो की घन मूर्छा।
छप्पर की गिरने की इच्छा।
कितने छप्पर, कितने गुबज
टूटे है देखा गिन-गिन के।
श्याम स्तब्ध जीवन की काजल-
थर* की दीवारो पर निश्चल,
किसी अबूझ शक्ति ने
उँगली से वीभत्स चित्र खीचे है,
कुल अश्लील बाते लिक्खी है,
कुछ गालियाँ साथ लिक्खी है,
चिता-धूम-सी घृणित विषैली वायु गा रही
ये खण्डहर के गीत कि कैसी आयु जा रही।
जलती ही जाती है मानव आत्मा की यह अस्थि-सुदृढता।
सृजनशील प्राणो के निर्झर उद्गम पर हिम-प्रस्तर जडता।
एक घोर, भय-स्तब्ध स्वप्न मे
हत्या-सा, मैंने प्रिय जन की श्याम मृत्यु-सा
यह सब देखा।
जीवन का प्रातर्पावन मधु-श्वेत वक्ष पर
मलिन, वासना-व्याकुल, भयकर
रजनी तम को चढते देखा।
श्याम, रुद्ध जीवन के काले गुहा-विवर मे
भटकी-भूली इच्छाओ का
चिमगादड दल उडते देखा।
ज्यो बासे निर्माल्य कुसुम-दल
काले पडकर बुरे बासते
त्यो मानव की सृजनशील मृदु मानवता को सडते देखा।
यह सब देखा—
यह भी देखा।
सृजनशील सरिता निसर्ग की
मानव की
चिर क्लान्तिहीन है,
शान्तिहीन है, भ्रान्तिहीन है।
विश्वव्यापिनी ज्वालाओ की जिह्वाओ से

* मराठी शब्द, जिसका अर्थ है 'परत'—स

नये वेद-मन्त्रो के छन्दोच्चरित सत्य को
जगते देखा।
सृजनशील आत्मा निसर्ग की
मानव की चिर क्लान्तिहीन है
उसके नभमण्डल मे मैने नव सूर्यों को उगते देखा।
सहसा कोटि-कोटि जन-जन के
थकित पदो की शिथिल ग्लानि को
विद्युत् गति की महासयमित धाराओ मे बहते देखा।
नये मनुज की वक्र भृकुटि
जलती आँखो मे
एक विश्वव्यापी सपने के मद को
चिर दिन तिरते देखा।
मैं जो भी एक नगण्य व्यक्ति
करता रहता दिन-रात काम,
पर मटमैली सारी राहो को
एक नयी ही दिशा अचानक
गहते देखा
विश्व-सृजन का मूल स्रोत
मेरे उर मे भी बहते देखा।

आ-आकर कोमल समीर
सहलाता उलझे हुए बाल
टेबल पर झुके हुए सिर के,
खीचता एक अगार-रेख मेरे अन्तर
लिखता स्वर्णिम अक्षर अनेक
नूतन कविता के। मेरे उर
मे बही जा रही नूतन रामायण की स्वर्णिम अरुण
पक्तियाँ विद्युत गति से
नत मस्तक मै स्वार्पण मति से
तुरत खोल देता हूँ अन्तर के लम्बे पत्तो को उन्मन।
आ-आकर कोमल समीर
सहलाता उलझे हुए बाल
टेबल पर झुके हुए सिर के।

[रचनाकाल 1944-1948। लहर, नवम्बर 1967, मे प्रकाशित]

पृथ्वी के गोल चारो ओर के धरातल पर
हैं जनता का दल एक, एक पक्ष।
जलता हुआ लाल कि भयानक सितारा एक,
उद्दीपित उसका विकराल-सा इशारा एक।
गगा मे, इरावती मे, मिनाम मे
अपार अकुलाती हुई,
नील नदी, आमेजन, मिसौरी मे वेदना से गाती हुई,
बहती-बहाती हुई जिन्दगी की धारा एक,
प्यार का इशारा एक, क्रोध का दुधारा एक।
पृथ्वी का प्रसार
अपनी सेनाओ से किये हुए गिरफ्तार,
गहरी काली छायाएँ पसारकर,
खडे हुए शत्रु का काले-से पहाड पर
काला-काला दुर्ग एक,
जन-शोषक शत्रु एक।
आशामयी लाल-लाल किरणो से अन्धकार
चीरता-सा मित्र का स्वर्ग एक,
जन-जन का मित्र एक।
विराट् प्रकाश एक, क्रान्ति की ज्वाला एक,
धडकते वक्षो मे है सत्य का उजाला एक,
लाख-लाख पैरो की मोच मे है वेदना का तार एक,
हिये मे हिम्मत का सितारा एक।
चाहे जिस देश, प्रान्त, पुर का हो
जन-जन का चेहरा एक।

एशिया के, यूरोप के, अमरीका के
भिन्न-भिन्न वास-स्थान,
भौगोलिक, ऐतिहासिक बन्धनो के बावजूद,
सभी ओर हिन्दुस्तान, सभी ओर हिन्दुस्तान।
सभी ओर बहनें है, सभी ओर भाई हैं।
सभी ओर कन्हैया ने गायें चरायी है
जिन्दगी की मस्ती का अकुलाता भोर एक,
बसी की धुन सभी ओर एक।
दानव दुरात्मा एक,
मानव की आत्मा एक।
शोषक और खूनी और चोर एक।
जन-जन के शीर्ष पर,
शोषण का खड्ग अति घोर एक।
दुनिया के हिस्सो मे चारो ओर
जन-जन का युद्ध एक,

मस्तक की महिमा
व अन्तर की ऊष्मा
से उठती है ज्वाला अति क्रुद्ध एक।
सग्राम का घोष एक,
जीवन-सन्तोष एक।
क्रान्ति का, निर्माण का, विजय का सेहरा एक,
चाहे जिस देश, प्रान्त, पुर का हो
जन-जन का चेहरा एक!

[सम्भावित रचनाकाल 1944-1948। **विचार**, कलकत्ता मे 'माधवायन' नाम से प्रकाशित]

मेरे प्राणों की स्वर-लहरी !

मेरे प्राणो की स्वर-लहरी! गहरी-गहरी।

भीगी, पुलकित कुछ शरमायी।
वह ममता के मधु ओस-वनो मे से आयी।
नीलान्त अपार क्षितिज-परदो से
ढँके हुए जो प्रेम-सिन्धु के नूतन-तट
उन पर दिखलायी दी वसन्त की मादक-छवि।
मेरे प्राणो की स्वर-लहरी!
रे, उन सुदूर नीले कूलो की कोमल श्री छूकर आयी।

अपने साहस पर शरमायी,
मीठी-मीठी वह गहराई।
अपने ही विमल आँसुओ की
उज्ज्वलता पर कुछ अलसायी।
अपने तन के मधु-कचन पर कुछ सस्मित-सी,
अपनी सुकुमार सजलता पर कुछ विस्मित-सी
मीठी-मीठी प्राणो की कोमल अँगडाई।
रे, आज प्राण का कज-कोष नत-अर्पित है।
यह कज-कोष-सा हृदय सजल,
अपने पराग पर गर्वित है।
मेरे प्राणो की स्वर-लहरी! गहरी-गहरी।

वह स्नेह-सिन्धु की गहराई मे डूब चली,
वह देह-सरोवर की लहरो पर तैर गयी ।
उसने कमलो को चुमकारा,
उसने काँटो को पुचकारा ।
काली नगी सूखी टहनी से लिपट गयी,
वह म्लान कुसुम के पीत हृदय मे सिमट गयी ।
पीले पत्तो के ममतामय,
मर्मर गानो मे प्रकट हुई ।
मेरे प्राणो की स्वर-लहरी ।
गहरी-गहरी ।

[सम्भावित रचनाकाल 1944-1948 । **विचार** मे 'मुक्तिबोध माधवायन' नाम से प्रकाशित]

गीत

इस अन्ध तम - जाल
पर रश्मि की बेल
के स्वर्ण के फूल खिल जायँ, लहरायँ ।

मन का निविड कोण
उस स्वर्ण कुसुमिल—
व्यथा से प्रदीपित, अनावृत पिघल आय ।

मन की तिमिर - राशि—
वन के कुसुम - हास—
मे घुल, वन-श्री विभा मे बदल जाय ।

जल - ऊर्मि गति - अन्ध—
मे भूमि - कण - गन्ध,
उर मे सजल चेतनाएँ उछल आयँ ।

[सम्भावित रचनाकाल 1944-1948 । अप्रकाशित]

प्रार्थना

बस कभी इतनी कृपा यदि कर सको तुम--
जब न मन बेचैन यह
पाये कही
इस ऊष्ण दुपहर मे जगत् की
एक जल का बिन्दु भी,
औ' एक तरु की सघन छाया भी
उसे जब दूर कर देगी
कि सहसा जब विजन के सरि-किनारे भी
बहिष्कृत कर चुके मुझको
व सारी वस्तुएँ इस दीन-दुनिया की
पराई हो चुकी होगी
उपेक्षा की कठिन कौडी-सरीखी
श्वेत आँखो देखती।
रे, जब न यह बेचैन मन पाये कही भी ठौर अपना,
हो चुके अपने हृदय का
एक सपना भी पराया
तब तुम्ही यदि डाल दोगे दृष्टि नीरव वह नखत की,
बस उसी से झेल लूँगा ऊष्णतम दुपहर जगत् की।

[सम्भावित रचनाकाल 1944-1948। अप्रकाशित]

क्या तुम सह सकोगी

मेरे प्यार का तूफ़ान,
मेरे आँसुओ का ज्वार
क्या तुम सह सकोगी ?

मेरे सुप्त पर अम्लान
ये भूकम्प-से है प्राण
इसमे बह सकोगी ?

यो तुम न खेलो हाय,
मेरे प्राण से निरुपाय
कैसे रह सकोगी ?

निज मे बन्द, मैं चुपचाप,
कैसे आ सके भी आप
क्या यह सह सकोगी ?

यो कब तुम रही अनजान
व्याकुल मत करो तुम प्राण
मेरे बन्द उर के द्वार।

मै गति-अन्ध, मैं लवलीन,
नही यह आत्मा भी दीन
मेरी क्रुद्ध जीवन-धार

तुम हो शुद्ध, मेरी मित्र,
मेरे प्राण की तुम चित्र,
तुम भयहीन, मै अविभीत।

लेकिन मार्ग दो, दो ओर
फिर भी बाँधता है छोर
उनको स्नेह का अविनीत।

तुम मेरे निजत्व अबन्ध
मम व्यक्तित्व की तुम सिन्धु—
इस सम्बन्ध मे तुम रह सकोगी ?

मेरे प्राण की आलोक,
मेरा स्नेह है बेरोक,
इसको सह सकोगी ?

[सम्भावित रचनाकाल 1944-1948। अप्रकाशित]

विरक्ति

आज साँझ की लाल हँसी
शर-सी उडती
नभ की कुहरिल गहराई मे यो उलझ गयी,
ज्यो पूर्तिहीन भूखे मन की

कुहरे-सी धुँधली कोमलता
उडकर आते, मन मे पैठे
उस व्यग-बाण को समझ गयी।
सन्ध्या के शान्त, सदय अचल
को ठुकरा उठता मन चचल।
इस श्याम साँझ-अचल-तम से
विद्रोह कर उठा अन्तस्तल !
रे, आज निशा का स्निग्ध-श्वास
तन को चुभता, ज्यो धोखा हँसता हँसी नयी।
इन हरे वनो की सान्ध्य-श्री
मन मे लाती है बल खाते सन्ताप कई।
खेतो की शीतल हरियाली
से उठता घुँघराला बादल
विद्रोह कर उठा इन सबसे
उस नील धुएँ का बल चचल
मै भी उठता उचाट खाकर नील धुएँ-सा नभ-विजयी।
रे, आज साँझ की लाल हँसी
शर-सी उडती नभ की कुहरिल गहराई मे यो उलझ गयी।

[सम्भावित रचनाकाल 1944-1948। अप्रकाशित]

आखिरी बिदा

बिछुडते हुए प्राण—
जुडते हुए प्राण !
क्या मृत्यु-दीवाल दो कर सकेगी
सरित् की उमडती हुई एक ही धार ?
जो घुल चुका प्यार
उर मे समाकर हुआ रक्त साकार,
वह क्या कभी हो चलेगा विलग दूर,
व क्या काल के बन्ध हैं मृत्यु-से क्रूर,
यह तो बता पायगा रक्त अनिवार,
जिसमे समाया हृदय मे घुला प्यार।

बिछुडते हुए प्राण—
जुडते हुए प्राण,

ये दो अलग रूप है एक क्षण के।
बिछुडना हुआ युग-युगो के लिए आज,
जुडना हुआ स्पन्दनो के लिए आज,
है जिन्दगी के अजब दो सजल रूप।

यह साँझ, अनिबार
ज्यो रक्त की धार
नभ मे जमी, (बर्फ-सी लाल दीवार)
जब रात के जगलो को चुभा शीत,
तब अन्धकारावरण छा गये
यो हुई जीत
रात्रिचरो की।
उठे गीत
कर्कश, अपस्वर व अपुनीत।

बिछुडता हुआ प्राण,
जुडता हुआ प्राण,
उस रात के घोर तम मे गया खो।
न ले ही सका हम बिछुडते हुओ का
न जुडते हुओ का सजल-दृग नमस्कार।
उठता हुआ प्यार
धँसता गया तब अतल के अतल मे
वह हँसता गया व्यग्य तीखा महाकार।

[सम्भावित रचनाकाल 1944-1948। अप्रकाशित]

दमकती दामिनी

ओ, क्षितिज-रेखा पर चमकती नील चचल दामिनी,
क्या जानती हो ?
इस दमकते रूप-यौवन की अदम्य चपल लीला
देखकर मैं मुग्ध हूँ,
उर-बद्ध हूँ तव तीव्रतम कमनीय लहरो से
कि जैसे वक्र शशि की कोर मे हैं बद्ध होती
लहरियाँ लघ चपल सरिता की।
मधुर स्वर-लहरियो मे बद्ध हो ज्यो नाग

बँधता जा रहा हो
गान-मद मे पीन फन ज्यो डोलता,
त्यो बँध गया हूँ
वक्रता मे दमकते लावण्य की,
इस नील चचल ज्योति की मादक लहर मे बँध गया हूँ।

ओ मेघमाला के घने घनघोर जगल मे
सदा तुम डोलती
उद्दीप्त यौवन-स्वर्णिमे,
उन्मुक्त चचल बाल,
यह निर्भय विहरती चाल,
यह कमनीय चिर-दुर्धर्ष गति,
जलती सचाई-सी चली,
जो मेघ-गिरि-विस्तार को देती चुनौती क्रुद्ध
स्वर्णिम देह-मन विक्षुब्ध।

मै हूँ क्रान्ति-युग का एक छोटा कवि, तुम्हारा लोभ।
मेरे हृदय भी जल रहा है रात-दिन
युग-क्रान्ति का विक्षोभ।
मेरे सामने भी
मेघ-दल-बल शत्रुओ का है विलक्षण रूप।
लेकिन जानती हो ?
आज मन का कूप
विह्वल वक्ष सागर बन गया है।
मृत्यु-श्यामल घाटियो मे भी मुखर है
चेतना-झनकार का युग-कल्प।
युग की क्रान्ति की सम्पूर्ण सर्जन-शक्ति
का सकल्प,
कवि-सकल्प बन लहरा रहा है।
लोक-मन की प्राकृतिक अनिवार सर्जन-शक्ति मे
विश्वास बन,
इतिहास की उद्दीप्त रक्तिम पक्तियो मे
छन्द-गुजन-पाश बन
युग-क्रान्ति का विक्षोभ
कवि-सकल्प बन लहरा रहा है
काँपता वह क्षितिज की
रवि-किरण-वीणा पर मधुर जयगान-सा।

ओ, मेघ-अजन-श्याम निर्दय दानवो को
चीरनेवाली चपल शमशीर,

दुर्दम वीर !
तुमसे, औ', तुम्हारे कोप-द्युति लावण्य से
मेरे सजग मन के समुन्दर मे
उठा है प्रेरणा का तीव्र मधुमय ज्वार।
सचमुच हो चुका हूँ
विश्व की उन्मेष-ज्वाला-जाल का मै नम्र बन्दी।
इस हृदय मे उठ रहा एक ऐसा प्यार
जिससे स्नात कर दूँ मै तुझे,
मै चूम लूँ तुझको
निविड गम्भीर मेघो के भयद घनघोर जगल की
चपल भयहीन बाले,
मैं दिलाता हूँ तुझे विश्वास
तेरी शपथ
तेरे तीव्र मृदु लावण्य की भी शपथ,
अनथक जिस प्रखर सकल्प से क्षण-क्षण
चमकती चीरती तू जा रही
गम्भीर मेघो के भयानक दानवो-से व्यूह,
मैं भी काटता चलता चलूँगा अन्ध-मेघ-समूह
मानव-देश के
सम्पूर्ण तन की शक्ति से,
जलती हुई दृढ भक्ति से,
मैं चीरता चलता चलूँगा।
तू मुझे मधु दे, प्रबलतम प्रेरणा दे, प्राण दे !
उत्थान दे, उत्थान की गति दे।
उतरकर व्योम-पथ से
आज मानव-मार्ग पर
आ,
वक्ष मे मेरे धनुष बन, बाण बन,
लावण्य-प्रभ नीलिम, भयद तेज सरोवर-स्नात
मेरे प्राण-मन
ओ क्षितिज पर चचल चमकती क्रुद्ध यौवन-स्वर्णिमे
उन्मुक्त निर्भय बाल !

[सम्भावित रचनाकाल 1944-1948। सम्भवत किसी सकलन के लिए मुद्रित]

नीम-तरु के पात जब

गौर वासन्ती निशा मे
सरसराते नीम-तरु के पात-से
जब डोल उठते प्राण ये,
व्याकुल अँधेरे मे छिपे वरदान-सा
अज्ञेय ऊष्मा का सजग तूफान तब
मेरे हृदय मे
मत्त बल की वासना-सा घूमता।

सरि-कूल पर निशि के अँधेरे मे घिरे
अतिशीत जघा-मूल से तरु-यूथ की
है झूमता तूफान वह
ऊष्मा-मधुर सस्पर्श ले।
चिनगारियो के लाल कोमल ओठ पर
फैली हुई
मुसकान पा
शोणित हरा
तरु-मूल-जघा का अथिर
हो, दौड पडता—
योग और वियोग के दो कूल टकराता हुआ
सवेदना के ज्वार-सा, विस्फार भर।

व्याकुल क्षितिज की कोर मे
तारो धुली वन-वीथियो के मुग्ध तरु-दल रोर-सा
उठते हुए,
प्रासाद की दीवाल पर चढते हुए उदभ्रान्त स्नेही चोर-सा,
यह गाढ मादक स्नेह
मेरे प्राण मे,
उद्दाम अपराजेय नूतन सत्य का व्यक्तित्व ले
अनिवार्यता के सुसयत गम्भीर चरणो से चला
मेरे हृदय पथ पर सजग
विश्वास-मधु भारावनत होकर यहाँ
रे, मैं विवश, मैं हूँ विवश,
नत-ग्रीव मधु-गम्भीर मेघो-सा विनत,
भारावनत
नव सत्य की सवेदनाओ से प्रणत।
मैं क्या करूँ!
वातायनो के द्वार ज्यो रहते विवश

तारक-दृगो को राह दे,
खुलकर स्वय
वे नैश वासन्ती गगन
बेछोर देते खोल
गृह मे,
विवश त्यो असहाय मैं
द्रुत खोल देता द्वार अपने प्राण के !
वन के समीरण-सा सचेतन
गाढ मादक स्नेह
आकुल, धीर
ले समवेदनाओ के निरन्तर कम्प, उनकी पोर,
अपने सत्य के ऊष्मा-भरे सस्पर्श मे गम्भीर हो—
यह गाढ मादक स्नेह
भरता जा रहा हिय-प्राण मे
अज्ञेय मादक वेदना का ज्ञान।
वासन्ती निशा मे
सरसराते नीम-तरु के पात-से
जब डोल उठते प्राण ये
तैयार तब
उत्तुग पर्वत-स्कन्ध से द्रुत कूदकर
नग-चरण-तल मे हरहराते त्याग के
विकराल सागर-ज्वार मे
निश्चिह्न होने के लिए।
बेचैन कोमल आत्मा की वासना श्रीमन्त है।
यह गाढ आतुर स्नेह मेरे प्राण का
रे, आज
चिह्नातीत होना चाहता।
वह इसलिए
तम-रात्रि के फैलाव मे
नित प्रस्तरी मैदान पर बहती हुई
चिर-क्षीण-गति-शिथिलाचला
के पारदर्शी वक्ष मे
उद्दीप्त नव नक्षत्र-सा
वह उदित होना चाहता।
यह श्वेत-द्युति नक्षत्र लो
मेरे हृदय का सत्य है,
सबके हृदय का सत्य है।

[सम्भावित रचनाकाल 1944-1948। अप्रकाशित]

रात, चलते हैं अकेले ही सितारे

रात। चलते है अकेले ही सितारे।
एक निर्जन रिक्त नाले पास
मैने एक स्थल को खोद
मिट्टी के हरे ढेले निकाले दूर
खोदा और
खोदा और
दोनो हाथ चलते जा रहे थे शक्ति से भरपूर।
सुनायी दे रहे थे स्वर—
बडे अपस्वर
घृणित रात्रिचरो के क्रूर।
काले-से सुरो मे बोलता, सुनसान था मैदान।
जलती थी हमारी लालटैन उदास,
एक निर्जन, रिक्त नाले पास।

खुद चुका बिस्तर बहुत गहरा
न देखा खोलकर चेहरा
कि जो अपने हृदय-सा,
प्यार का टुकडा
हमारी जिन्दगी का एक टुकडा,
प्राण का परिचय,
हमारी आँख-सा अपना
वही चेहरा जरा सिकुडा
पडा था पीत,
अपनी मृत्यु मे अविभीत।
वह निर्जीव,
पर उस पर हमारे प्राण का अधिकार,
यहाँ भी मोह है अनिवार,
यहाँ भी स्नेह का अधिकार।

बिस्तर खूब गहरा खोद,
अपनी गोद से,
रक्खा उसे उस नरम धरती-गोद।
फिर मिट्टी,
कि फिर मिट्टी,
रखे फिर एक-दो पत्थर
उढा दी मृत्तिका की साँवली चादर
हम चल पडे

मन मे दु ख-शोक अनेक।
प्यारे, रात मे बेसब्र बेकाबू बरसता मेह
दुखती आँख-सा है लाल धुँधला दीप मेरे गेह।
प्रति पल काँपते
दीवाल पर दो सघन छाया देह।
उनसे मत डरो, प्यारे पथिक,
है देह-छाया एक
मेरी, दूसरी गृह-स्वामिनी की।
श्याम भार अनेक,
है बेचैनियो मे किन्तु कोमल भावना-उद्रेक।
प्यारे, राह मे कोई नही
चल-फिर रहा है आज।
घर के टीन पर, छत-छप्परो पर
एक ही आवाज,
यह बरसात तुमसे और मुझसे,
विश्व से नाराज़।
मेरी श्याम दीवाले तुम्हे है देखती चुपचाप,
गृह से हीन पाकर, तुम्हे दुख से श्याम
होती आप।
यो सब जान सब पहचान पीना चाहती सन्ताप।

प्यारे, जिन्दगी का घर टपकता, भीगती दीवार।
हिय के गह्वरो मे क्रुद्ध होकर
घुस पडी अनिवार
गीली बास ठण्डे पक, सडते मूषको की, यार।
फिर भी दोस्त, उडते फिर रहे है भावना के पख,
मेरा धाम तुमको चाहता है आज अपने अक,
छायाएँ हँसी, हँस पडे अगार सिगडी मे अरुण, अकलक।
सूखे पहन लो गीले उतारो, यार
आत्मा ज्यो बदल कपडे जीर्ण, नूतन तुरत लेती धार
मेरे प्रेम के हाथो बनो तुम नये-से इस बार।
प्यारे, ज़िन्दगी के इस मलिन-तम-श्याम
गृह मे स्नेह है,
आलोक, दृढतम धैर्य बे-आराम,
इसमे वक्ष है, दृढ पॉव है
है कीर्ति भी बेनाम।
इसमे स्नेह-कातर श्वास,
जीवन का कठिन सग्राम।

[सम्भावित रचनाकाल 1944। अप्रकाशित]

पीला तारा

अपनी ही परछाईं-सा जो धुँधला है
पीला तारक,
वह हो न सकूँगा,
क्षमा करो।
माना मैंने,
वह भव्य शिखर पर मन्दिर के
नभ के नूतन प्रतीक-सा उठता, हिय भरके।
मृदु मौन गहन नभ का
अपलक आँखो मे भर
जो देख रहा दार्शनिक दूरता से—तरु-मर्मर,
धूलि-धूसरित कोलाहल, गोधूलि-मुखर।
माना मैंने
पावन तापस-बाला के अकलुष लोचन-दल-सा
वह औत्सुक्य-गभीर
देखता मुग्ध-अचल
तट-तरु-छाया-गम्भीर-लहर सरिता का जल।
पर व्योम-तपोवन के निर्जन
एकाकी धुँधले जीवन का तापस-अचल
हो पावन, पर परछाईं-सा ही म्लान-श्याम।
मै हो न सकूँगा, क्षमा करो अपनी आत्मा की परछाईं।
सच कह दूँ ?
वह पीला तारक
है एकाकी पथ-बद्ध पथिक।
वह चला जा रहा
चीर विराट् रिक्तता के
चिर-सीमाहीन मरुस्थल का सूना विराट्,
पागल आँखो की ज्वाला-सा
जलता प्रदीप
निज सिर पर धर,
है खोज रहा वह महल
कि जिसमे सोयी है उसकी मृत प्रेयसि
की लावण्य-तेज-लतिका।
वह मृत प्रेयसि लिप्सा की
मृत आदर्श-स्वप्न की,
मरे परस की।
ये जीवन्त प्रेत हँस करके

साँझभरे, गम्भीर-मलिन नभ-पीपल के शाखान्तराल मे
उसे खीच, करते है बन्दी।
वह एकाग्र प्राण होता है
अपनी ही छाया-सा गहरा,
कुहरे के बादल-सा धुधला।
और हाय,
हतबुद्धि हुआ जाता हूँ मै यह देख यहाँ,
अनगिनत लोग लोकोत्तर है
जो किसी विगत धुँधली स्मृति को
अन्तर्जीवित करने मे रत जो
प्राण-गुहा-अन्धकार मे घुसकर अन्दर-अन्दर यात्रा करते
प्रेतात्माओ की प्रतिमूर्ति बने हैं,
जाने या अनजाने।
छुपे क्षणो मे
उनकी आँखो की ज्वाला से अता-पता
मिल जाता उनका।
पीला तारक
झूठ नही,
वह घोर सत्य है।
क्षमा करो ये अपनी ही परछाईं-से धुँधले-धुँधले,
या अपनी ही छाया-से गहरे-गहरे
काले, श्याम भयद आकार
छुपा लेते अपने को सामाजिक सस्कारो की शोभा मे
क्षमा करो, तुम क्षमा करो,
मैं अपनी ही आत्मा की परछाईं-सा
हो न सकूँगा, क्षमा करो।

[सम्भावित रचनाकाल। 1944-1948। अप्रकाशित]

क्रान्ति

जलते विशाल मैदानो मे
काली पहाडियो पीछे से अपने मटमैले पखो पर
रेगिस्तानी तूफान उठा।
योजन-योजन बन्दी करता
अपनी उडान मे एक साथ,

उडता आता।
काली बाधाओ से पहाड, उनके दुर्गम दर्रे हठात्
धूसर हो उठते।
तभी यकायक डस लेती है मेरा वक्ष
हृदय दहलानेवाली बिजली
उस विराट् गति-मुग्ध प्रभजन के मटमैले क्षुब्ध वक्ष की
और तुरत ही मै परिवर्तित हो जाता हूँ—
किसी शाप से ग्रस्त विहग ज्यो
फिर से मानव-रूप धार लेता है।
और तभी
उस विश्व-प्रकृति का भव्य क्षोभ
मुझको लपेट लेता है अपने दीर्घ वक्ष मे।
धरती के उर से निकली जो
उसके ऊष्णोच्छ्वास-सुरभि की मदिरा
मेरे स्पन्दन मे मिल जाती, एक हुई यो
धूल धूल मे
या पानी पानी मे जैसे।
कस लेते मेरा तन-मन
रेगिस्तानी तूफान-मित्र के व्याकुल भुज-बन्धन,
ज्यो किसी वृक्ष को
नीचे-ऊपर
ज्वालाएँ वन की दावा की लिपट चूमती।
वर्षाकुल मेघो के नीचे
उत्साहित बालक के मन-सी
नाच-नाच उठती निर्झरियाँ
रक्तिम अन्तर्ज्वालाओ की।

और, सहज विह्वल हो मै जब
अन्तर्मुख निज दृष्टि किये
क्षण एक देखता मन के पट पर,
यही दीखता—
नील-श्याम-घन-दल-आलिंगित
मलयाचल पर्वत से आती
वायुवाहिनी
की आँखो मे, मन मे
बडी-बडी बूँदे है
पतली-चमकीली,
करुणा की।
आज विखण्डित जन की, शिशु की
पितृ-पितामह-से वृद्धो की आँतडियो मे

अटक-अटक जाता है जो दुख अरुदित,
उसकी एक विशाल लहर
अनुभूति वेदना से आतुर आँखो मे उसकी
बडी-बडी बूंदे बन जाती।
वे बूँदे मेरे उर की पर्वत-पाषाण-भित्ति से
आकर टकराती है सीत्कार कर,
तरल भिगोती।
और तभी मै बाह्य रूप का
अन्तर्बिम्बित चित्र देख
नतशिर हो जाता।
सजल नयन हो पुकारता हूँ उच्च कण्ठ से
दोनो हाथ उठाकर
'हे विक्षुब्ध प्रभजन, विराट् क्षोभन,
मटमैले पखो पर तेरे
मुझे उठाकर ले चल द्रुततर
जहाँ जा रहा तू अकुलाता।
दुर्गम, दर्रे, पहाड, जगल,
बर्फीले मैदान, समुन्दर, गहन घाटियाँ—
सबका क्रोध सहन कर लूँगा,
सबका शक्तिपान कर तेरी शक्ति बनूँगा
तुझको वहन करूँगा।'
पीत क्षितिज के गहन गह्वरो से तब सहसा
सूर्य-किरण-वीणा के चमकीले तारो पर गूँजा
दिग्-दिगन्त कम्पित कर
एक भयद जयगान
दृगो के सम्मुख अग्निलताओ के शत तेज स्वर्णिल
पुष्प खिलाता हुआ समुद जयगान
कि मेरे रोम-रोम मे नये बोध-सा
लहराया रेगिस्तानी तूफान!
झुलसते झाड और झखाडो के रूखे मैदानो-मैदानो
उस धुआँधार अन्धड-सा जागा,
जागा मेरे क्षुब्ध वक्ष मे एक नया ईमान
भयकर एक नया ईमान
कि ऊष्ण वक्ष-सी ऊष्ण धूलि-सौरभ की गहराई मे डूबा
यह अकुलाता उच्छृखल तूफान
कि जिस निज मृदुल अक के बन्दी को
मन के नभ ने, आत्मा की पृथ्वी ने विमुक्त कर दिया
आज उस विद्रोही का उमड उठा अभियान।

[सम्भावित रचनाकाल 1944-1948। अप्रकाशित]

एक नीली आग

रे, क्षितिज-रेखा पर चमकती एक नीली आग की तलवार
वह लावण्य की असि-सी हँसी
है काँपती दु स्वप्न-सी
आशकितो के प्राण मे छायी हुई भय-भार-सी
लावण्य की अपराजिता असि-धार
उसकी वह विसुध मुसकान
मेघो के सघन गुरु गर्व-तम को चीर,
पैनी पैठती ही गयी तन्मय तीक्ष्णतम गम्भीर।
वृक्षो की सघन भयस्तब्ध अवनत पत्तियो पर डोल
उसकी नील किरनो की तरल ज्वाला गयी कुछ खोल।
है आक्रान्त नभ, आक्रान्त पृथ्वी मेघ-दल-बल से,
क्षितिज के विनत मस्तक से उठी है ज्वाल कुछ छल से।
न जाने किस भयकर दीप्त स्वर मे बोलता भावी
सुलग उठती सघन तम-श्याम गहराई
गगन की
कि कॉपी द्रुत लहर-सी तीव्र वह मुसकान
(गहरी वेदना से तीव्र) आत्मज्ञान की उद्दीप्त वीणा का
दमकता गूँजता ज्यो तार ।।
काले क्षितिज पर बेचैन नीली आग की तलवार।

विश्व के भय-स्तब्ध मस्तक पर चमकती
वह अलौकिक कोप-सी,
वह कोप की छवि-सी,
अनिन्दित विश्व-निन्दा-सी दमकती दामिनी कवि-सी।
सहज निष्काम
मानव-मुक्ति हित विह्वल, सरल-मन,
किन्तु कोपित सन्त की
अनिवार आहत, शाप-आतुर
भावनाओ के प्रवाहित छन्द-सी
चमकी,
जगत् पर आज अन्तिम चरम निर्णय-सी
चरम आश्चर्य-सी, जय-सी।
चमकती हो गयी नभ पार।
वह कोप के लावण्य की प्रभुता सहज सुकुमार।
काले व्योम के इच्छा-मरण के स्वप्न का
रगीन साक्षात्कार।

क्षितिज-भौहो पर घिरे घन
छा रहे है व्योम-विस्तृत-भाल,
मानो विश्व के युग से जमे
वे पाप-निश्चय के विचार कराल,
जमकर सघन इस बेचैन पृथ्वी पर
करेंगे लालसा की पूर्ति,
जाने किस अजानी कालिमा के सिन्धु से
वे खीच लाये स्फूर्ति।
उनके सघन काले दैत्य-वक्षस्थल अबल है किन्तु,
जिनमे वासना औ' रिक्तता के तैरते है जन्तु।
जलती नोक की असि-धार-रूपी लेखनी से लेख
उनकी मृत्यु के, भयभीत उनके वक्ष पर तू देख,
सत्वर लिख गये है नव-सृजन की शक्तियो के दूत
यह जलती हुई लावण्य की असि-धार यो उत्स्फूर्त।
वह लावण्य की अपराजिता असि-धार,
युग-युग से
सुशीतल चाँदनी की नील विह्वल ज्वाल मे
तपकर ढली लावण्य की तलवार,
मानो हृदय की मृदु ज्वाल की
शत-शत भुजाओ मे झिले*
अगार मे ढलती चले सकल्प की असि-धार।
दुनिया के भयानक मेघ-पुजो पर तनी,
दोनो क्षितिज को खीच अपने अक मे
वह खिच गयी क्षण मात्र मे इस पार से उस पार।
कोमल तीव्र अधरो मे जमी
प्रतिशोध की दृढ वक्रता की स्वामिनी
उन्मादिनी मुसकान—वह लावण्य की असि-धार।

वह तो प्राकृतिक भयकर दमकता कोप ज्योतिर्मान,
टाला जा नही सकता
हटाया जा नही सकता
बुझाया जा नही सकता ।
प्रकृति के अतल अन्तर का अमृत
सन्तप्त हो, अति क्रुद्ध हो
लहरा उठा बन कटु गरल की धार।
वह फुफकारता नीला भयकर नाग
लहराता हुआ
अति क्षुब्ध हो, सन्तप्त-अन्तर खोजता अपना शिकार।
रे, वेदना का नाग बल खाता हुआ
अब नष्ट कर देगा पुराना विश्व सौ-सौ बार,

व्याकुल काँपती है क्षितिज-मस्तक पर
भयानक एक नीली आग की तलवार।

[इस कविता का एक प्रारूप 'बिजली' शीर्षक से भी पाण्डुलिपियो मे है। सम्भावित रचनाकाल 1944-1948। अप्रकाशित]

दो ताल

चल रही है जिन्दगी की राह
मादक राग-सी दो ताल पर
गहरी घृणा के, स्नेह के।
मेरे हृदय-पाताल की गहरी दरारो के तिमिर
मे से निकल
विषमय घृणा की दुष्ट काली नागिने
निज तिलमिलाती देह मे द्रुत लहर भर
मेरे समस्त शरीर में
युग से दबी
दशन-तृषा झकझोरती।
विकराल काले ज्वार मे
कटु व्यग के,
मेरे हृदय को बोरती
उन्मत्त विष की अन्ध लहरे नग्न हो।
अति दुष्ट दानव-वासना के सिन्धु-व्याकुल तीर पर
मेरी घृणा का दार्शनिक
सन्तप्त-मन,
उठती हुई गिरती हुई उत्ताल लहरो को विषैले सिन्धु की
नित देखता रहता, कठोर पहाड-सा
विक्षुब्ध सागर तीर के।

मैं क्या करू,
यह स्नेह भी इस प्राण के पाताल से
उगकर खडा है
भव्य गुरु अश्वत्थ-सा,
गम्भीर मादक उच्चता मे फैलकर यह वृक्ष
अपने वक्ष से उद्गत सघन-शाखा-प्रशाखा-भार मे
गहरा हृदय-विस्तार कर

उठकर, उठाकर शीर्ष सर्जन-शक्तिमय
वह विश्व-सीमा घेरता।
उग प्राण के पाताल से
इस ज़िन्दगी के दाहमय मैदान की लम्बान मे
निज वक्ष के नीचे
सघन विश्वास-छायाएँ यहाँ विस्तारता।
वह सत्य का अश्वत्थ है
जिसकी शिराओ मे हृदय की प्रार्थना
उद्विग्न हो
अगार-रस-सी घूमती
जो सोचती
वह किस तरह पी ले समूचे आँसुओ के स्रोत को
अभिशप्त मानव-प्राण के—
जिस अश्रु-सागर-पान से
इक ज्वार मे
वह दे डुबो ससार-व्यापी शोषणा।
वह किस तरह कर ले समर्पित वन्दना
उस भव्यतम अस्तित्व की
बेनाम मानव-त्याग के।
उस अश्रु-व्याकुल स्पर्श से
उस एक अनुभव-वेदना के तीव्रतम
आघात मे
अश्वत्थ यह
यो आज अपने-आप ही
उत्फुल्ल चन्दन वृक्ष मे
रूपान्तरित-सा हो गया—
ऐसे कि उसकी डालियाँ
कोमल मनोरम चाँदनी के वन-वनान्तर मे विसुध
नव मलज लतिका के समान
सँभालती
अपने हृदय के अश्रु-शबनम-हास को
प्रत्यक्ष आँखो-सामने
पा प्राणप्रिय
मानो वधू उद्भ्रान्त मीठे आँसुओ मे डूबती
यह सत्य का अश्वत्थ है
जो प्यार कर उद्भ्रान्त मानव से
समर्पण-वेदना मे
मुग्ध चन्दन हो गया।

रे, किन्तु ज्यो ही मुग्ध चन्दन वृक्ष की

सौरभ-शिखाएँ ज्वाल-सी
द्रुत फैलती वन मे निविड
त्यो ही
दरारो से निकल
विकराल श्याम भुजग, काली नागिने
निज मत्त गति मे सरसरा
सौरभभरी शाखा-प्रशाखाओ चढी,
चढकर उलझती उल्लसित ।
इस मुग्ध चन्दन वृक्ष की हर डाल मे
काले भयकर सर्प
सौरभ-मुग्ध हो
फूत्कार करते है विषैली जीभ से ।

अति दूर से
वन के ढलानो पार झर-झर शैल-सरिता-तीर से
ऊँची लहर
नि सीम-व्याकुल गान की
लम्बी सुतीव्र लकीर-सी
खिचती चली ही आ रही मृदु मर्म-करुण पुकार बन
ये डालियाँ सौरभभरी
ये नाग काले, विषभरे
यह चाँदनी-विस्तार पर्वत देश का—
सब सुन रहे है
एक स्पन्दन के गहन समभागियो से डूब
नभ मे एक विषाद-लकीर-सी
अति दूर तक
जो तीव्र खिचती आ रही
वह मर्म-करुण पुकार
दोनो सुन रहे है—
मुग्ध अरण्य-भुजग, चन्दन तरु
परस्पर लिपटकर

विकराल मानव-शत्रु से
दोनो परस्पर मिल प्रतिक्षण जूझते—
—मुझमे घृणा का दैत्य जो नगा खडा,
औ' स्नेह का शुचि-कान्त मादक देवता ।
चल रही है जिन्दगी की राह
मादक राग-सी दो ताल पर
गहरी घृणा के, स्नेह के ।

[सम्भावित रचनाकाल 1944-1948 । अप्रकाशित]

ओ विराट् स्वप्नों

ओ विराट् स्वप्नो, जागो
चाँदनी सरोवर-सी अपनी
आलोकभरी गहरी-गहरी आँखे खोलो !
रे, आज तुम्हारी प्राण-शक्ति की आवश्यकता,
आज तुम्हारी गान-शक्ति की आवश्यकता !
बन्द, अधखुले वातायन को,
अन्ध, धूम-विद्रूप सदन को
खण्डहर की सूखी-सी तीखी
वायुभरे सूने आँगन को
आज तुम्हारी आँखो के उल्लास-रश्मि-सी,
स्नेह-चाँदनी के प्रवाह की आवश्यकता।

बैठा मैं सरिता के ऊँचे चट्टानी कगार पर आतुर,
नीचे, नीचे,
सघन तिमिर मे लीन धार की धीमी मर्मर
उठ-उठकर ऊपर आती है,
वह लगती उतनी ही कातर
रोने मे ज्यो लगी हिचकियाँ
जो उठ-उठकर रुकी गले मे
छाती मे से सुन पडती हो।
फैली है गिरि की चट्टाने—
विन्ध्याचल के छिन्न-भिन्न ज्यो विशाल कन्धे,
हाथ, हृदय हो
सिर पर रात शीत तारा-गति,
दूर नगर के एकाकी तम-डूबे अचल
मे उदास
दीपो की उलझी बुझी-बुझी धुँधली-धुँधली द्युति।
बैठा हूँ सरिता के ऊँचे
चट्टानी कगार पर बेमन,
ज्यो अजस्र एकाकी वन्य विहग विलक्षण।
उसके गहरे सघन परो की
श्याम-गभीर अहता से सब ढँकी देह पर
ताराओ के तमोमलिन
धुँधले द्युति-कण हो।
निर्व्याकुल मानो विहग वह
भग्न विषण्ण अकेलेपन की भीषण
निशिचारी

काननचारी आत्मा हो,
देख रही हो
उदास अपने भग्न राज्य के सब प्रसार को
एक भयकर निर्निमेष निरपेक्ष दृष्टि से ।

किन्तु श्याम गहरे अजस्र
दो पख निराकुल
लौह शक्ति से मढे हृदय के
किन्ही अबूझ मन्द सवेदन
से सहसा फडफडा उठे ।
फैले,
फिर धीरे-धीरे गिरे,
और मुँद गये
कि मानो एक कहानी समाप्त होती ।

दूर नगर के धुँधले दीपो
की उदास खोयी-सी झिलमिल,
पास टेकडी के ढलान पर गाढ-श्याम,
प्राचीन उच्च पीपल की
बची हुई अतिविरल पत्तियो की सरसर,
इस कगार नीचे से
उठती बहुत दूर नीचे से
गहरी सघन लीन धीमी मर्मर
सरिता की—
मानो ये अन्तर-
अन्तराल मे पैठी गहरी
एक उदास ज़िन्दगी की
अति कठिन कहानी के प्रवाह की लहरे ।
दूर नगर के धुँधले दीपक
मुरझाये गीले कपोल की
फीकी आभा से है पीले
म्लान सरित की लीन श्याम धीमी मर्मर
नीचे से उठ, तम मे खोया
ऊँचा कगार कर पार
कि मैदानो के सूने अन्धकार मे मँडराती—
ज्यो ध्वस्त भाग मे किसी नगर के निर्जन,
एक पुराने आधे-गिरे हुए घर के
श्यामल सूने कोने मे
विवश एक असहाय रुलाई
कातर नारी की ऊँचे कमज़ोर स्वरो मे

जीर्ण भग्न प्राचीन कोट को लाँघ-लाँघकर
सूनी पगडण्डी पर आती
भग्न जीर्ण अवशेष नगर के लाँघ-लाँघकर
निर्जन पथ पर घूम-घूम
मँडराती है
वह गोपनीय घावो-सी उघरी
नि सहायता की पुकार-सी ऊँची व्याकुल करुण तीव्र,
वैसी उदास आकुल श्यामल मर्मर
है उस पथरीली सरिता की।

ऊपर अनगिन तारो की बर्फीली आँखे
काली रजनी के प्रवचना-अन्धकार
से झाँक रही है।
आस-पास
काली ठण्डी चट्टाने, फैली दूर-दूर तक
जमी हुई लहरो-सी,
मानो कोई भव्य-वक्ष सुविशाल सिन्धु
जम गया
कठिन प्रस्तर-रूपा हो गयी चुम्बनातुर लहरे
उसके विनीत प्राणो की
किन्ही बर्फ बरसाती निर्जन रातो के
तमसान्धकार मे।
क्यो ये इतने विपदग्रस्त काले सपने—
ये जीवन के उध्वस्त स्तूप
मेरे प्राणो के बियाबान मे खडे हुए हैं
खोये-खोये-से,
अपनी व्यक्तित्वहीन सत्ता मे
है अति दाहक,
सवाहक ये विभीषिका के
जन-जन के मन मे जो चुपचाप हो गयी।
आँसू आँखो मे न उठे, पर
उर मे आत्मा फूट पडी, चुपचाप रो गयी।
गहरी एक कराह
नसो मे, हृदय-रक्त मे
यो बस गयी
कि जैसे सोते घर मे, रात के समय
नाग रेंगता रहे,
खोजता रहे किसी को,
दीवाले पथरायी आँखो से अजान
देखें कि चढ रहा है

वह, सोनेवालो के पैरो से आ, छाती तक।
किन्तु न दीवाले हिल सकती, डुल सकती हैं,
और नाग डोलता रहे,
त्यो गहरी एक कराह नसो मे
हृदय-कोष मे
यो चुपचाप रेगती रहती।
दिन का काम चला ही करता,
उसकी खाली सफेद-सी सूनेपन की लम्बाई मे भी
वह गरीब धुकधुकी
कि बेनसीब धुकधुकी
अथक चलती रहती है कोरे करुण स्वरो मे।
सूखे श्याम चर्म से आवृत
वक्ष-अस्थियो की कुटिया के अन्दर
प्राण पीसती-सी धडकन की सूखी चक्की
सदा चला करती है।
केवल कभी-कभी उसके पथरीले स्वर मे
गीले गानो की कॉपती हुई लम्बी लहरे
रात के शीत उद्भ्रान्त पवन मे रोया करती
किन्तु न सुनते पेड वनो के
और न तारो के कानो मे बात रेगती।
नक्षत्रो की पथरीली लौ
वैसी ही झॉका करती है।

हूँ स्वय
विश्व-परिव्याप्त सघन मेघो की छायाओ से
पूर्ण-ग्रस्त
खग्रास चन्द्र-सा
तमोमलिन नभ मे चलता हूँ
एक भयद दुश्चिह्न रूप ले,
मृत्यु, महामारी, अकाल, घनघोर युद्ध की
धरती के अम्बर मे
मै उसका प्रतीक।
मैं घोर नकारवाद कड्ु आहटभरी चमकती ऑखो का
पर स्वीकृति हूँ अनन्त छवि की
उस जन-जन के उर मे जागे
शत-लक्ष-रश्मि रवि की।
इसलिए जूझता रहता हूँ
शत-मलिन-बाहु उस शूद्र राहु से
अपने अन्दर, बाहर जग मे,
जिसके कारण ग्रहणच्छायाएँ विषाक्त

फैली जीवन के मैदानो पर।

लाल-लाल प्रज्ज्वलित नगर से
उठते घटाटोप धूएँ के मदमाते
काले सियाह
घन सर्पिल मेघो की तैरती हुई
लम्बी-लम्बी परछाईं-सी ही
गाढ विषमयी ग्रहणच्छाया फैल चुकी।
रे, इसी राहु के कारण ही
वीरान गाँव के खोये-से अवसन्न शान्तिमय
फूटे घर की
आधी गिरी हुई, मिट्टी की दीवारो के निकट स्तब्ध-मन
धूलि-धूसरित मै रहस्यदर्शी
खण्डहर का नग्न उच्च गम्भीर वृक्ष हूँ
किन्तु अभी मेरे
लम्बे दृढ-शक्ति-दृप्त आकुल कठोर
ये मूल हरे है,
घेरे है धरती का ऊष्माभरा हृदय।
निष्पर्ण खडा हूँ
पर जीबन-आसक्त प्राण अब भी निर्भय।
मैं इसीलिए द्रुत पुकार उठता—
ओ बिराट् स्वप्नो, तुम जागो,
जागो आत्मा के सेनानी,
ओ अगाध अभिमानी जागो!
केवल एक तुम्हारे कारण
मुफलिस का पीला चिराग जलता है
अधिक ज्योति से,
अधिक शक्ति की प्रसन्नता से,
अधिक कीर्ति से
जिससे मटमैली दीवाले अन्तर्मन की
त्याग कुचैली उदासीनता
के मैले कपडो के लत्तर
हँस पडती अनुराग-स्नेह भर,
केवल एक तुम्हारे कारण।
घोर अदम्य रक्तिमा की लम्बी-लम्बी ज्वाला मादक
अविराम द्रोह के जाग्रत तप-सी
चलती फिरती बेचैन देह की
सीधी तनी हुई जलती रेखा बन
घोर गुहान्धकार-सी निर्मम
अन्दमान की कारा मे बन्दी होकर भी

एक प्रज्ज्वलित लक्ष्य बनी है।
केवल एक तुम्हारे कारण
आत्मा मे विश्वास
अस्थियो मे अविनीत सुदृढता
बाँहो मे भ्रातृत्व-ऊष्णता कोमल
औ' आँखो मे कभी न बुझनेवाली
मादक सुस्थिर दीप्ति—
कि जो नक्षत्र-ज्योति-सी निर्मल।
केवल एक तुम्हारे कारण
मानव-मुक्ति
अदूर, पास है, बहुत पास वह।
एक कूल विश्वास,
दूसरा कूल मुक्ति है,
और बीच मे बहती मादक गगा-धारा
ज्वार भरी घहराती
हहराती जाती जल-राशि अपारा
मानव-अग्नि-परीक्षाओ की।
ओ विराट् स्वप्नो तुम जागो,
देखो मानव-काक्षाओ की
आज अगाध शक्ति कितनी है।

ओ विराट् स्वप्नो,
निज गहरी नीली आँखे खोलो,
उठो और चल पडो
राह ज्यो धूलि-धूसरित चल पडती है
छूती हुई अनन्त क्षितिज के मैदानो को।
ये बालू के देश और वे दुर्गम कानन
तीव्र चीरते जानेवाले भव्य मार्ग-से
द्रुत बिछ जाओ
अभिशापो के श्याम विश्व की छाती पर
तुम रक्तारुण उद्दीप्त मार्ग बन
अपराजेय मानवात्मा के
चलो चाह के अछोर प्यासे वक्ष-दाह-से।
एक नग्न विस्तार लिये
गम्भीर गगन की श्यामायित तारालोकित
छाया नीचे
रात की नीद मे डूबे
खोये हुए मानवो के अन्तर से
तुम प्रति मानव के अन्तर के भव्य महामानव जागो!
नि सीम नग्न अम्बर का लेकर सब अछोर बल,

श्यामायित तारालोकित जब पृथ्वीतल,
तुम रजत तारको का कोमल उच्छवास पा चलो,
अधरो से निज अधर लगाकर
मानवता की कलियो का उल्लास पी चलो,
अपनी छाया उनकी भीगी
रजत आत्मा पर विस्तृत कर
उठो यो कि उनका रजताचल छोर चूम लो।
यह मानव की प्यास
तारको की छाती पर चुम्बन-अकन,
विजय-कथा बन
चपल समीरण के अन्तर मे
क्षुब्ध वासना-सी व्याकुलतम
झूम-झूम उठनेवाली
गहरी सोधी सुगन्ध बन जाये।

ओ मानव के विराट् स्वप्नो, देखो
एक तुम्हारे छोटे क्षण के तप्त श्वास से
कितना अन्तर, परिवर्तन द्रुत
यहाँ हो गया !
सहसा प्राचीरे, मीनारे
महलो की दीवारे काँपी और गिर पडी,
नीला आसमान भी काँपा, और ढह पडा,
मरे कबूतर प्राचीरो के छेदो-छेदो रहनेवाले।
दीवारो से घिरे अँधेरे मे चुपचाप रेंगनेवाले
जीव-जन्तु मर गये घिनौने।
काँपी किरने, डोला सूरज।
घुप्प अँधेरा बन्द कक्ष मे
बासी अन्धी घिरी वायु की
बनी भाफ, उड गयी गगन मे।
ऊष्ण सुनहली पारदर्शिनी धूप फैलकर,
वह नगी आभा
खण्डहर के विस्तारो पर
यो नि सीम हुई है मानो
प्रखर प्रकाश ज्ञान का सब पर
तुरत फैलकर
घोर भग्न अज्ञान प्रकाशित करता है,
त्यो नग्न धूप मे
ढूह उठे हैं।
प्रासादो के शयन-कक्ष मे
पीपल का तरु

उग आया है, बढा खडा
विद्रोही यौवन के विकास-सा ।
कमरो-कमरो, आँगन-आँगन
दीवारो-दीवारो मे से
उगकर बढकर
नूतन पीपल, मौलसिरी औ' नीम
वायु मे मर्मर करते,
नगी जाँघो
विकसित भरे हुए वक्षो मे वृक्ष बन गये ।
श्याम मेहनती पैरो की
शोणित-वाहिनियाँ
नवल लताओ
की मीठी उलझन बन बैठी
हरे तरुण पत्त औ' नन्हे फूल देह मे
नये ज्ञान की मधुर शक्ति मे हँसे खिल गये ।
नयी सुरभि का रुधिर
धरित्री की सोधी आकुल पुकार का
मीठा अपनापन भर
प्राणो के निभृतान्धकार मे व्याकुल होकर
मर्मर करता लगा घूमने ।

और क्रुद्ध आनन्दित सगर
भव्य वक्ष की रुधिर धार मे लगा डूबने,
गहन रात ज्यो
अग्नि-अरुण आभा मे डूबे ।
और सूर्य के उगते उठते
गोल-गोल रक्ताभ बिम्ब-सा
भव्य भविष्य
प्रगाढ रक्त-आप्लुत मानव की ऊषा मे से
उदित हो गया ।
जिसकी लाल लपट मे काँपी,
काँपी लहरे सरिताओ की ।
पीला फूस झोपडी का भी रक्तारुण उद्दाम हो गया ।
कूएँ के जल मे आनन्दित
गगरी गूँजी, उठी नाचती,
रहँट चल पडा आकुल होकर
अट्टहास से गान हो गया ।
ओ विराट् स्वप्नो तुम देखो,
केवल एक तुम्हारे कारण
अगारे हो गये कमल-से सुन्दर कोमल,

लाल स्फुलिंग नवल किंशुक के फूल हो गये,
मेरे भारत के वृक्षो ने
ज्वालाओ के नये सुनहले ककण पहने
माला पहनी
कूल नदी के लाल हो गये।
देश-देश प्रज्ज्वलित
सुनहली क्रूर भव्य दावा मे जलता
यह मानव हो गया फैलकर
महान व्यापक।
केवल एक तुम्हारे कारण।

[सम्भावित रचनाकाल 1944-48। अप्रकाशित]

बबूल

वह बबूल भी
दुबला, धूलभरा, अप्रिय-सा, सहज उपेक्षित,
श्याम, वक्र अस्तित्व लिये वह रक तिरस्कृत,
अपमानो को मौन झेलता, चिर-अपमानित,
पथ के एक ओर चुपचाप खडा है।
फटे-हाल जीवन की नगी कठिन दीनता-सा जो वर्जित
वह बबूल है।
वृक्षो के अभिजात वर्ग की ऑखो मे वह सदा बहिष्कृत,
चिर-निर्वासित।
पर वसन्त के
अनियन्त्रित समीर के झोके
उसको छू ही लेते है।
वह नग्न सुदामा, विवश क्या करे।
उसके सदा तुच्छ समझे जानेवाले
उस गहन हृदय मे
गूढ आँसुओ मे
वसन्त के वासन्ती रग चमक-चमक जाते है
बरबस
उभर-उभर उठती हैं अन्तस्तल की छुपी लकीरे
आसमान के ताराओ की,
सलज चाँद की
लाल सूर्य की

आकृतियो मे घिरकर सब पर छा जाने को
उभर-उभर उठती है अन्तस्तल की छुपी लकीरे।
उसके तुच्छ उपेक्षित अन्तर
मे अथाह रस का जो सागर
जाने क्यो सुदूर के रवि के आकुल एक परस के द्वारा,
यो सचेत होकर अपने से
दूर दिशाएँ चाह रहा है अपने उर अचल मे ढँकना।
केवल क्षण-भर,
केवल क्षण-भर,
वही बहिष्कृत अन्तर
चाह रहा है दुलराना सारी जगती को
सब धरती को।
क्षण-भर, केवल क्षण-भर
दुलराने का, सजल-नयन चुम्बन का
वह अधिकार माँगता है, निज नग्न डालियाँ हिला-हिलाकर
देह कटकित होकर
माँग रही वरदान दिशा से कोमल आलिगन का।

अरे, अचानक
जो बबूल के रक्तहीन कण्टक-नख सूखे थे
अब नये रुधिर के आये,
निज कोमलता मे शरमाये
और झेपती हुई पत्तियाँ छोटी-छोटी
सूखी काली डालो पर गुपचुप आ बैठी।
सूखा औ' खुरदरा तना, वे काली डाले
ज्यो मेहनत के धूलभरे कर, काली टाँगे
अपनी इस वसन्त-श्री पर ही लज्जित
गूढ हृदय की चिर-सम्पन्न भावना नित ही अवनत—
त्यो बबूल यह लजा गया निज नव-यौवन पर
पीले-फूल-लदी डालो को
सकुचा-सकुचा समेटता-सा।
जितना-जितना हुआ सकुचित लज्जानत वह
उतना-उतना उभर-उभर पडता यौवन-रस।
काँप रही है पत्ती-पत्ती
एक अकूल कम्प मे डूबी शाखाएँ सपने मे हँसती
पुलक-पुलक उठते है पीले फूलो के दल,
रस की एक भँवर मे घिरकर
आत्म-विसर्जन-आकुल प्रतिपल।

अरे, अचानक,

उस बबूल के मूल
हृदय मे धारण करनेवाली धरती
की वह काली नगी छाती
आप्लावित होती
बबूल के पीले आत्म-विसर्जित फूलो की वर्षा से ।
सहसा सारी भूमि पीत,
तरु की आत्मा हलकी पुनीत
मन भी पुनीत, वन भी पुनीत ।

उस बबूल को देख
तुरत ही
युगानुयुग सन्तप्त प्रपीडित जनता की महानता के
वे ऊँचे-ऊँचे चित्र उभरकर
छा जाते मेरी आँखो मे,
जिनके सम्मुख
देशकाल-व्यापी छाया सिद्धार्थ बुद्ध की भी
फीकी लगती है सचमुच ।
एक अजस्र प्रयाण
युगो की छाती पर नगे, बिवाइयोभरे
रुधिर-आप्लुत चरणो का,
जन-जन का, उनके प्राणो का,
मुझे जकड लेता है
काला स्याह नाग ज्यो चन्दन की डाली को ।

एक चित्र आता आँखो के सम्मुख कोमल
तैर-तैरकर ।
एक गाँव है, वहाँ नदी है,
नदी कूल से दूर दिशा तक खेत बिछे है
हरे-हरे वे श्यामल-श्यामल,
जिनमे छिपी, छिपी फिरती है लाल ओढनी
मुँह की श्यामल चमक सुरीली
साथ-साथ, मेहनत के पुतले
शोषण-हत गम खानेवाले
दुख के स्वामी
अविश्रान्त वे काले-काले हाथ व्यस्त हैं
रिक्त पेट की आँखो मे दुख के प्रवाह ले
जिनकी बेबस कर्मशीलता ने युग-युग के
गौर कपोलो मे लाली की मदिरा भर दी ।
आह ! त्याग की उत्कट प्रतिमा होरी महतो, भोली धनिया
जाग रहे हैं,

काम कर रहे है अब भी अपने खेतो मे
उनकी श्वेत अस्थियो से इस युग का वज्र बनेगा भयकर।
वह बबूल
जो चिर-निर्वासित,
एक प्रतीक बना है केवल जन-जन के नि सीम त्याग का।
मेरी खिडकी से दिखती है
होरी की वह याद।
जवानी मे आया है,
पीले फूलो को छिटकाता प्रिय बबूल वह,
अर्पण-आकुल, आत्म-चेतना मे विह्वल हो
चाह रहा है मज्जित करना दिशा-कूल को।

[रचनाकाल 1951। बनारस। हस, सितम्बर 1945, मे प्रकाशित]

उड़ गया है रंग

उड गया है रग
प्राण दुकूल का, पर चढ रहा है ओज
व्यक्ति-बबूल पर
औ' तिक्त कडुए गोद-सा
कुछ व्यर्थ का साफल्य
सूना सारहीन महत्व
बहकर सूखकर एकत्र है
औ' खुरदुरे काले तने की डालियॉ
इस गोद की
कटु-कठिन गाँठो से
सुशोभित हो
प्रदर्शित कर रही हैं आत्म-वैभव
आत्म-गरिमा
रात-दिन !

[सम्भावित रचनाकाल 1945-46। बनारस। हंस, जून 1946, मे प्रकाशित]

वह दिवस भी क्या दिवस है !

वह दिवस भी क्या दिवस है
हिम-नग्न पावन सत्य के
प्रासाद के अन्दर कही
अति श्वेत वक्षो की खुली भीतो-घिरे
निज कक्ष मे
नगा छुपा व्यभिचार हो
हिम-श्वेत पावन सत्य के प्रासाद के
सूने किसी निज कक्ष मे ।
वह दिवस भी क्या दिवस है !
ससार की आँखे कहे कुछ भी नही,
गम्भीर श्रद्धा-भाव से हो ले विनत
मानो कहे अध्यात्म है, अध्यात्म है ।
'अध्यात्म है नास्तिक अरे !'
कह,
एक निर्मम सत्यवक्ता का सदाशय
उच्च मस्तक तोड दे
अपने सदा के आयुधो से
दैत्य हो ।
वह दिवस भी क्या दिवस है !

[सम्भावित रचनाकाल 1945-46 । बनारस । हस, जून 1946, मे प्रकाशित]

ग़ुलामी की ज़ंजीरें टूट जायेंगी

गुलामी की जजीरे टूट सब जायेगी,
उनको तोड देगा मेरा कसा हुआ बाहुदण्ड ।
भरे हुए वक्ष पर
उभरे हुए घावो की ये लाल-लाल लकीरें
अनुभव के सहारे
मुझमे भर देगी नये (खौलते-से) खन की
खिलखिलाती हुई सौ बेचैन जवानियाँ ।
मजिल के लक्ष्य के लिए अकुलाती-सी
मीठी-मीठी सुलगती आग वह

जागेगी आँखो मे सुबह् का नूर बन।
गुलामी की ज़ंजीरें जल्दी ही सब टूट जायेगी
उनको तोड फेंक देगा
शक्तिशाली मेरा नया बाहुदण्ड।

तेरे साथ घूमूँगा गलियो मे राहो पर
फटे चिथडो मे भी रहूँगा मै बादशाह
अपने मन का नही, मै हूँ तेरे स्नेह का भिक्षुक
तेरा साथी यह चिथडो का फरजन्द
दिल जिधर जायेगा
उधर तू भी रहेगा
उधर मैं भी रहूँगा
ऐ हिन्दुस्तानी फटेहाल जिन्दादिल जिन्दगी
तेरे साथ तेरा यह बन्दा नित रहेगा।

पछी के मानिन्द हम नही उड जायेगे
इन गलियो मे चूहे-से नही ही सडेंगे हम
बनने के लिए हम इन्सान
कहाये है आदमी
मानव के लिए हम
हमारे भी लिए हम
गलियो मे रहेगे और गलियो मे खायेगे
गलियो मे रहनेवाले लोगो के लिए हम लडेंगे।

मैदानो मे घूमेंगे
भूरे-भूरे पीले-पीले सुनहले-सुनहले विस्तारो पर
सुदूर को समीपतर बनाकर हम चूमेगे
चूमेगी अचरजभरी-सी निगाहे ये
हरे-हरे खेतो मे
लाल-लाल चूनर के धब्बो को।
ऊपर होगा नीला-नीला आसमान
नीचे होगा भूरा-भूरा
गेहुँए घासो-सा भरा यह मैदान मालवी।
छोटे-छोटे झरने होंगे
खूब काम करने होंगे
अपने सब कामो मे उछाह होगा
खूब होगा बिसवास
हवा जैसे बहती है अनायास
कार्य-स्फूर्ति वैसे बह चलेगी
जिन्दगी कहानी कह चलेगी।

ज़िन्दगी बडी ही अजीब है
मुझ-से बेतरतीब
को मिली तरतीब है
राहो की तरतीब
मैदानो की तरतीब।
गम की, पैगाम की,
धूम मचाने की, कर गुज़रने की ताकते
असल मे असलियत
का नूर भर देने की तमन्ना औ' हिकमते।
समायी-सी लगती है
मेरी इस धुकधुकी मे छोटी-सी हस्ती मे
लेकिन सब तेरे बिना फीका है
ज़िन्दगी सूखी है कि आसमान सूखा है
क्योकि मेरा दिल
मेरी जिन्दगी तेरे लिए भूखी है

जिन्दगी की अब तक की
लिखी गयी जैसे भी सतरे है
उन्हे फिर दुबारा उभारे कौन ?
उन्हे कौन पढे अब ?
आगे की ज़िन्दगी आज की समूची यह
ज़िन्दगी लिखना है
तजुर्बे से सीखा है कि तजुर्बे से सीख
नही पाया मै, कि नही सीख सका हूँ।
इसलिए इसमे तेरी मदद—
ऐ मेरे साथी, मेरे मालिक—चाहिए !

गुलामी की ज़ंजीरे जल्दी ही टूट सब जायेगी
मेरी कमजोरियो की
अन्दर की लाचारी की दीवाले टूटेगी
तीखे सुभाव के कँटीले तारो घिरी हुई
सूखी हुई जमीन पर
सोया हुआ जागेगा इन्सान
लेकिन, ऐ मेरे साथी, तेरे बिना जागकर करेगा क्या
पहले तो तेरे बिना नही वह सकता भी जाग ही,
जाग भी गया तो वह करेगा क्या ? हाय रे !
सूने मे आँखे फाड
चारो तरफ देख-देख
वह पथरा जायेगा कि जायेगा सो फिर
ऐ मेरे दूर पर छिपे हुए साथी

बोल, तेरा नाम क्या है
रहता किस मुहल्ले मे करता है काम क्या
सुखी है या दुखी है
कि तेरी भी जिन्दगी की काजली
भीते है कि जिन पर
दर्द की उँगली से
भद्दे-भद्दे हरफो मे चारो ओर,
छोटे-छोटे वाक्यो मे कहानियाँ कई एक
लिखी गयी—पेट की व आत्मा की भूख की
अपमान-क्षोभ की व द्रोह की
दिल को मसलकर रह जानेवाली प्यारभरी बात की
न कह सके जानेवाले गहरे बिछोह की
पसलियो पर पडी हुई खौफनाक आफतो के लोहे की लात की।
सोचता हूँ इनसे सबसे बरी है
जिन्दगी तेरी हरी-भरी है।

पूछता हूँ फिर भी कि
मिट्टी से लिपे-पुते घर का रखवालदार
तेरा वह प्यारा नीम
साँझ की उस ठण्डी-सी गीली-सी उदासी के
नीले वातावरण मे
अकेले सुर्ख बादल की बुझती हुई कोरो को
देखता-सा खडा है कि
उसके हरे-भरे तरु-व्यक्तित्व के उर मे
घरो से उठे हुए नीले-से बल खाते धुएँ की
अपनेपन-सी प्यारी व तीखी-सी गरम गन्ध
समाकर
उकसाती है अब भी क्या गहरी कहानियाँ?

[अपूर्ण। सम्भावित रचनाकाल 1945-46। अप्रकाशित]

वर्षा

मीठी-मीठी जल-कलिकाओ की धाराएँ
धूम गगन से
मेघो के उच्छ्वसित-वक्ष-सम्भार-श्वसन से

आ बरसी हैं।
छोटे-छोटे जल के कण-कण
मानो ये सौ-सौ मृदु तन-मन सुरभित द्युति के
खूब खिलखिलाकर लेते हे अविरत चुम्बन
आदिम चुम्बन
अपने भोले अति निष्पाप सरल ओठों से
बाँह पसारे चौदह की बालिका हृदय के
आदिम चुम्बन
नही मिले जो वर्तमान युग के मानव को
आत्मवचनाहीन, सरल, निश्छल, अति पावन
निज सुकुमार नग्नता मे द्युतिमय ये तन-मन
हरस रहे है।

ये यौवन-मन्दिर के आधे खुले द्वार पर
कुसुम-राशियो-से बिखरे है मन पसारकर
बरस रहे है।
वर्षा के नीले पीत जामुनी स्वर्ण अरुण घन मेघा बरसे
रक्तिम सन्ध्या के दिशिव्यापी तन-मन-उर से
लाल पराग सुकोमल बरसे
उनमे भीगे ये मृदु कण-कण
बरस रहे है यौवन-मन्दिर के गर्वोन्नत नयन मनोहर
स्वर्णांकित मृदु श्वेत कान्ति के गोल शिखर पर
मानवता के-से मीठे
अनिवार प्रेम के मृदु आलिंगन
के ये अविरत-अविरत लघु क्षण

मेघो के आशीर्वाद के आश्वास-से छायामय ये
ये कपोल के आह्लाद, कोमल निर्भय ये
बरस रहे हैं तरल कुसुम-दल
पकिल पथ के ये मृदु सम्बल
चूम कपोल, कह रहे 'राही
मत थक, मत डर, दलदल से इस, चल, चलता चल !'

[सम्भावित रचनाकाल 1945-46। बनारस। अप्रकाशित]

एक निमिष-सा

एक निमिष-सा मै कर सकता ?
किन्तु बताओ मुझको कोई
कौन सत्य की माता, उसका पिता कौन है
और कहाँ है उसका सुन्दरतम घर
उत्तर ध्रुव मे ?
दक्षिण ध्रुव मे ?
धवल हिमालय की चोटी पर ?
या कि वनाच्छादित रॉकीज पहाडो पर
वह कहाँ रहा है ?
क्या वह ब्रिटिश म्यूजियम मे है
या बर्लिन, लन्दन, मास्को मे
हिन्दुस्तान टाइम्स आदि मे
या समाधि मे ?
मैं विह्वल व्याकुल डोलूँ हूँ
मेघभरे नभ मे ज्यो बिजली
शायद मै इस महत् विश्व
के अन्ध कक्ष के
अन्दर तम मे
मरे हुए उस आदि सत्य का व्यग्र भूत हूँ
औ' अपने अस्तित्व-सत्य को खोज रहा हूँ
प्रतिपल विह्वल चचल व्याकुल ।

[सम्भवत अपूर्ण। सम्भावित रचनाकाल 1945-46। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

ओ भव्य मस्तक

ओ भव्य मस्तक, ज्ञान-रवि, सित-केश
तुम सजल सरि-धारा विचुबित
आम्र तरु-से
प्राण-श्री-सम्पन्न, अवनत ।
धरित्री के चरण-तल मे नमित नीले क्षितिज-नभ से देश
ओ भव्य मस्तक, ज्ञान-रवि, सित-केश ।

युँग-उष सस्कृति की विमोहित
स्फुरित
मधु प्रेरणा-दाह के लाल तुम अगार
जन-प्राण-कपित
विहग पखो के विकल उत्थान के तुम आदि मन्त्रोच्चार
आयत लोचनो के नील-नव औत्सुक्य के विस्फार
क्या तुम दे सकोगे दान
इतना दान ?
जिससे प्राण मे भर जाये नव विश्वास के अगार
उस आग की मधु-अरुण
मृदु उद्दीप्त फूलो से सघन नव-बेल
मेरे हृदय के सब ओर यो चढ जाये
स्वर्णिल ज्वलत शाखाएँ हृदय को बाँधकर बढ जाये
उज्ज्वल जाल के विस्तार मे बँध जाये मेरे प्राण
क्या तुम दे सकोगे दान ?
इतना दान ?

[सम्भावित रचनाकाल 1945-46। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

किसी से

छितरे श्याम घनो मे से दयनीय झाँकनेवाला जर्जर अम्बर,
उसकी धुँधली लोचन-तारा।
सूनी रात भयकर
शिथिल, शीत, उच्छ्वासहीन ज्यो कठिन अँधेरी कारा।
नि सहाय, पीडित उर का
आक्रोश प्रार्थना मे भरकर,
वह लिपटी दृढ नकारमय चरणो से अति कातर
परित्यक्त नारी-तन-रेखा पति चरणो पर,
रो-रोकर मूर्छित तदनन्तर—
त्यो उस निभृत तिमिर-अन्चल मे
मूर्छित है जो कातर लतिका
पीपल तरु के दर्पभरे उन कठिन दूरगामी चरणो पर
वह प्रताडिता, स्नेह-वचिता
इस वातायन से दिखती है।

सम्मुख, रात भयंकर
शिथिल, शीत, उच्छ्वासहीन ज्यो कठिन अँधेरी कारा।
छितरे श्याम घनो मे से, दयनीय,
झॉकनेवाला जर्जर अम्बर
उसकी धुँधली लोचन-तारा।

बन्द कक्ष है मेरा, केवल एक तुम्ही हो,
और एक मैं।
जीवन के पथ मे समूह-पद-मर्दित,
पीडित अग-अग ले,
कुचले, छिन्न-भिन्न प्राणो की
सुलगी कठिन-काष्ठ-समिधा से
ज्वालारुण हृदयान्तराल के घन-स्फुलिग ले,
प्राण भग ले,
प्राणो पर उभरे कठोर सब पदाघात के अमिट चिह्न ले,
तुम आयी हो
ओ तिरस्कृते, चिर-बहिष्कृते।
अरे, तुम्हारे पास नही कुछ गर्व-योग्य जो,
मृदु-मृदु वचनो मे अन्तर्हित आत्मभोग्य हो।
अरी, नामहीने, गतिहीने, अयि, मतिहीने,
सभी चमक से हीन, गुणो से दूर, श्रमलिने,
कहाँ फँस गयी इस जगल मे ?
सौ-सौ काँटे बिंधे तुम्हारे इस जर्जर अचल मे।
क पदार्थ, तुम यत्किंचित, भोली अकिंचने।
अब तक जितने भी प्रमाद तेरे तन-मन के,
वे सब बने घोर, गुरुतम अपराध करुण जीवन के।
जिनके लिए सहे हैं पत्थर
गोल तिकोने लक्ष्यविद्ध, अपने कपाल पर,
फेंके गये कुशल हाथो से
दर्पपूर्ण सत्यान्वेषण के गहरे अर्ध-मानवी उर से;
आत्मप्रीति के निष्कलक अगारो के अम्बर से।
गोल, तिकोने, लक्ष्यविद्ध, अपने कपाल पर
फेंके गये कुशल पत्थर—
वे मात्र 'सत्य के अन्वेषण',
जो रक्त बहा व्याकुल होकर तेरे कपाल से
अश्रुधार से विह्वल मिलता हुआ गाल पर,
रक्त नही है वह मानव के तन का,
वह तो मात्र धूल-सा प्राणहीन है, क पदार्थ है।
वह तो पथ पर बहते पानी की लघु धारा-सा ही अरे, व्यर्थ है।
और कि तेरे सब असख्य दुर्भाग्य निरर्थक,

उनका है न महत्व, न गुरुता।
केवल अर्थ एक ही—
वह तेरे प्रमाद की विन्ध्याचली अमरता।

एक ढीह-सी निराकार व्यक्तित्वहीनता की अधिकारिणि,
तुझे प्रमाद न करने का अधिकार
मात्र आदर्शवाद का भार कि वह
जो दासो का है, शूद्रो का आदर्शवाद।
सारे प्रमाद करने का भी अधिकार उन्हे,
अपराध सत्य-सा रँगने का अधिकार उन्हे,
उनके तो सारे मनोभाव नित्य सत्य-रूप है।
उनके प्राण महासागर है,
बाकी सारे अन्धकूप है।
उनकी व्यथा-वेदना की स्वतन्त्र सत्ता हे,
उसकी अपनी अलग महत्ता,
उसका मूल्य
सदा हम-तुम से परे उच्च है।
उसकी अपनी अलग इयत्ता।
उनका सारा अहभाव भी अति सुन्दर है,
स्वाभाविक है, माननीय है,
लेकिन तेरे मनोभाव
वह क्षोभ, द्रोह—सब भद्दे है, सब दानवीय है।
उनका व्यग्य सत्य की उज्ज्वल चिनगारी,
औ' तेरा भद्दा क्रोध हाय वह सारी गाली।
वे शासक है—उनमे शासन की वाणी है,
तू बौनी है।
तेरी माता कौन ? पिना भी कौन ?
कि यह तेरा सौभाग्य यहाँ पर तू आयी है।
क्या तू धन लायी ?
गुण, रूप और सस्कृति लायी है ?
अहे, जगत के जगल मे
भयभीत भटकती, री सुकुमारी !
उन्हे कूप मे गिर जाने से तेरे
जीवनान्त का भय है।
नही इसलिए कि
प्राण तेरे खो जायेगे,
वरन यो कि
वे सभी दूर बदनाम बहुत ही हो जायेगे।
उन्हे हानि का केवल अपनी
गहरा, बहुत गहन सशय है।

उनकी पूत अहंता तो अध्यात्म-रुचिर है
सत्य-विजय है।
अलग-अलग नैतिकताएँ है,
बडो के लिए भिन्न सुरक्षित,
छोटे फुटकल लोगो के हित एक दूसरी।
अरी, जगत के जगल मे
भयभीत भटकती, री सुकुमारी,
छोटे गिरि से निकल,
प्रवाहित होकर बजर रेतीली ज़मीन मे घूमी,
गिरी एक अवरुद्ध श्याम खाडी मे खारी।
क्या है तेरी सत्ता ?
क्या मन-प्राण महत्ता ?
अरी वचिते, चिर प्रताडिते,
घृणापात्रता की आयी है बारी।
केवल मानव की इज्जत क्या
कभी कर सकी दुनियादारी ?
सारा स्नेह, शक्ति, गुण, प्रतिभा
रहती धन-सीमा से सीमित,
यह है अन्तिम सत्य अनाहत।
इस समाज के वक्ता सारे
सत्य और आदर्शवाद ही
नित बर्राते, उसको खाते, उसको पीते
और चाट जाते है, रुचि से।

अरे, घृणा-विष-भरे थूक से चर्चित तेरा
मुख साधारण।
उनका थूक कि आत्मप्रीति का सत्य हुआ जिनका आजीवन
एक मात्र अध्यात्म निदारुण।
धोबी के मैले कपडो के गट्ठर-सा
निर्जीव पडा है तेरा तन-मन।
उष्ण रक्त के दीर्घ दाग-सा
अण्डाकार बना है जीवन।
यह तेरा आक्रोश-क्षोभ है व्यर्थ निदारुण !
क्योकि यहॉ सामाजिक सस्कृति
के अन्तर्गत यह विस्फोट मात्र बर्बरता।
अत घुटन औ' घुलन यहाँ का नियम आमरण।

बन्द कक्ष है मेरा, केवल एक तुम्ही हो
और एक मै।
आधी रात काँपती बाहर,

सूनी रात कक्ष के अन्दर,
अन्दर-बाहर फैल रही है एक बात आँचल पसारकर,
कातर हाँफ रही है जिह्वा,
निकल मलिन जबडे से किंवा
किसी पराजित श्वान-देह की अस्थिमात्रता से घबराकर
जीवन-दुख अनुभवी दीप भी एक ताक मे,
अपनी लौ की एक आँख से
है निहारता,
बहुत धैर्यपूर्वक सुनता है
व्रण से भरे हृदय का स्पन्दन।
लौट-लौट जाती है लहरे
श्यामल काल-सिन्धु की,
दुख के चट्टानी कगार से
टकरा-टकराकर छितराकर।
तुम कमरे के एक ओर कोने मे,
पडी हुई हो
जडीभूत हिचकी-सी।
जीवन के सूखे पत्तो की वृहत् राशि मे
कोई नाग न हिलता-डुलता
स्मृति का, दुख का,
सरक, खुडखुडाकर सूखे पत्तो के दल को।
मात्र बह रही है प्राणो से
दुख की गरम रक्त की धारा
नीरव, नीरव।
आ, मै अपने प्राणो के कोमल कपास से उसे पोछ दूँ।
अपने उर की उष्ण किरण से
तेरे सूजे हुए करो मे जीवन भर दूँ।
जलती हुई अँगीठी मेरे प्राण-वक्ष की
जीवन की बर्फीली सर्दी से ठिठुराते
एक प्राण का दर्द भगा दे,
जीवन-ज्योति जगा दे।
अहे जगत् के जगल मे भयभीत भटकती
प्रिय सुकुमारी,
फिर प्रात होगी, अपनी-अपनी राहो पर जाना होगा।
अपने-अपने अलग-अलग स्वर
द्रुत पहचान, गीत को चुनकर गाना होगा।
अभी पुत्र-पुत्री से निशि के
सोये है बद्धालिगन वे
धरती-अम्बर सिकुड-सिकुडकर।
आ, तब तक हम एक दूसरे को पहचाने,

अपने-अपने लँगडे पैरो के दुखते
बर्राते कॉंटो को प्रयास से देखे और निकाले ।
मै तेरे उस सर्प-दश के विष को अपनी सर्व शक्ति से पी लूँ,
ऐसे, तेरा सारा जीवन जी लूँ ।
आ, उठ आ, री घृणासिक्त तन-राशि, नही तू मैली,
अरी लाछिते, तू मानव है नही अकेली ।
मेरे प्राणो के दावा-वन
मे स्वर्णिम पुष्पो की तेजोलतिका-सी
तू खडी हुई है उन्मन ।
अभी-अभी अपने प्राणो के मीनारो को
स्वर्ण-रश्मियाँ नये सूर्य की
तुरत बद्ध कर लेगी कोमल अरुण क्रोड मे ।
इसीलिए अब जाग,
ताक मे रखा हुआ उन्मन दीपक वह
तेरे बिखरे हुए कुन्तलो पर
अब हाथ फेरता
स्नेह-वन्दना-बिदाभरे कोमल भावो से ।
इसीलिए अब जाग,
प्राण के कोमल अगारो की लतिके ।

[**हंस**, अप्रैल 1946, मे प्रकाशित]

दो शिलाओं की अँधेरी सन्धि में

[बाद में कवि ने इसे 'सत्य का अकुर' शीर्षक भी दिया ।—स]

किन्ही भारी दो शिलाओ की अँधेरी सन्धि मे
गहरी सुदीर्घ दरार के
उस मृत्तिका-सुरभित निभृत मे डूब, यो
जिसने सहज
अति दूर से ला
बीज अर्पण कर दिया
वह धन्य वनवासी समीर !

हरित-द्युति जीवन-शिखा
की एक मीठी आँच
अन्तर मे सँजो

निज नवल अवयव प्रति दिवस
है दीर्घ करता जा रहा
जो सत्य
उसको नमित-अन्तर वन्दना ।

किन्ही भारी दो शिलाओ की अँधेरी सन्धि मे
उगते हुए उस सत्य को
जिसने प्रखर उर-रश्मि के आघात से,
जिसने हृदय-एकत्र जीवन की सकल अनुभूति की
व्याकुल सजल बरसात से
गम्भीर महिमापूर्ण श्री-मय
वृक्ष मे
यो सहज परिणत कर दिया
उस रक्त रश्मि-विहानवाले ज्ञान-गुरु-से सूर्य को
उस विकल जल-विस्तार-जल-विस्तारवाली
गहन-मन बरसात को
मेरे हृदय की किन्ही नीरव
दो शिलाओ का कृतज्ञ प्रणाम है
उनकी अँधेरी सन्धि का
वह मृत्तिका-सुरभित निभृत
है सार-स्पन्दित शक्ति-पुलकित हो गया ।
विजड, निर्विश्वास-पूरित, अहगर्भा
दो शिलाएँ,
किन्तु उनकी सन्धि से,
विश्वास का
(अविजेय यौवन-सा अजर) उद्ग्रीव तरु
मस्तक विनत यो कर नही सकता ।
अत उसकी ओर से
ये विनत कृतज्ञ प्रणाम करती हैं
विजड-नीरव शिलाएँ
ये शिलाएँ प्राण की ।

[रचनाकाल 1946 । बनारस । **हंस**, जून 1946, मे प्रकाशित]

अपने कवि से

रुक गयी क्यो आज इतनी देर
तेरी लेखनी ?
अब तक विकृत दुर्गन्ध शव-समुदाय की,
बगाल के ककाल विगलित काय की,
वातावरण मे
पाप-स्मृति-दु स्वप्न के भय-सी सहज
(वह घृणित लैगिक व्यग्य-सी नगी निलज)
है घूमती चहुँ ओर
मानव धाम मे
नि सग नित बेचैन अन्धे पख के
चिमगादडो-सी घूमती
असगुनभरी दुश्चिह्न-सी।
या वह किसी अपराध का
हो भूत
सपने मे किसी के चूम ले विद्रूप ओठो से
चरण आघात से
रक्ताक्त कर दे भाल फिर।
उस भीति के हिमपात से
पाये निकल ही नही घुटती चीख,
यो वह घूम ले।
अब तक विकृत दुर्गन्ध शव-समुदाय की
वातावरण मे
आधुनिक अपराध-गाथा-सी
बराबर छा रही—
फिर रुक गयी क्यो आज इतनी देर तेरी लेखनी ?
क्या हो चली है मन्द
तेरी ज्योति चिर आलेखिनी ?

सग्राम-स्थल की शून्य
बर्फीली निशा के वात मे
है फडफडाती पख व्याकुल आत्मा
मृत, व्यभिचरित स्तन-दीर्ण जन-मातृत्व की
फैले हुए विकलाग अपराजित मृतक भ्रातृत्व की
उर मे दबे अगार की।
मन-प्राण मे जलते हुए जगल अमानव यातनाओ के—
उन्ही की रक्तिमा,
सग्राम-स्थल की शून्य बर्फीली निशा के वात मे

है कॉपती अभियोग-सी ।
व्रण-लाल जन-भ्रातृत्व जन-मातृत्व की
वह एक विकल विहगिनी-सी आत्मा
है तडफडाती, फडफडाती पख ।
नीपर की तरगित वेदनाओ से भरी
विक्षुब्ध धारा मे
डुबोकर चचु
जल पीते हुए वह विहगिनी
सारी गरीबिन मनुजता की पीडनाओ की
बनी है सगिनी—
यो आज तेरी आत्मा मे बोलती वह विहगिनी ।
फिर रुक गयी क्यो
आज इतनी देर तेरी लेखनी !

क्या आज प्रतिक्षण मिल नही पाती
बृहत् सुविशाल गाथा
महत्, मानव की कथा
व्यापक अजस्र समुद्र-सी
पल-पल उमडती लहर जिसकी
है कथा की एक व्याकुल उपकथा
नि सीम हिल्लोलित दिशाव्यापी निवेदित छन्द मे
रामायणो की वेदनाओ की विभा सस्पन्द ले ।
क्या आज प्रतिक्षण
धूलिकण मे भी
पसरता दीखता ही नही
नील आसमान
कि एक पूरा विश्व जीता-जागता ?
कि एक नव-इतिहास
मानव-श्वास का
उसके गगन मे मेघ बन छाया नही ?
व्याकुल महासघर्ष
नूतन राम-रावण का भयद
क्या धूलिकण अन्त करण मे वह नही
प्रतिपल तडित-सा सत्य बनकर कौधता ?
क्या आज उसके प्राण मे
मानव-सुरभि
है डोलती ही नही
नव-सम्भावना-सी स्नेह-सी ?
क्या नही मानव-वक्ष की
सब लौह सीमाएँ

निरन्तर टूटती ही जा रही
ज्यो टूटते हो दुर्ग औ' मैदान बढते हो
कि बढता जा रहा हो आसमान
अनेक अनदेखे
चमकते शान्त तारालोक मे ?
क्या नही प्रतिक्षण
द्रोह, करुणा, क्षोभ के प्रतिशोध के
उच्छ्वसित छन्दो मे
सभी गृहद्वार वातायन
निरन्तर बोलते ?
क्या आज मानव भाव
करुणा के, दया के, धैर्य के
लघु रूप की
एकान्तता को त्याग
आज सहस्रशीर्ष पुरुष विराट् नही हुए है ?
हार जायेगा
हिमालय शृग क्या ?
फिर रुक गयी क्यो आज इतनी देर तेरी लेखनी !

कवि, आज भी मानव
यहाँ पर मरे चूहे-सा उपेक्षित है।
वह बैलगाडी के अचानक (राह मे)
दो भग्न पहियो-सा पराजित।
युद्ध मे टूटे हुए उद्ध्वस्त पुल-सा
वह विदारित।
भग्न ईश्वर मूर्ति-सा वह है विखण्डित प्राण।
वह फाडी हुई चिट्ठी-सरीखा
घोर अपमानित
सहृज अनजान।
जर्जर मलिन आँचर-सा अनादृत दीन।
बूढे करुण धुँधले लोचनो-सा
मलिन तेजोहीन।
वह अँधेरी श्याम गलियो-सा उलझता व्यर्थ
वचित, वह प्रवचित याचना असमर्थ
फेंके प्याज के छिलको-सरीखा धूल खाता राह
यह पजाब, यह बगाल, यह है मालवे का दाह
हिन्दुस्तान की यह एक मात्र कराह।

किन्तु
वह आत्मा

हिमशून्य की घन-कुहर मूर्छा मे अकेली ऊष्मा ।।
औ' यह 'किन्तु' है नगा चमकता तीर
जो जन-प्राण के आग्नेय धनु पर है चढा गम्भीर
यह प्रतिशोध का दुर्वार आकुल तर्क ।
यह बलिदान, हत्या, रक्त, गुरु सघर्ष की तसवीर
मानव-प्राण मे
अविराम शब्दित युद्ध-दुन्दुभि आज
कवि वाल्मीकि
ऐसे ही क्षणो मे लिख रहे थे
मुग्ध लकाकाण्ड के सब सैन्य सगर साज
शिथिलित लेखनी अब हो गयी
है दामिनी नोक ।
रक्तिम पक्तियाँ द्रुत लहर-सी बह ही रही बेरोक
है बेरोक
मानव की विशाल विराट्
सत्ता आज ।
उसके प्राण के अन्दर बने गहरे अनेक दराज़
उनमे से निकलते है रिवॉल्वर
लक्ष्य-उत्सुक क्षुब्ध
देशी औ' विदेशी शत्रुओ के मस्तको पर लुब्ध ।
जीवन के असीमित
शीत श्यामल सिन्धु पर विकराल
घृणा के अति भव्य दीपस्तम्भ की
है फैलती सन्तप्त नीली ज्वाल
बढते जा रहे है श्रमिक कृषको के
सुसज्जित युद्धपोत विशाल
दारुण क्रान्ति की अनिवार्यता
के भाग्य-मुग्ध प्रतीक ।
लम्बी धूल-धूसर राह पर
पल-पल टपकते रक्त की अब पड गयी है लीक ।
मानव-प्राण के सन्ताप-तापित रक्त से
भैरव युगो का भाल
तेरी लेखनी की नोक भी अब हो गयी विकराल ।

तेरी लेखनी की नोक भी अब हो गयी विकराल
टेबल पर अथक
एकाग्र
पीली टिमटिमाती लौ तपे कन्दील की
भी अब भभक
विकराल होना चाहती ।

औ' भीत पर बैठी हुई छाया तुम्हारी देह की
भी फैल जाना चाहती,
है फैलते विस्तीर्ण मेघल पख
ज्यो गम्भीर गाढ विचार विहगो के,
दबाकर प्राण मे
उठता हुआ उद्गार-आकुल ओज
मटमैली झुकी दीवाल भी
अब देखती है खोज
मानव-मूल्य की,
उसकी प्रतिष्ठा की
कि मानव-आत्मा की पूर्ण सत्ता की
औ' धुएँ से विद्रूप इन काली छतो मे
तैरते है स्वप्न
नीचे भूमि पर लेटे हुए बेचैन प्राणो के
कि चचल दामिनी के क्षुब्ध
मृदु लावण्य
की नीली छटा मे दीप्त
नूतन विश्व की उद्भावना के स्वप्न
नूतन जन्म की ज्वाला-विलोडित वीथिका के
वेदनामय चित्र
मानव के करुण विद्रूप औ' दुर्द्धर्ष
दृश्यो के तडपते विश्व
मँडराते कँपाते तैरते हैं
धुएँ से विद्रूप इन काली छतो मे
अन्धकार-प्रसार पर ज्यो तैरते
विद्युल्लता के बिम्ब हो।
नि सीम गलियाँ भी हमारी
श्याम नागो-सी
तडपकर दौडती
आबद्ध कर लेने विराजित राजपथ की देह।
उनको देख
उसके ये बुजुर्ग दरख्त भी
निज अनुभवी श्यामल जटाओ को हिला
गम्भीर होकर बुदबुदाते।
आज लिख उनकी जबानी
जिन्दगी की यह कठिन लम्बी कहानी
द्रोह की, विक्षोभ की
उद्योग की, उत्ताप की।
गम्भीर तेरे प्राण-मन्दिर-द्वार पर
है गूँजती आकुल नफीरी तार-स्वर

आदर्श के आक्रोश-सी
औ' दूर रजनी के क्षितिज मे
काँपता है एक सत्वर घोष।
विह्वल तूर्य की उन्मत्त लहरें
चढ रही है व्योम
भरकर रोष
लिख चल यह इधर लम्बी कथा
भर चल उधर
निज प्राण का यह नित्य नूतन कोष
मानव-विश्व के बेचैन रगोभरे इस आकाश से
जिसमे
प्रखर जलते हुए रक्ताभ पथ-सा
बिछ गया है मुक्ति का मृदु लेख
मानव मुक्ति की इतिहास-गाथा-सा।

[**नया साहित्य**, जून 1946, मे प्रकाशित]

टी· एस· ईलियट के प्रति

पढ रहा था कल तुम्हारे काव्य को

और मेरे बिस्तरे के पास
नीरव टिमटिमाते दीप के
नीचे अँधेरे मे घिरे
भोले अँधेरे मे घिरे सारे सुझाव, गहनतम सकेत !
जाने क्या बताते थे !
(अरे ! मासूम दीवाले विचारी
देखती ही रह गयी—
वह तुम्हारी वास्तविकता मात्र है प्रस्ताव
या कुछ और भी ?)
बरसात के कीडे (पुरानी खीझ-से, चिढ-से)
कही से आ घिरे
इस टिमटिमाते दीप के चहुँ ओर पहुँचे भाव लेकर नया
आबादी नयी 'छोटे' सवालो की।
मुँह पर दाग चेचक के गिने किसने ?
सवालो ने गिने (पर गिन न पाये) रात के

सौ, चमचमाते दाग मुँह पर के।
यहाँ दीवाल पर
कुछ उँगलियों के मौन छाया-नृत्य
गहरे अर्थ के अति-भय-जनक विस्तार
धीरे से सुझा
फिर खो गये
औ' व्यग्य-मुद्राएँ कई भेगी निगाहो की नयी
दीखी कि मेरे प्राण
गहरी खीझ उकताहटभरी झखमार से अकुला उठे।
सौ चीटियाँ रेगी विचारो की
उठाने लाश भारी एक झीगुर की सहज
(कदाचित् मात्र मूर्छित पीठ के बल था पडा)
लेकिन नही! झीगुर नही है वह
भयानक वास्तविकता है
बडी वीरान मुसकाहट, बडी गुजान आँखो मे
भयकर व्यर्थता का भान
उकताया हुआ सुनसान छाया है।
बौद्धिक कल्पनाओ की सफेदी मे सफाई मे
सिमिट लिपटी हुई
वह ऊब, उकताहट, बगासी, ग्लानि
वह खल्वाट जीवन की स्वचेतन-सी उदासी की
निरर्थक वास्तविकता मौन
काँटेदार पजे हरी थूहर के, कँटीली वासना के,
गोल गोलक-से, गुलाबी फूल।
बौनी घास के ऊजड कठिन मैदान!

पढ रहा था कल तुम्हारे काव्य को

और मेरे बिस्तरे के पास
नीरव टिमटिमाते दीप के
भोले अँधेरे मे दिखे
भोले अँधेरे मे घिरे सारे सुझाव! गहनतम सकेत!

हमारे यहाँ भी है ह्रास!

काली सील खा-खाकर पलस्तर गिर रहे
प्राचीर की प्राचीन जँगली अस्थियाँ हैं खुल गयी
लेकिन उन्ही पर घास! हरियाली नयी!—
गुजान स्वार्थों की घमण्डी मूँछ है लहरा रही
सूनी हवाओ मे।

उसी प्राचीर के ऊँचे किनारे पर
(कि काई के भयानक मखमली नक्शों-सजे
काले कगार पर)

। सम्भावित रचनाकाल 1946 । अप्रकाशित]

I आदित्य

अजी ! एक जन-साधारण का
अविरत फाउंटेनपेन चल रहा,
ऊपर नभ मे मेघ वज्र ले,
खडा देखता रहा कि सहसा
मेरा मौसम क्यो बदल रहा ।
खपरैलो के नीले श्यामल
बल खाते धूएँ के बादल
की गरमीली उसाँस पीकर
अजी, कलम यह आग उगलती
नीले नभ के जिस सूरज की
बराबरी मे धधकाती है
सूर्य-प्रभाएँ अपने दिल की ।

मानव-लक्ष्यो का सहस्र-दल
नयी जिन्दगी का यह सूरज
बिखराता है अग्नि-रत्न-कण
सघर्षो की रक्तिम केसर
जन-जन की गलियो राहो मे ।
मानो कविता का युग अभिनव,
जलते रहते सूर्य-खण्ड-से
जबकि, जिन्दगी के सौ अनुभव !!

आज एक जन-साधारण का
टूटा फाउंटेनपेन चल रहा
कब से दिल मे जमा हुआ यह
सीसे का सागर पिघल रहा ।

कडी जिन्दगी के कठोर

घनघोर अनुभवो की ये परते
दिल की पाताली गर्मी मे
गल-गलकर यूँ बहते-बहते
मानवता की मनोहारिणी
नीली झीले बन जाती है
जिनमे सबको अपनी सूरत
निखरी हुई नज़र आती है ।।

अजी, ज़िन्दगी के घावो की
रुधिर-धार की पगडण्डी पर
चलते-चलते मिला काव्य को
भव्य दीप्तिमय क्षितिज-पुत्र नव
जिसकी आँखो की स्वप्नावलि
मे नवीन युग की छायाओ
मे मानव-युग की भावाजलि ।।

क्षितिज-पुत्र वह नही, मात्र वह
मेरे-तेरे-सबके मन की
गहरी-गहरी परछाईं-सी
लोक-सत्य की विमुग्ध ज्वाला
जब सहसा विकराल हो चले
तभी जान लो अरुण पख पर
गगन पारकर उतरा सूरज
मानव-सागर के कगार पर
तब समझो हो गया युगान्तर ।।

अजी, एक जन-साधारण का
टूटा फाउटेनपेन चल रहा
आज हिमालय बूंद-बूंद गल
जन-गगाओ मे सँभल रहा
आस-पास की ज्वालाओ के
मस्तक नव कवि के चरणो पर
हिन्द महासागर की घूर्णित
लहरो की ग्रीवाएँ उठकर
देख रही—कैसा नज़्ज़ारा !
लेखक ज्वालाओ के ऊँचे
भव्य कमल भीतर बैठा है,
उसके लिए नभोमण्डल से
झगडा कर हिमगिरि ऐठा है ।।

अजी, एक जन-साधारण का
टूटा फाउटेनपेन चल रहा !!

[सम्भावित रचनाकाल 1946-47। **सारथी** (1956-58) मे 'युगान्त' शीर्षक से प्रकाशित। **भूरी-भूरी खाक-धूल** मे सकलित]

यदि नहीं लिख पा रहा

यदि नही लिख पा रहा हूँ गीत आशा के अभी
शीत रोमाचोभरे यदि गीत भाषा के अभी
यो नही प्रत्यूष की मुग्धा ललाई से उभर-
कर लाल होते गाल मेरी बात के—जी से अगर
तो तुम्हारा दोष है।

वे सत्य जिनके सामने है नम्र मेरा भार भी
उन्हे यान्त्रिक रूप से दुहरा न पाऊँगा कभी
लोकप्रियता के लिए फहरा न पाऊँगा कभी
यदि उन्हे मै गा न पाया पुलककर पाकर अभी
तो तुम्हारा दोष है।

कौन कहता है कि मेरे शब्द मे है कालिमा
जब तारकोली स्याह खूनी खून की बहती हुई
चट्टान-से दिल से नसो की नालियो गाती हुई
शैतान के मुँह पर कि थूहर-फूल की-सी लालिमा
जो सदा फैलाती गयी   उससे उदासी बढ गयी
तो तुम्हारा दोष है ?

[सम्भावित रचनाकाल 1946-47। अप्रकाशित]

स्याह धब्बों-सी निशाएँ सब बिदा हैं

स्याह धब्बो - सी निशाएँ सब बिदा हैं
आज फूलो - से सरल आकुल सबेरे

नव कपूरी धूप की चादर पवन पर
फरफराती है नगर मे, क्या द्विधा है।

चीर अँधियारा उगा रवि-बिम्ब नूतन
जब विचारो के पहाडो के शिखर पर,
साँवली भीते पुरानी सफेदी की
शहर-भर की दिख गयी बीमार, बेमन।

नव कपूरी धूप की बालिश हँसी मे
भग्न, खण्डित दृश्य मुँह फाडे खडे है,
घृणित विज्ञापन - रँगी दीवार चमकी,
लाज की कृत्रिम हँसी भर, प्रात - श्री मे।

साँवली गन्दी गली की छाँह मे भर
भाप - भासी, गन्द बासी मँह - अँधेरे
फैलती बीमार इन वेश्याघरो से
मलिन ठण्डी ज़िन्दगी के बाँझ अन्तर।

खोह - सी गहरी व्यथा की ज़िन्दगी के
कष्ट - हत कमज़ोर घुटने टूटते हैं,
सभी समझेगे यहाँ सकेत मेरे
सब इशारे इस सुबह की बन्दगी के।

ढूह - खण्डहर पर खडे निर्माण के-से
(ध्वस पर हँसते हुए) ये भव्य तरुवर
साँवली मलिना गली मे भेजते हैं
मर्मरित विश्वास अपने प्राण मे से।

सील - खाये इन घरो बेरोक मे से
आग तूफानी लगी है शहर - भर मे,
लाल - लाल गुलाब ! अगारे उगे हैं
इस उपेक्षित मृत्तिका की कोख मे से।

प्रात की रगीन किरणो की विभा मे
गिर रहे है बुर्ज, उठते धूल - बादल,
रँग गये मैदान मे प्राचीर - खण्डहर
टूटते फानूस, सिर पर गिर, सभा मे।

युग-युगो के सत्य-शिशु निज प्राण-वर्जित
घास के हरियाव मे सोये अचीन्हे,

उठ रहे नव आधुनिक व्यक्तित्व पाकर
डाल गहरी, काल पर छाया प्रलम्बित।

मजल विधवा के करो से जो विर्सजित
त्यक्त, सरि-तट पर निशा मे करुण शिशु-सा
एक मानव-सत्य निर्वासित, हुआ अब
मुक्ति के व्यक्तित्व का गम्भीर पर्वत।

प्रात की रगीन किरणो की हँसी मे
गिर रहे उर की सधी दीवार पर द्रुत
घोर नगे श्याम स्वार्थो के भयानक
मूर्त छाया - चित्र लम्बे, प्रात - श्री मे।

प्रात की रगीन किरणो की हँसी मे
रँग गये सकल्प औ' उत्साह के शर,
रो दिये अपनी गुफा मे लटक उलटे
रात के खग दुष्ट, भरकर आह धीमे।

मिल गया व्यक्तित्व व्यापक, दम्भ हारे
आज इस भूकम्प को आत्मा मिली है,
ऐतिहासिक विश्व - घटनाओ सरीखी
चल रही नूतन जवानो की कतारें।

खोह-सी गहरी व्यथा की जिन्दगी के
प्राण से उठते अटल विश्वास - पर्वत
सभी समझेगे यहाँ सकेत मेरे
सब इशारे इस सुबह की बन्दगी के,
प्रात की स्वर्णिम विभा की जिन्दगी के।

[**हस**, जनवरी-फरवरी 1947, मे प्रकाशित]

मध्य-वित्त

छत के बाँसो मे धूएँ के लम्बे - लम्बे
घोर निराशा के काले - काले जालों को,
प्राण-शक्ति की दीर्घ यष्टि से निकाल फेको,

गहन आपदाओ की छायाओ का यह घर
मानव-मुक्ति-व्यथा के आलोको से धो लो।
किरणे आयी, दीवालो की छाती खोलो।

झुकी, दबी मटमैली भीतो ही से घिरकर
हुई हवा सॉवली, अँधेरे की छाँहो मे,
खोलो द्वार, बिँधो मन प्रात की बॉहो मे।

खोहो की गीली गहराई की मिट्टी मे
पाताली राहो - से बिल है सॉप अह के,
आर्यदेव, तुम जगल काटो, मारो जमके।

अरे, सॉप की बाधावाले घर को छोडो,
कीटक-स्वार्थी सजग छिपकली-से मन के इन
आखेटो का अन्त करो, हे मानव-जीवन।

जिनकी पीली हवा पुरानी खाँसी - डूबे
लाल-आँख, खुर्राट सत्य की साँस बनी अब
छोडो वे दालान पुराने, सायबान सब।

जिसके लकडी के खानो मे कबूतरो - से
दाने चुग, कर प्रणय बोलते बौद्धिक सज्जन
तोडो वह सभ्यता घृणित वह सस्कृति-सर्जन।

लाल धुआँरी लौ बारीक निविड स्वार्थों की
जिसके मन के आवे मे धूएँ से काले,
तोडो उस मृदु स्फटिक श्वेत सस्कृति को पहले।

पीला कचरा उठा गरम सूनी सडको का
बहती हवा मलिन अवचेतन प्रक्षोभो से
बहो न ऐसे, चलो न ऐसी हवा - भरोसे।

आसमान मे उठते है धूएँ के अजगर
राहो पर चलते है कपडे पहन जानवर
अपने - अपने आखेटो का आँखो मे भर।

गोल घुमाते धन - वादी लम्बे पट्टे पर
गोल घूमते चक्र तीव्र, मस्तिष्क प्राण के,
एक स्याह शैतानी ताकत के उफान से।

घिनी कोयले - खींची काली रेखाओ मे
यौन - चित्र - से आधी - टूटी दीवालो पर,
अवसरवादी स्वार्थ नग्न यो रहे उजागर।

बुद्ध-मूर्ति की आलकारिक छाया मे अब
सस्कृति की अभिजात हँसी का धोखा नगा,
अह्लीनता की खुल पडती कामुक जघा।

पूँजीवादी स्याह रेल के नीचे आकर
मरा पडा लोहे की पटरी पर यह मानव,
हुई भीड एकत्र, देखने मृत्यु - भीष्म शव।

बेच रहा है कालिदास सडको पर कघी,
लगा चाय दूकान यक्ष सबका है सगी।
विरहिणि भार्या धन-कुबेर घर रग-बिरगी।

मटक-मटक मुँह बिचकाती है पथ पर पागल
बूढे स्तन लटकाये नगी भाग्य - देवता,
फूटे बर्तन - सी तिरस्कृता जब मानवता।

छिन्न - भिन्न भागो के भूरे ढेरो - से ये
खण्ड-खण्ड व्यक्तित्व आज के अपराधो-से,
विफल, भटकते चमगादड-दल-सी साधो-से।

लोभ और कर्तव्य बीच के अन्धकार की
मीलो गहरी खाई के गीले सूने मे
भावुक मन के कातर होते विचार धीमे।

हुई बुद्धि नि सग भव्यता मे ही अपनी
निज सुदूर ऐकान्तिकता के मरुस्थलो मे,
रात्रि कीटको की किट्-किट् है शून्य पलो मे।

गाढालिंगन-बद्ध देह-मन अकस्मात्, पर
बीचोबीच उठी दूरी की छाया काली,
करतल पर जलते कपास-सी हिय मे साली।

गाढालिंगन-बद्ध प्राण, पर चरम क्षणो मे
पैरो पर से चढा, रेंग, सर्पिल सवेदन,
काला-काला नाग वक्ष तक, कामुक दशन।

दलदल के मटमैले छिछले - से पानी के
काले समतल मे पूनम का शशि जा डूबा,
लक्ष्य-च्युत विद्वानो - कवियो से मन ऊबा।

मृदुल भावना के श्यामल-जल विवर अँधेरे
कर्क वक्र-पद अहं-बुभुक्षा का चिर-चचल,
है चरित्र व्यक्तित्वहीन भावो का सम्बल।

यह मध्यमवर्गीय असस्कृति की प्रवचना
एक लालसा के स्वप्निल सौन्दर्यो - डूबी
खण्डित दर्पण देख रही अपना मुख लोभी।

फाड भव्य प्राचीन इमारत की दीवारे
बूढे बरगद की विकराल जडे है उभरी,
आत्म-विरोध, द्वित्व के तरु पर आँखे ठहरी।

एक साथ दो विरुद्ध अश्वो पर आरोहित
प्रासादो के राजमार्ग का भी अन्वेषक,
श्रमिक क्रान्ति का वैतालिक है बडा विदूषक।

ऐसे घोर नगर के भीषण नेताओ ने
घर-घर की उदास छायाएँ नही गुनी है
उल्लू की आवाज़ रात मे नही सुनी है।

वे न देख पाये है अब तक गीली गरमी
चिन्ता के स्थिर मेघ-श्याम वातावरणो की
गन्ध न देखी थके देह के आवरणो की।

अम्ल-क्षार-सी भस्म हृदयतल से अनुभव बन
थके हुए क्लर्कों के है जत्थे मे डोली,
जिन्दा रहो राह, छाती पर झेलो गोली।

अब तक है विद्रूप भयानक आकारो मे
कपोल-गह्वर, कपाल-रेखाओ के जाले,
मलिन साँवली गलियो की बौनी दीवालें।

जडीभूत कष्टो के प्रस्तर-स्थिर रूपो से,
वे डरावने मुख मेरे उर मे यो तत्पर,
सघन, भयानक छाया-चित्रो-से भीतो पर।

शशि-खग्रास ग्रहण की श्यामल छायाओ का
वातावरण अपावन, अन्तर मे अभिन्न-सा
एक भयकर भावी के सकेत-चिह्न-सा।

कीचड-सनी गली के श्यामल ओझल कोने
मरे हुए चूहे की बास, पुरानी घिन-सी,
रहती यहाँ मानवात्माएँ कैसी ? किन-सी ?

शीत उपेक्षा की भौहो के नीचे फिरती,
भिन्न दिशाओ मे सफेद कौडी की आँखे,
वाह, काल का रूप कि जिससे रजनी झाँके।

आदर्शो के त्यक्त शिवालय के सूने मे
स्वार्थी इच्छा-श्वान दुबकते, सोते नीरव,
है सुविधानुसार सत्यो के प्रयोग अभिनव।

मन्तव्यो, वक्तव्यो, कर्तव्यो मे अन्तर
देख शब्द का अर्थ अनाहत खोया-खोया,
बेहद के मैदान कबीरा बेबस रोया।

अन्तर के पाताल-कक्ष मे जलती रहती,
क्रोधी की रक्तिम आँखो मे मेरी नीरव,
एक नकारात्मक विरोधिनी बुद्धि युगान्तक।

दक्षिण-ध्रुवी समुद्रो का ठण्डा अँधियारा
चीर रही है लम्बी बाँहे नील अनल की,
भिदी निराशा, घुसी शलाका मेरे बल की।

[अपूर्ण। **हंस**, जुलाई 1947, मे प्रकाशित]

मुझे पुकारती हुई पुकार

मुझे पुकारती हुई पुकार खो गयी कही
प्रलम्बिता अँगार रेख-सा खिचा
अपार चर्म
वक्ष प्राण का
पुकार खो गयी कही बिखेर अस्थि के समूह

जीवनानुभूति की गभीर भूमि मे।
अपुष्प-पत्र, वक्र-श्याम झाड-झखडो-घिरे असख्य ढूह
भग्न निश्चयो-रुँधे विचार-स्वप्न-भाव के
मुझे दिखे
अपूर्त सत्य की क्षुधित
अपूर्ण यत्न की तृषित
अपूर्त जीवनानुभूति-प्राणमूर्ति की समस्त भग्नता दिखी
(कराह भर उठा प्रसार प्राण का अजब)
समस्त भग्नता दिखी
कि ज्यो विरक्त प्रान्त मे
उदास-से किसी नगर
सटर-पटर
मलीन, त्यक्त, ज़ग-लगे कठोर ढेर—
भग्न वस्तु के समूह
चिलचिला रहे प्रचण्ड धूप मे उजाड
दिख गये कठोर स्याह
(घोर धूप मे) पहाड
कठिन-सत्त्व भावना नपुसका असज्ञ के
मुझे दिखी विराट् शून्यता अशान्त काँपती
कि इस उजाड प्रान्त के प्रसार मे रही चमक।
रहा चमक प्रसार
फाड श्याम-मृत्तिका-स्तरावरण उठे सकोण
प्रस्तरी प्रतप्त अग यत्र-तत्र-सर्वत
कि ज्यो ढँकी वसुन्धरा-शरीर की समस्त अस्थियाँ खुली
रही चमक कि चिलचिला रही वहाँ
अचेत सूर्य की सफेद औ' उजाड धूप मे।
समीरहीन खैबरी
अशान्त घाटियो गयी असग राह
शुष्क पार्वतीय भूमि के उतार औ' उठान की निरर्थ
उच्चता निहारती चली वितृष्ण दृष्टि से
(कि व्यर्थ उच्चता बधिर असज्ञ यह)
उजाड विश्व की कि प्राण की
इसी उदास भूमि मे अचक जगा
मुझे पुकारती हुई पुकार खो गयी कही।

दरार पड गयी तुरत गभीर-दीर्घ
प्राण की गहन धरा प्रतप्त के
अनीर श्याम मृत्तिका शरीर मे।
कि भाव स्वप्न-भार मे
पुकार के अधीर व्यग्र स्पर्श से बिलख उठे

तिमिर-विवर मे पडी अशान्त नागिनी—
छिपी हुई तृषा
अपूर्त स्वप्न-लालसा
तुरत दिखी
कि भूल-चूक ध्वसिनी अनावृता हुई ।
पुकार ने समस्त खोल दी छिपी प्रवचना
कहा कि शुष्क है अथाह यह कुआँ
कि अन्धकार-अन्तराल मे लगे
महीन श्याम जाल
घृण्य कीट जो कि जोडते दिवाल को दिवाल से
व अन्तराल का नला
अमानवी कठोर ईंट-पत्थरो भरा हुआ
न नीर है, न पीर है, मलीन है
सदा विशून्य शुष्क ही कुआँ रहा ।

विराट् झूठ के अनन्त छन्द-सी
भयावनी अशान्त पीत धुन्ध-सी
सदा अगेय
गोपनीय द्वन्द्व-सी असग जो अपूर्त स्वप्न-लालसा
प्रवेग मे उडे सुतीक्ष्ण बाण पर
अलक्ष्य भार-सी वृथा
जगा रही विरूप चित्र हार का
सधे हुए निजत्व की अभद्र रौद्र हार-सी ।
मैं उदास हाथ मे
हार की प्रतप्त रेत मल रहा
निहारता हुआ प्रचण्ड उष्ण गोल दूर के क्षितिज ।

शून्य कक्ष की उदास
श्वासहीन, पीत-वायु शान्ति मे
दिवाल पर
सचेष्ट छिपकली
अजान शब्द-शब्द ज्यो करे
कि यो अपार भाव स्वप्न-भार ये
प्रशान्ति गाढ मे
प्रशान्ति गाढ से
प्रगाढ हो
समस्त प्राण की कथा बखानते
अधीर यन्त्र-वेग से अजीब एकरूप-तान
शब्द, शब्द, शब्द मे ।

मुझे पुकारती हुई पुकार खो गयी कहीं'
आज भी नवीन प्रेरणा यहाँ न मर सकी,
न जी सकी, परन्तु वह न डर सकी।
घनान्धकार के कठोर वक्ष
दश-चिह्न-से
गभीर लाल बिम्ब प्राण-ज्योति के
गभीर लाल इन्दु-से
सगर्व भीम शान्ति मे उठे अयास मुसकरा
घनान्धकार की भिदी परम्परा।
सफेद राख के अचेत शीत
सर्व ओर रेगते प्रसार मे
दबी हुई अनन्त ज्योति जग उठी
मलीन मृत्यु-गीत के उदास छन्द बावरे
घनान्धकार के भुजग-बन्ध दीर्घ साँवरे
विनष्ट हो गये
प्रबुद्ध ज्वाल मे हताश हो।
विशाल भव्य वक्ष से
बही अनन्त स्नेह की महान् कृतिमयी व्यथा
बही अशान्त प्राण से महान् मानवी कथा।
किसी उजाड प्रान्त के
विशाल रिक्त-गर्भ गुम्बजो-घिरे
विहग जो
अधीर पख फडफडा दिवाल पर
सहायहीन, बद्ध-देह, बद्ध-प्राण
हारकर न हारते
अरे, नवीन मार्ग पा खुला हुआ
तुरन्त उड गये सुनील व्योम मे अधीर हो।
मुझे पुकारती हुई पुकार खो गयी वहीं
सँवारती हुई मुझे
उठी सहास प्रेरणा।
प्रभात भैरवी जगी अभी-अभी।

[प्रतीक, जुलाई-अगस्त 1947, मे प्रकाशित। **चाँद का मुँह टेढ़ा है** मे सकलित]

अपने ही

वे जो अपने ही
काव्य और छन्द के
बन्दी है,
उनकी निगाहे तो अन्धी है अपनी ही लौ से
छोटे-से दीवट मे रखे हुए
दीपक के सक्षिप्त
उजाले के कारण ही।
दीये की लौ वह
दिखलाया करती है
भीतर की दीवालो का विद्रूप प्रदर्शन।
अपने ही आँगन के
अपने ही दीये के
मद्धिम प्रकाश मे
दीखती है दरिद्र विद्रूप
साँवली बदरग
ज़िन्दगी की सूरते
अपने ही भीतर की लौ के उजाले मे
दीखती है बौनी ऊँचाइयाँ।
अपने सत्य की गोद मे न बन्द हो।
कई ऐसे सत्य है (और, वे अनन्त हैं)
ज़िन्दगी के पहलू
जो हैं, जो बनते है, बढते ही रहे है
उनके असख्य रूप छन्द मे अनगिन
चित्र है भिन्न-भिन्न।
काल के सिन्धु-शैल कूल पर खड हुए
एक विश्व-पुरुष ने,
दुनिया के साथी ने एक जगह कहा है—
जीवन अनन्त है
प्रतिपल सृजनशील उसका अनन्त वक्ष
अनन्त सम्पन्न है।।

[रचनाकाल जून 1948। इलाहाबाद। सारथी, मई 1954, मे प्रकाशित]

बुद्धि के नक्षत्र

रुचिर श्वेत कपूर-से जलकर
सुरभि के पख पर निज ज्योति-अग सँभाल
फीके धूम-से उड लुप्त हो जाते
हमारे
दाह ।
किन्तु जो लघु दाग पड जाते हमारी आग के—
वे बुद्धि के नक्षत्र,
उसके गणित के शत अक हो जाते
कि उनकी शक्ति पर
भूकम्प-गर्भा धरित्री-सा धीर-गुरु व्यक्तित्व
शतधन्वा
विरोधी सृष्टि से अडता
उभडकर काटता पार्वत्य बाधाएँ।

[रचनाकाल 1948 । जबलपुर । **प्रतीक**, मई-जून 1948, मे प्रकाशित]

पथरेखा खिंचेगी ही

(1)

यदि यह बदरिया गगन मे छाकर उधर ही गयी
बरगदो की प्यास
मूलो मे उभर उठ ऐंठकर
बँध व्यग्य आकृति मे अगर
घिर ही गयी
तल ताल का यदि सूखकर
लम्बी दरारो मे हृदय की भूख भर
भूरी हँसी हँस ही दिया
यदि हर्ष-आकुल विहग बिजली-तार पर
बैठा कि लटका
काल ने ग्रस ही लिया
फिर भी तुम्हारी आस है
पथ-प्रस्तरो पडती हुई मृदु ऊर्मि
कोमल लहरिके,

इस सतत-गति जन के गहन उर-वक्ष पर
केवल तुम्हारे स्पर्श का प्रिय पाश
यदि किसी के बाहुओ का पाश है।

(2)

अन्त करण के अन्ध नयनो को
तुम्हारे छलछलाते मानवी हिय-नयन आकुल का
(यदपि तुम मात्र लहरी हो)
इन सजल चुम्बन-स्मितो के अतिकरुण नव बल का
तुम्हारे प्राण का विश्वास है (तुम क्योकि प्रहरी हो)
तुम्हारे नीर-आनन की
अनावृत रूप-दर्शन की
निरन्तर अनुभवी आत्मा हमारी का
हमे विश्वास है,
भूरे विपथ के ककरो का त्रास यदि गहरी बिवाई को,
तुम्हारे स्पर्श का आश्वास-मधु भी तो हमारे पास है।
वन-पर्वतो के श्याम कन्धो को विजित कर
लाल पथरेखा खिंचेगी ही
हमारे हृदय-निर्झर-स्पन्दनो से गूँजकर
घाटी सिंचेगी ही।

[रचनाकाल 1948। इलाहाबाद। **प्रतीक**, मई-जून 1948, मे प्रकाशित। मूल शीर्षक 'यदि यह बदरिया']

एक पंक्ति भी नही लिखी

बहुत दिनो से एक पक्ति भी नही लिखी,
क्या कहा जाय !
अपने मन के अक्षर गहते-गहते हम कुछ भी पा न सके।
छा गया मेह-कुहरे-सा कुछ
सब ओर मेह-कुहरे-सा कुछ,
आकृतियाँ सारी समा गयी, सब बिला गयी
आँके कैसे, बल पा न सके,
क्या कहा जाय !

धुलती-बहती रेखाओ की रेखाएँ ये
हम इनको कैसे गहे, कहाँ हमने सीखा !

डूबती-उभरती लहरो को
डूबती-उभरती लहरो मे से था देखा ।।

उनकी व्याकुल छलछल से अन्दर से धुलती
छाती की कोमल दीवाले
अनुभव की, अनुभव की हमने
उन पर छाये जल की पतली-पतली चादर
अनुभव की, अनुभव की हमने अपने अन्दर
मन मे उभरे—
मन मे डूबे
अक्षर-अक्षर
अनुभव के बहते जल के तल यो लीन हुए
तिरते दीखे उर्मिल जल मे
उर्मिल जल के नीचे चचल
वे विकल चमकते मीनो से
हो गया असम्भव लेखन तब,
अकन-सकल्प हुए फीके

क्या लिखे और किस तरह लिखे । सब धरा रहा ।
जो अपना भी तो नही हुआ
उस हिय की अक्षमताओ को क्या कहा जाय ।
यो बहुत दिनो से एक पक्ति भी नही लिखी
पर हाय । एक दिन भी न गया
जब मुझे जागते मे सोते मे तुम न दिखी ।

[रचनाकाल जून 1948 । इलाहाबाद । **धर्मयुग**, 15 अगस्त 1967, मे प्रकाशित

मनमीत

इस बियाबान जगल मे खो
दलदली किसी खाई मे घिर
गहराई के सुनसान अँधेरे मे डूबा
होकर भी
हे मनमीत ।
व्यर्थ भयभीत न हो ।
गुजान हवा चीरते हुए
चीखते हुए जो आसमान के अन्धकार मे चढते है

कौधती हुई साँवली तडित-से काँप-काँप
जगल की रूह रुला प्रतिपल
सकट के दुष्ट स्वभावो से
भयजनक स्वप्न के भावो से
भूखे स्यारो के चिढे-चिढे
        ऊँचे चीत्कार-भयानक स्वर
सुन ले ! सुन ले
        फिर भी तेरा हिय शीत न हो।
जब उडती है तितलियाँ भयद
वे निविड लाल-नीली बूँदे, अनगिन बूँदे।
अगारो की गहरी बूँदे !
रेंगती, अँधेरे मे आँखो के सम्मुख वे
पक्तियाँ कई विपरीत विचारो की बाँधे
पर मित्र, ध्यान रख,
        उनकी तुझ पर जीत न हो !
अपने उन आक्रान्त क्षणो मे तू न बुला—
मत किसी मनोहर ज्योतिर्मय
देवता-स्वप्न को
        पलको पर ठहरा।
मत पकड अलौकिक अचल को
अपने मन की आसक्त भुजाओ मे कस ले
अपनी धक-धक करती छाती, हो समाहार गहरा !
करनी ही होगी तुझे, मित्र
        प्रात की कठिन प्रतीक्षा यह
        तू किससे भिक्षा माँगेगा ?
        सब भिक्षुक है, सब भिक्षुक है !
                भय के यम से मुख पीत न हो।

[रचनाकाल जून 1948। इलाहाबाद। अप्रकाशित]

हे प्रखर सत्य ! : एक

हे प्रखर सत्य
अब तक तुम तक मै आ न सका
मन के छन्दो मे चरण तुम्हारे ला न सका
भूले-भटके-से शब्द अधूरी बात,

जल पख गये,
विहगो की उडकर गिरी पॉत
वे रवि तक थे जानेवाले
बच गयी आत्म-वचना निरी
रीती गूँजो मे
अर्थो के रवि से बिम्बो मे उभरी वह
निर्जीव राख मे हेतुहीन उँगली से
खीची गयी निरर्थक रेखाओ के-से चित्रो मे
जाग उठी वह गहरी जो अब तक गोपन थी
फूटी समाधि से जीर्ण
निरी आत्म-वचना
स्वय कब्र का प्रहरी।

पर अभिव्यक्ति की सजग लालसा अटक रही
ज्यो लोभ अटक आखिरी सॉस मे भी रहता, वह जान सका
हे प्रखर सत्य
कितना जूझा, कितना जूझा
शब्दो की प्राचीरो से
इसका खुलता सिहद्वार
पर कुछ हो न सका कुछ पा न सका
जीवन का अन्धा सूर हाय कुछ गा न सका,
हे प्रखर सत्य, अब तक तुम तक मै आ न मका।
तेरे आलोक-वलय मे जीवन ला न सका।

अन्धकार दारुण।
वर्षा की घोर रो रही शीत रात
अन्तर के निविड अकेलेपन मे
एक अकेली बात कि मौन एक आघात रुका
कि मेरे है जुगनू-से छन्द कि जिनमे प्राण झुका
यह नीला-नीला तेज
हृदय की लौ
पर क्या तेरी उद्दाम लालसाभरी प्रपीडित दावा को
वह बाँध सका ?
अर्पित करते भी लज्जित हूँ अपना प्रकाश !
कितना लघु मेरा प्राण-श्वास
कितने अपूर्ण मेरे प्रयास
कितने चचल सकल्प-छन्द
उस पर कितने लालसा-पाश
कितना छिछला उथला है यह विश्वास-सिन्धु
जिसमे असख्य प्रेरणा देश की तरियाँ डूबी हैं तोड सॉस
रह गयी आत्म-वचना निरी

वह मृत्यु-लोक की परी
रँगी जापानी रगो से, जिस पर निर्लज्ज हास
हे प्रखर सत्य,
तेरा मादक उत्तप्त श्वास मै पा न सका
रे, किन्तु
दूर, निजता के गिरि पर सूर्योदय की स्वर्ण-रेख
का दृश्य क्षणेक भुला न सका
प्रखर सत्य
तेरे गम्भीर समुद्र तरगास्फालन स्वर का
आवाहन सुन
सिन्धु-विहगो के साहसी पख फैले है
असावधान क्षणो मे भी
यह दृश्य क्षणेक बिला न सका ।

पर अनन्त षड्यन्त्र
मध्य रात्रि के तारालोकित धुँधलेपन मे—
उर के गहन-गहन मे ।
शून्य मन्दिरो के गुम्बज मे शत चित्राकित
ज्यो चिट-चिट करती छिपकलियाँ
स्वार्थमूल सन्देहो की त्यो शब्दावलियाँ
अग-भग करती अन्तर की स्वर-सगति का
हिय की मधु सगीत की नदी
पार कर रही, धारा मे उनकी आकृतियाँ—
वही विचित्र दृश्य करता है शून्य उपस्थित ।
अरे आज ही हुआ अनावृत—
तेरे नामोच्चार-गान के पीछे
गद्गद मन का उपचेतन षड्यन्त्र भाव था ।
इन मेरे प्रिय शब्दो मे छन्दो मे गहरा
अपने से ही अपना यो केवल छिपाव
केवल दुराव था ।
खेल रहा था आँख-मिचौनी धूप-छाँव-सा
मेरे मन का तम
प्रकाश से ।
अथवा कभी-कभी लगता था
आँखो मे छाये रहते सपनो की छाया—
वह आदर्श-वधू की काया—
जीवित आदर्शों की मौन समाधि-भूमि पर
दीन आश से
उस समाधि के पास करुण साय स्मृति-रोदन
करती है,

प्रखर सत्य
और इस प्रकार वह तुझे छुपाकर
बन जाती है तेरा उद्बोधन
तुझे करुण आमन्त्रण करती वह हो जाती
मेरे काव्य-छन्द मे तेरा चिर अभिनन्दन ।

किन्तु वचनाओ से, आत्म-प्रवचन ही से मुझे घृणा है
घोर, सघन, निष्करुण विदारुण
हरी विषैली नीली लौ-सी
जीवन की, सामाजिक-वैयक्तिक जीवन की
चिर-विद्रूप, कठोराकारो मे उभरी यह
चारो ओर दीखनेवाली भीम भग्नता
मन मे प्राणो मे छा जाती
पथ का पक कि उछट-उछटकर
प्राणो पर गिरता-सा लगता ।
लगता अपना अन्तर केवल अन्तराल,
है शून्य कक्ष भग्नावशेष का
जिसके भयकर मूर्त ह्रास के आकारो मे, अविश्वास मे
निखिल भग्न निर्जनता की अति-एकाकी कड़ुई उसाँस मे ।
क्रोधी की आँखो-सा रक्तिम
जलता हुआ विरक्ति-दीप यह
सूनापन निहारता भरता भीति किरण मे
धूमिल पलक उठा व्यग्य के तीव्र स्फुरण मे ।

ऐसी जीवनव्यापी, तन-मन-भक्षी
व्याकुल घृणा सदा उठती है ।
मलिन भाफ के विष-बादल-सी
और मुझे लगता है क्षण-क्षण
किसी भव्य-गम्भीर कथा की स्मृति से पावन
उच्च स्तम्भ पर
एक नैश कानन-विहग
खर-दष्ट्र, दुष्ट चक्रिल-लोचन खग
स्तब्ध सजग बैठा है—
यह नवीन उत्तराधिकारी
मानव-सस्कृति का विश्वात्मक !
(या मध्यम-वर्गीय चेतना
की नित खाली रहती आत्मपूर्ति का
प्रतीक व्यापक ?)—
देख रहा खर-दष्ट्र सजग चक्रिल-लोचन खग
तमाच्छन्न जग का विरोध, भ्रम, घोर विपर्यय

स्वय व्यग्य बनकर—
सबका, अपना भी नि सशय,
देख रहा खर-दष्ट्र सजग चक्रिल-लोचन खग।
किन्तु हृदय के गहन कठोर गुहान्धकार मे
शैल-गुफा की कटु उसाँस-सी गन्ध
कि जिसकी स्तब्ध अन्धता मे
निश्चल शासन-सी
एक देवता-मूर्ति भव्य पाषाण देह की
निश्चल वक्र सुदृढ स्मित-रेखा मे तन्मय है
गुरु-गभीर आज्ञा-सी दुर्जय।

और निकट पदतल मे
उलझ घूम बल खाता उठता
अगुरु धूम
घन-रेखाओ के पीत चपल शतजिह्व नाग-सा।
तीक्ष्ण तर्क-सी तीव्र नासिका-कोर देवता की
जिस तक आ
अगुरु धूम
का उद्धत घन शतजिह्व नाग वह
लहराता अचपल स्थिर गति मे मादक
भव्य दीर्घ देवता-मूर्ति की विशालता का व्याकुल साधक।

नही जानता मै कि कौन वह देवता
मेरे आत्मगुहान्धकार मे
अचल ध्यान-सा स्तब्ध प्रतिष्ठित
किन्तु अगुरु का धूम कि मेरी
अन्तर की मानवता का वह
प्रतिक्षण अन्तर्ज्वलन, समर्पण
कि वह है
मर्म-वेदनाशील विकम्पित
पत्र-भार के
विनत सघन तरु की कोमल स्मित
भूमि-विसर्जित
छायाओ की मृदु गँभीर
मौन व्याकुलता
पथिको के विश्राम के लिए
निज हिय के आराम के लिए
अथवा
वह है प्राणो की अकुलायी धरती की दरार से
निकली ऊष्मा गहन भाफ

जलती अमूर्त श्रद्धा वह अथवा
पूर्ण शक्ति की पूर्ति लालसा-सी अमाप

हे प्रखर सत्य
तेरे प्रति मै अनुदार नही हूँ
यदपि जानता हूँ ईश्वर भी आज
किसी कार्यालय का
निष्प्रभ दुर्बल टाइपिस्ट क्लर्क है,
और वियोगी कालिदास भी
बूढा घडीसाज बनकर के
एक आँख मे बदसूरत चश्मे की नली दबाये
उलट-पुलट करता दिखता है
टूटी घडियाँ,
किन्तु विवश निज भूखे प्राणो की पुकार सुन
बडी पुरानी,
दो कविताएँ लिख लेता है छोटी-छोटी
हरी डायरी मे मैली-सी
और मूर्खता पर पछताकर
उठा घडी की गयी जवानी बेमानी-सी,
बाल-कमानी फिट करता है
रख अपनी आँखो मे मूरत
अपनी विवाह-योग्या कन्या की वह पीली भोली सूरत ।
फिर भी मेरे प्रखर सत्य, तेरे प्रति मैं अनुदार नही हूँ
मै ईमानदार व्याकुलता की बेसब्री
जल्दबाज़ अविचार सही हूँ

सागर की साँवली तरगो के दिगन्त पर
एक, दूज का छिपता-सा, अनुदार चाँद,
मेरे अन्तर मे प्रकाश की धुँधली रेखा
तम-प्रसार मे प्यासी लहरो के अशान्त स्वर।
दूज चाँद को
शिल्पी-सा जोडता चलूँ मै नयी कलाएँ
वही कलाएँ जिन्हे कि सौ-सौ
लघु लहरे ऊँची ग्रीवा कर बतलायेगी
जलधि हृदय के गहरे तल से
व्याकुल होकर।
(अपनी ही हड्डियाँ काटते हुए
चाटते हुए
श्वान से होकर बदतर)
सर्वालोचक निज-आलोचक
बुद्धिजीवियो के समूह को

नही ठहरने दूँगा क्षण भर
यदि वे चाहे इसी कार्य मे तर जायेगे।
और पारसी बैंकर की
(आरसी-चमक-सी)
धुली चाँद-सा
मैं न चमकने दूँगा अरे, चाँद पूनम का
चौपाटी के महानील सागर के तल पर
हे प्रखर सत्य,
तेरे आलोक-वलय मे जीवन ला ही दूँगा
महोल्लास के
अपने लघु पल पा ही लूँगा।

[रचनाकाल जून 1948। बनारस और इलाहाबाद। अप्रकाशित]

हे प्रखर सत्य! : दो

हे प्रखर सत्य, वह एक रात
कैसी प्रभीम थी, सभी तरह से सभी ओर से
अन्धकार के हत्याकारी प्रेत-करो ने
अकस्मात् जब कण्ठ दबाया बहुत ज़ोर से
निद्रा की काली छाया के क्षेत्रो मे—
मैं जाग उठा चीखता हुआ,
वीरान खण्डहरो का स्वप्निल अचल
फैला नेत्रो सम्मुख
अभिमुख हो मेरे नेत्रो को देखता हुआ।
खेलती हुई थी हवा
गहन एकान्तवासिनी,
दूर नगर से सपाट भूरे नग्न प्रान्त
फैली मैदानो पर मद्धिम कमज़ोर चाँदनी
जो कि विविध मैदानी दृश्यो को निगूढ
निज इच्छित भाव निजत्व दान कर
उन्ही दृश्य भावो के द्वारा
सूचित सकेतित करती है
रात्रि तिमिर से नीरव चलनेवाली अपनी
गहन-गूढ, अभिसन्धि प्राणहर
ओट स्वय के आड अह के

अन्ध वेदनामय उपचेतन के
षड्यन्त्रो-सी विनाशकर
भग्न आत्म-व्यक्तित्व
विभाजित निजत्वशाली
प्राणो की विपरीत बुद्धि के
गभीर छल-सी वह प्रभीमतर
फैली है वीरान भयानक वह मद्धिम कमजोर चाँदनी
गहन-रूप मैदानी दृश्यो के प्रसार पर
सूने-सूने आर-पार के सुविस्तार पर ! !
मेरे मन मे कम्प और
सारे तन मे है रोमहर्ष के काँटे भावी के विचार पर
अवसरवादी पराक्रमो के
घोर जन्तु ये वन्दनीय हैं
महा-शोषको को शोषण-
अपराधो मे रहते सु-सहायक
उसकी या उसकी सस्थाओ
के दासानुदास ये भावुक
यदपि बडबडाते रहते अपनी शिकायते
किन्तु बुदबुदाते शोषक के ही कुरान की
उसी फलसफे की गीता की श्लोक-आयते ! !
क्रियाहीन विश्वास
किसी अवसरवादी का ही तो पथ
है चला जा रहा उस पथ पर
हिलता-डुलता टूटा इक्का—
इस मध्यवर्ग का जीवन-रथ

राजनीति-साहित्य-क्षेत्र भी
महा असत्य-शूकरो का है एक तमाशा
यद्यपि बोली जाती मुँह से
भारतीय सस्कृति की भाषा

मध्यवर्ग की भारतीय सस्कृति के गहरे तालाबो मे
मानव की नि सीम उपेक्षा के मुसकाते
लाखो स्याह कमल हैं, जिनकी
चिमगादड की रात्रि-श्याम
पखो-सी पखुडियाँ हैं काली,
पीली धुन्धभरे प्रकाश के घोर अहं-रवि
की तिरछी किरनो से विकसित होती रहती।
प्रतिपल छुप-छुप सई-साँझ
चुपचाप आत्महत्याएँ होती रहती नैतिक

सत्य अहिंसा आदि अनेको आदर्शों के
ग्राह और ग्राहिणियाँ अनगिन
डोहो मे चुपचाप बैठकर
गीता-पाठ सदा करती है
खाकर मानव-आत्मा, सोचा करती गहरे दाँव-पेच औ'
नये पैंतरे
उनके आज्ञाधीन मत्स्य ये
गुरुओ का सन्देश धरातल तक ले जाते
तट पर रहते स्थितप्रज्ञ जन
नैतिक आत्मा का उतार वह तार-तार कुरता कि पहनते
काला चोगा नूतन स्वार्थों का भयावना!
और बुदबुदाते—
'हरेक नगा है निज कपडो के अन्दर',
श्लोक गुनगुनाते रहते गीता का सुन्दर!
'वासासि जीर्णानि यथा विहाय,
नवाति गृण्हाति नरोपराणि। '
मध्यवर्ग की उदरम्भरि ज़िन्दगी हुई है यो बेमानी!!

जिनका कुछ भी नही स्वार्थ है
नही महत्त्वपूर्ण होने की इच्छा कुछ भी
निष्प्रभाव वे क पदार्थ है!!
दम्भहीन जितने भी सज्जन
घिरे हुए अवरोधग्रस्त वे बाधाओ की दीवारो से
वे भीते जिनकी मुँडेर पर
अपनी अक्षमताओ के, या
गहन पराजय-भावो के बैठे है काले मुँह के बन्दर,
चिढा रहे मुँह।
किन्तु सहे जाते बेचारे
साक्षर उदरम्भरि ये मानव
चिन्ताग्रस्त रात के व्यापक सूनेपन मे
दहशतभरी रूह लेकर के सुनते रहते
घुग्घू की हूहे डरावनी
या कि बिल्लियो के सम्मिलित रुदन के
वे आलाप कि ताने सनकी
जो अपने ही छप्पर पर से उठती रहती हैं भयावनी!!

इनकी सृजनशील प्रतिभाएँ फूलो का निर्माल्य
कि सडकर प्रतिपल बुरी बासती
अरे, आफतो के मारो की
बुज़दिल आत्मा बडी पुरानी खाँसी सूखी सदा खाँसती

हे प्रखर सत्य, काजली भीत पर
वक्र असगत रेखाओ के
चित्र-विचित्र भयानक चित्रो-सा प्रभीम यह
भारतीय वास्तव है भीषण दु स्वप्नो-सा—
यद्यपि हम अभ्यस्त कि इतने
परित्यक्त अपनो-सा लगना रहता है वह
अधनगी माँ, नगे बच्चे
धुन्धभरी प्रात से ही सरदी की ऋतु की
बबूल पेडो के नीचे खोजते अन्न के
दाने, चिथडे आदि वस्तुएँ
घूरे के फैले ढेरो पर—
गहन मानवात्मा औ' उसकी गहन क्षुधाएँ
आत्मपूर्ति के साधन
छिछले मध्यवर्ग मे रही खोजती
किन्तु अरे उपलब्धि क्या हुई ?
अध पतन के महासर्ग मे
एकमात्र है नरक-कथा इस भग्न स्वर्ग की।

[सम्भवत अपूर्ण। सम्भावित रचनाकाल 1948]

किसी विगत जीवन के

किसी विगत जीवन के
अन्त करण चीरते हुए नखो से
जो गह्वर खुद गया
तिमिर के बँधे ताल-सा
उसका तला
समुद्र नही है, हीन क्षुद्र वह,
किन्तु व्रणाकित हिय को,
जर्जर मन को
वही रुद्र है।
स्नेह-नदी मे जिसने देखे व्याल, भयद घडियाल
उसके लिए वही भीषण पाताल-नर्क-
जैसा अभद्र है।

किन्तु, तिमिर के बँधे ताल के उस गह्वर के तले
जीवन है उत्फुल्ल

(आज वह है अदृश्य, तो इससे क्या)
मानव के हिय मे जादू है, वह गह्वर क्यो खले
नव-नवीन आशय-बल,
यदि है स्पन्दन मे,
तो गह्वर मे भी कई स्वर्ण शतदल खिले
(आज वे हैं अदृश्य, तो इससे क्या)
जन-जन-प्रियजन-स्वजन-हृदय-अचल मे जो सर्वदा
तडपती हुई मौन आत्मा
गम्भीराकुला
उसके तल मे यह शाश्वत रहस्य जा खुला
तिमिर के बँधे ताल से
उस गह्वर के तले।
मानव-हिय के कमल-बीच जा गिरे।
है देख रहे काल के नयन
उन सबको ही
स्वर्णिम प्रफुल्ल
कल जो होगे शतदल खिले।
(आज वे है अदृश्य, तो इससे क्या !)

[रचनाकाल 1948। इलाहाबाद। **युगचेतना**, जुलाई-अगस्त 1956, मे 'एक कविता' शीर्षक से प्रकाशित]

उपेक्षा की फुली

उपेक्षा की फुली थी आँख मे जब तक
बिछी थी प्राण मे गहरी
ज़माने की मटैली धूल की परते।
नही कुछ दीखता था हाय
जब तुम पास मेरे थी !
निजी अभिलाष के काले
विपथ की धूल से भूरे वृणाकुल पैर की धम-धम
हृदय के टीन पर कँपती
मुझे हरदम चिढाती थी।
कपासी साँवले आकार प्रतिक्षण झूमते-से थे।
निजी खुदगर्ज़ चाहो के
उठे थे भूत आँखो मे

हिये के साँवले दालान मे सूने
अकेले घूमते-से थे।
रखे थे देवता नकली—
असगत पीतली सुरमूर्त्तियाँ स्थिर थी
हिये के काठ के मन्दिर
कि जब तुम पास मेरे थी ।

हृदय था हाय! थूहर का हरा वजा
कँटीली लाल इच्छा का गुलाबी फूल दिखलाता
खडा था सामने सबके, डराता-सा
निजी बेकार भूखो के सियारो ने
बियाबानी भयानक राग गाये थे
हिये की सर्द रातो मे
जिसे मैं आत्मा का वृक्ष समझा था
खँडेरो का वही निकला हरा पीपल
अहन्ता का
कि जिसके स्थूल पदतल पर
खडा सिन्दूर-चर्चित पत्थरी भैरो
(गलत आदर्श का सपना)
उसमे मूत जाते थे समझ के टैरियर झबरे
शिकारी तेज़ तबियत के (यही थी एक अच्छी बात)
उन्होने साख रख ली है
उन्होने जिन्दगी की दहशतो के, वहशतो के जिस्म फाडे जब
मुझे दीखा कि परछाई तुम्हारी ही इशारो मे
बुलाती दूर से मुझको किसी की ओट मे रहकर

निगाहो मे सही मानी चमकते जा रहे है अब
ज़माना हो चुका जब पास होकर भी
पहाडी पत्थरो की स्याह चुप्पी थी।
कही तुम खो गयी जब से
पहाडो जगलो के पार, मुझसे दूर
मैदानो, उमडती नदियो के पार,
मन मे तो
मुझे स्वीकार करने दो
कि तुमसे प्रेम करता हूँ।

[रचनाकाल 1948। इलाहाबाद। आदर्श, दिल्ली मे प्रकाशित]

लोभनीय लोक

क्यो अपार लोभनीय लोक का अन्तराल-आलोक
दिखा देती है ये
क्यो मुझे सुझा देती है ये
उनमे हँसती पावन प्रतिमाओ का नव आकर्षण-वैभव
क्यो मुझे बता देती हैं ये उजली-भूरी पथ-रेखा नव
क्यो मेरे मन के पाखी को सहसा उकसा देती है ये

मन के एक अकेले कोने मे हँसती फिरती
नीली परछाईं-सी
यह कोई धुँधली स्मृति-रेखा ही है
जो आज बता ही देती है
यो किसी मनोहर भावी की
सम्भाव्य रूपरेखाएँ सब
वह मुझे दिखाती आज कीमियाई करतब
अरे ! अनिर्मित नक्षत्रो की
द्युति-मेघो की सरिताएँ
मेरे अन्तर मे प्रवाहिता, व्यथिता है
यदपि आज स्मृति-रूपा है
वे मेरी सत्य-शक्तियो की
पर सहसा आज स्वचेत हुईं
वे कई गभीर भक्तियाँ है
इसलिए निजी
लोभनीय लोक का
अन्तराल-आलोक दिखा जाती है वे
औ' मुझे बता ही देती है
अपनी उजली पथ-रेखा नव ।

[रचनाकाल 1948 । जबलपुर । अप्रकाशित]

जब अनाहूत जीवनाकार

जब अनाहूत जीवनाकार
चित्रो ने खोला अन्धकार-पाताल-द्वार

मेरे विस्मित लोचन सम्मुख
आये मेरे सारे आकारो के विकार
अपनी ऊँची प्राचीरो की
गहरी लम्बी
काली छाया मे अति अपूत
हो गया आज मेरा समस्त चैतन्य हाय ! दु खाभिभूत !

तूने खोला यह अन्धकार-पाताल-द्वार
जिनसे निकले-उभरे मेरे सारे आकारो के विकार
साँवले भूत !
मैं फिर भी हूँ अवनत कृतज्ञ
तेरे प्रति प्यारे अनाहूत जीवनाकार चैतन्य-चित्र
मेरे अमानवी सीमाओ के श्याम स्तम्भ
गिरकर तेरे चरणो मे है
गम्भीर मानवी समारम्भ !

सुनसान खण्डहरो पर इनके जो अन्धकार
अब तक छाया था,
आज शीघ्र हो रहा दूर !
अब उन पर स्निग्ध चमकता है मधुशील चाँद !
चैतन्य-चाँदनी मे
खण्डहर की छायाएँ लम्बी गभीर ! !
मै, देख, हुआ भयभीत शीत
पर, साथ-साथ है मुग्ध चाँद,
चैतन्य चाँद !
मै काट चलूँगा अपने जीवन का विषाद !

[रचनाकाल 1948 । जबलपुर । अप्रकाशित]

भाँति बीज की

भाँति बीज की
कष्टो की गहरी-गहरी
अँधियाली मिट्टी की गीली-गीली परतो
मे डूबो, डूबो, गडो और गल जाओ ।
बनो धरा-प्रियपात्र
अँधेरे मे गहराई मे झरते

मीठी लघुधारा के जीवन-वश करते
गीले अधरो को पियो, पियो, बल पाओ
उस तिमिर-कठिन मृत्तिका-लोक की ठण्डी
सिहरन की लम्बी-लम्बी लहरें,
तन-मन के अस्तित्व-लोक मे कॉपे
वे घुले प्राण मे, तुम, उसमे मिल जाओ।
फिर, उठो हरित अकुर-से
धरती की वेदना-गहनता के प्रतिनिधि
तुम बन निकलो यो जडीभूत परतो मे से
(तुम हो निरवधि)
बन चलो सृजन-गम्भीर वृक्ष
कष्टानुभवी सत्यो से तुम अपना सारा बल पाओ।

[रचनाकाल 1948। जबलपुर। अप्रकाशित]

वे बातें लौट न आयेंगी

खगदल है ऐसे भी कि न जो
आते है, लौट नही आते
वह लिये ललाई नीलापन
वह आसमान का पीलापन
चुपचाप लीलता है जिनको
वे गुजन लौट नही आते
वे बाते लौट नही आती
बीते क्षण लौट नही आते
बीती सुगन्ध की सौरभ भर
पर, यादे लौट चली आती

पीछे छूटे, दल से पिछडे
भटके-भरमे उडते खग-सी
वह लहरी कोमल अक्षर थी
अब पूरा छन्द बन गयी है—
'तरु-छायाओ के घेरे मे
उद्भ्रान्त जुन्हाई के हिलते
छोटे-छोटे मधु-बिम्बो-सी
वह याद तुम्हारी आयी है'—

पर बातें लौट न आयेंगी
बीते पल लौट न आयेंगे।

[रचनाकाल 1948। जबलपुर। अप्रकाशित]

ओ युवक हृदय

ओ युवक हृदय,
प्रेम को न धर्म कर
तू प्रेम को न मूर्ति कर
औ' कर्म भी न धर्म हो।
मूर्ति मत करो—
प्रेम तुम करो
परन्तु धर्म-जाल प्रेम का
तुरन्त स्नेह-नाश है।
मूर्ति मत करो कि जो निराश-सा प्रकाश है।
कर्म-धर्म सिर्फ एक अहं-प्रकृति का कठोर दुर्विकास है।
कला-धर्म, कला-मूर्ति, कला-ध्यान
एक रिक्त प्यास है
कि क्षुब्ध रिक्त का अनन्त दुर्विलास है।
प्रेम,
कर्म,
कला,
तीन, इन्हें प्रगल्भ चाहते अगर नवीन
धर्म मत बना कभी
कभी न बेच निज हृदय।
भाग जा ऽ
भाग जा तुरत हरेक से
रहे ग्रहण एक छोड़ सतत दूसरा नवीन।
प्रेम,
कर्म,
कला,
तीन रुचिर कबूतरों समान
खेलते सुदीर्घ बक्ष-नीड़ में, प्रगल्भ-प्राण
वे प्रकृति के बने पुलक-गान।
छोड़ दे उन्हें कभी

कभी पकड ले उन्हे
हृदय नीड तव न छोड पायेंगे।
वे आयेंगे,
वे जायेंगे।

परन्तु बन सतत-प्रवाह
प्रेम,
कर्म,
कला,
तीन, लहर नृत्य हो अथाह
बाँध मत लहर, मित्र
उमड,
गरज,
भाग,
खेल,
बाँध मत प्रहर-समय।
व बाँध मत लहर, अभय।
परन्तु बन सतत प्रवाह
बन अथाह की निगाह।
तब सुदीर्घ उच्च वक्ष-वृक्ष-सा सघन सदय
अनेक नीड श्याम-स्निग्ध जो लिये खडा।
प्रेम,
कर्म,
कला,
तीन विहग
खेल, भाग, लौट, तुरत घोसले गरम रखे,
विहग पख फडफडा अनेक गीत गा चले।
गीत-धर्म मत बना,
कभी न बेच तू हृदय।

[सम्भावित रचनाकाल 1948-49। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

गूँज उठो

गूँज उठो व्याकुल छन्दो मे, है क्षोभित जनवाणी
मेरे हृत्तल के मृदग मे काँप उठी कल्याणी

गिरि-गह्वर मे जल-प्रपात की घोर धार-सी गूँजो !
है सशस्त्र योद्धा कवि की पक्तियो, बाण-सन्धानी।
लाल मार्ग-सी ऊषा दमकती, कवि की लाल लकीरो
पृथ्वी को लपेटकर उसकी दिशा-दिशा सब चीरो
एक सर्प सुविशाल दर्प सा काला लम्बा विषधर
आज जल रहा मानव-मन की दावा मे वह भयकर।
है दावामय ज्वाला व्याकुल घोर भर्त्सने गूँजो
तडिल्लता-सी चमक कौधती घोर कल्पने गूँजो
है अजस्र-गति, गीत-बद्ध प्रतिशोध भावने गूँजो
है खगिनी प्रक्षुब्ध सिन्धुतट की विभावने गूँजो !
एक तीव्र बर्फीली-नीली ज्योति जल रही पागल
प्राणो के पाताल सिन्धु के शैल-कूल पर व्याकुल
घृणा-क्षुब्ध कटु तिरस्कार से क्रुद्ध नील बॉहो से
भेद रही नि सग तिमिर आलोक-शलाकाओ से
अपराजेय घृणा की लपटो भरी बेदने गूँजो !

[सम्भावित रचनाकाल 1948-50। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

कविताएँ
(1949-1956)

तुम्हारा पत्र आया

तुम्हारा पत्र आया, या
अँधेरे द्वार मे से झाँककर कोई
झलक अपनी, ललक अपनी
कृपामय भाव-द्युति अपनी
सहज दिखला गया मानो
हितैषी एक !!
हमारे अन्धकाराच्छन्न जीवन मे विचरता है
मनोहर सौम्य तेजोमय मनीषी एक !!

तुम्हारा पत्र आया या कि तुम आये [आयी]*
हमारे श्याम घर की छत
हुई नि सीम नीले व्योम-सी उन्नत
कि उसका साँवला एकान्त
था यो प्रतिफलित पल-भर,
हमारी चारदीवारी
क्षितिज से मिल गयी चलकर !
हुआ सम्पूर्त मेरे प्राण का अभिमत !

उठा लेगे सुनीलाकाश
मेरे स्कन्ध होते जा रहे व्यापक—
कि वे हिम-हेम शैलाभास
कि मेरा वक्ष
जन-भ्रातृत्व सवाहक
तुम्हारे मात्र होने से हमारे पास !!

तुम्हारे मात्र होने से
सभी सम्बन्ध हटकर दूर
केवल एक पृथ्वीपुत्र का नाता
व उस एकान्त नाते मे
गहन विश्वास पूरम्पूर।
तुम्हे यो देखकर के पास,
लगता हूँ—
खुली स्वाधीन पृथ्वी का
श्रमिक मैं नागरिक स्वाधीन,
व जन-भ्रातृत्व के सहज आनन्द मे तल्लीन,

* [मूल पाण्डुलिपि में पाठ 'आयी' दिया हुआ है।—स]

गिरियो को हटाता हूँ
व नदियो के मुहाने फेर देता हूँ।
(हे पृथ्वी अभी तक बन्दिनी
पर कल रहेगी क्यो ?)
खुली उन्मुक्त धरती के महाविस्तार पर फैली
सृजन-कल्याण की उन्मादिनी पूनो—
मधुर लावण्यमय मानो
तुम्ही हो चन्द्र का विश्वास-कोमल बिम्ब।
तुमको देख—
कोई (आदिवासी मूल कवि-सा एक)
सहसा नाच उठता है
गहन सवेदना के तार
तन मे झनझनाते है,
व पलको मे खुशी के सौम्य आँसू काँप जाते है
मदोद्धत नृत्य की सवेदनाओ मे ।।

यहाँ घर मे लिये यह पत्र
अतिशय शान्त, अति गम्भीर
औ' चुपचाप बैठा हूँ
कि मैं हूँ सभ्य।
तुम दिन-स्वप्न मे सन्देश की उपलब्धि के आश्चर्य।
क्यो मै देखता हूँ सामने तुमको
अनातुर मौन रहकर पान करता हूँ
तुम्हारे स्नेहमय व्यक्तित्व का सौन्दर्य ।।

तुम्हारा पत्र
जीवन-दान देता है,
हमारे रात-दिन के अनवरत सघर्ष
मे उत्साह-नूतन प्राण देता है ।।

[रचनाकाल 18 अप्रैल 1949। नागपुर। **काव्यधारा** (1955), मे 'एक मित्र के प्रति शीर्षक से सकलित]

मुझे याद आते है

आँखो के सामने, दूर
ढँका हुआ कुहरे से

कुहरे मे से झाँकता-सा दीखता पहाड
स्याह !

अपने मस्तिष्क के पीछे अकेले मे
गहरे अकेले मे
ज़िन्दगी के गन्दे न-कह-सके-जानेवाले अनुभवो के ढेर का
भयकर विशालाकार प्रतिरूप !!
स्याह !

देखकर चिहुँकते है प्राण,
डर जाते हैं।
(प्रतिदिन के वास्तविक जीवन की चट्टानो से जूझकर पर्यवसित प्राणो
का ह्रास है)

मात्र अस्तित्व ही की रक्षा मे व्यतीत हुए दिन की
कि फलहीन दिवस की निरर्थता की ठसक को देखकर
श्रद्धा भी भर्त्सना की मार सह लेती है,
झुकाती है लज्जा से देवोपम ग्रीव निज,
ग्लानि से निष्ठा का जी धँस जाता है।
दुनिया की बदरग भूरेपन की झाँकी मे से झाँककर
भैंगी वे कानी-सी आँखे दो
(किसी जीवित मृत्यु की)
आशीर्वाद देती है
क्रमश मृत्यु का।

सुबह से तो शाम तक
काम की तलाश मे इस गुजरे हुए दिन की
निरर्थता की आग मे
जलता-धुआँता हुआ
ज़िन्दगी को दुनिया को कोसता
मैं रास्ते पर चलता हूँ कि
भयकर दु स्वप्न-सा, सामने—
आँखो के सामने वह
ढँका हुआ कुहरे से
दीखता पहाड
स्याह—!
आज के अभाव के व कल के उपवास के
व परसो की मृत्यु के
दैन्य के, महा-अपमान के, व क्षोभपूर्ण
भयकर चिन्ता के उस पागल यथार्थ का

दीखता पहाड
स्याह !
अपने मस्तिष्क के पीछे अकेले मे
गहरे अकेले मे
न-कह-सके-जानेवाले अनुभवो के ढेर का
भयकर विशालाकार प्रतिरूप
दीखता पहाड
स्याह !

दूसरी ओर
क्षुद्रतम सफलता की आड से
(नही है जो) निज की सुयोग्यता का लाड करता हुआ
मानी हुई चमक से चमककर
चाँद का अधूरा मुँह
व्यग्य मुसकराता है
फैलाता अपार वह व्यग्य की विषैली चाँदनी,
कुहरे से ढँके घोर दर्दभरे यथार्थ के देह पर
—पहाड के देह पर
ज़िन्दगी के भयकर स्वप्नो के मेह
रहते तैरते, मसानी आसमान मे।

रास्ते पर चलता हूँ कि पैरो के नीचे से
खिसकता है रास्ता—यह कौन कह सकता है।
दीखते हैं सटे हुए बडे-बडे अक्षरो मे
मुसकराते विज्ञापन
सिनेमा के, दुकानो के, रोगो के प्रभीमतर
चमकते हुए, शानदार।
चलता हूँ कि देखता हूँ नगर का मुसकराता व्यक्तित्व महाकार,
दमकती रौनक का उल्लास,
चहचहाती सडको की साडियाँ।
लगता है—
कि समस्त स्वर्गीय चमचमाते आभालोकवाले
इस नगर का निजत्व जादुई
कि रगीन मायाओ का प्रदीप्त पुज यह
नगर है अयथार्थ
मानवी आशा औ' निराशा के परे की चीज़
रूप मे अरूप
अथवा आकार मे निराकार
समूहीकृत गुणो मे है निर्गुण
अपौरुषेय, झूठ,

भयकर दु स्वप्न का विश्व-रूप,
कर्म के फल पर नही—कर्म पर ही अधिकार
सिखानेवाले वचन का आडम्बर

पाउडर मे सफेद अथवा गुलाबी
छिपे हुए बडे-बडे चेचक के दाग मुझे दीखते हैं
सभ्यता के चेहरे पर।
सस्कृति के सुवासित आधुनिकतम वस्त्रो के
अन्दर का वासी वह
नग्न अति बर्बर देह
सूखा हुआ रोगीला पजर मुझे दीखता है
एक्स-रे की फोटो मे रोग-जीर्ण
रहस्यमयी अस्थियो के चित्र-सा विचित्र और
भयानक।
(सपनो के तार पर टूटते ही नही है),
शोषण की सभ्यता के नियमो के अनुसार
बनी हुई सस्कृति के तिलिस्मी
सियाह चक्रव्यूहो मे
फँसे हुए प्राण सब मुझे याद आते है,
मर्माहत कातर पुकार सुन पडती है
मेरी ही पुकार-जैसी चिन्तातुर समुद्विग्न।
अँधेरे मे चुपचाप
अन्तर से बहनेवाले ढुलते हुए रक्त की
(अनदेखे अनजाने जनो के)
मुझे याद आती है,

आँखो मे तैरता है चित्र एक
उर मे सँभाले दर्द
गर्भवती नारी का
कि जो पानी भरती है वज़नदार घडो से,
कपडो को धोती है भाड-भाड,
घर के काम बाहर के काम सब करती है,
अपनी सारी थकान के बावजूद।
मज़दूरी करती है,
घर की गिरस्ती के लिए ही
पुत्रो के भविष्य के लिए सब।
उसके पीले अवसादभरे कृश मुख पर
जाने किस (धोखेभरी ?) आशा की दृढता है।
करती वह इतना काम
क्यो किस आशा पर ?

प्रश्न पूछता हूँ मै,
आँखो के कोनो पर उत्तर के प्रारम्भिक
कड़ुए-से आँसू ये मिठास छू ही लेते है।
मिथ्या का प्रबलतम
रहस्योद्घाटन द्रुत
श्रद्धा का आँचल थाम लेता है
दर्दभरी यातनाएँ आँखो मे दरसाकर।
यदि उस श्रमशील नारी की आत्मा सब
अभावो को सहकर
कष्टो को लात मार, निराशाएँ ठुकराकर
किसी ध्रुव-लक्ष्य पर
खिँचती-सी जीती है,
जीवित रह सकता हूँ मै भी तो वैसे ही।
जीवन के क्षुब्ध अन्त करण मे युग-सत्य का
जो अति भयानक
वेदनार्थ भार है
उसके ही लिए तो यह
कष्टजीवी प्राणो की अपार श्रमशीलता।
विशाल श्रमशीलता की जीवन्त
मूर्तियो के चेहरो पर
झुलसी हुई आत्मा की अनगिन लकीरे
मुझे जकड लेती है अपने मे, अपना-सा जानकर
बहुत पुरानी किसी निजी पहचान से।
माता-पिता के सग बीते हुए
भयानक चिन्ताओ के लम्बे-लम्बे काल-खण्ड
मे से उठ-उठकर
करुणा मे मिली हुई गीली हुई गूँजे कुछ
मुझे दिला देती है नयी ही बिरादरी,
हिये की धरत्री की
बडी अजीब (आँसुओ-सी नमकीन)
वह मिट्टी की सुगन्ध
मेरे हिये मे समाती है,
दिल भर उठता है
ओस-गीली झुलसी हुई चमेली की आहो से।

दूर-दूर मुफलिसी के टूटे-फूटे घरो मे
मुनहले चिराग बल उठते है,
आधी-अँधेरी शाम
ललाई मे निलाई से नहाकर
पूरी झुक जाती है

थूहर के झुरमुटों से लसी हुई मेरी इस राह पर।
धुँधलके मे खोये इस
रास्ते पर आते-जाते दीखते है
लठधारी बूढे-से पटेल बाबा
ऊँचे-से किसान दादा
वे दाढीधारी देहाती मुसलमान चाचा और
बोझा उठाये हुए
माएँ, बहनें, बेटियाँ—
सबको ही सलाम करने की इच्छा होती है,
सबको राम-राम करने को चाहता है जी
आँसुओ से तर होकर प्यार के
(सबका प्यारा पुत्र बन)
सभी ही का गीला-गीला मीठा-मीठा आशीर्वाद
पाने के लिए होती अकुलाहट।
किन्तु अनपेक्षित आँसुओ की नव धारा से
कण्ठ मे दर्द होने लगता है।

कुछ पलो बाद
हिये मे प्रकाश-सा होता है' '
खुलती हैं दिशाएँ उजला आँचल पसारे हुए
रास्ते पर रात होते हुए भी मन मे प्रात।
नहा-सा मैं उठता भव्य किसी नव स्फूर्ति से
असह्य-सा स्वय-बोध विश्व-चेतना-सा कुछ
नव शक्ति देता है।
निज उत्तरदायित्व की विशेष सविशेषता
रास्ते पर चलते हुए गहरी गति देती है।
नगर का अमूर्त-सा तिलिस्मी आभालोक
शोषण की सभ्यता का राक्षसी दुर्ग-रूप
यथार्थ की भित्ति पर
समुद्घाटित करता है।
किन्तु उसके सम्मुख न निस्सहाय
निरवलम्ब पहले-जैसा अनुभव मैं करता हूँ
नही कर पाता हूँ।
मौलिक जल-धारा मेरे वक्ष का शैल-गर्भ
धोती ही रहती है
रास्ता खत्म होता है कि सघर्षो के अगारे
लाल-लाल सितारो-से
बुलाते मुझे पास निज
कभी मासपेसियो के लौह-कर्म-रत
मजूर लोहार के अथाह-बल

प्रकाण्ड हथौडे की।
दीख पडती है चोट।
निहाई से उठती हुई लाल-लाल
अगारी तारिकाएँ बरसती है जिसके उजाले मे कि
एक अति-भव्य-देह,
प्रचण्ड पुरुष श्याम
मुझे दीख पडता है
क्षोभ मे, शक्ति मे मुसकराता खडा-सा!
लगता है मुझे वह—
काल-मूर्ति,
क्रान्ति-शक्ति, जनयुग!!
घर आ ही जाता है कि द्वार खटखटाता हूँ
अन्दर से 'आयी' की ध्वनि सुन पडती है।
अपना उर-द्वार खटखटाता हुआ
निश्चय-सा, सकल्प-सा करता हूँ।

[सम्भावित रचनाकाल 1949-50। नागपुर। **चाँद का मुँह टेढा है** मे सकलित]

एक मित्र के प्रति

कोरी है कापी यह
इसलिए कि शब्दो की जंघाएँ काँपी थी
जीवन के शिखरो पर चढकर जब,
मेरे इन प्राणो के शिखरो पर चढकर तब
तेरे गुरु स्नेहाकुल अन्वेषक मण्डल ने
जीवन के वैज्ञानिक दर्शन के नेत्रो से
मेरी इस आत्मा की ऊष्मा का मापन या
अन्तर के पवनो की
रचना का, गतिविधि का तापक्रम अकन या
दृढता के शृगो का
गहराई गहरी के पाताली अगो का
भावो के नक्षत्रो रवियो के किरणो के उन्मेषो
वैचारिक देशो का
तेरे गुरु स्नेहाकुल अन्वेषक मण्डल ने
वैज्ञानिक दर्शन कर
मेरे इन प्राणो के दुर्गम हिम-शिखरो पर फहरायी

अपनी ही ममता के रक्त से रजित कर
मानव की वैजयन्ती—
स्नेह की, सर्जन की, जीवन की ! !
शब्दो की रोमाचित जघाएँ
काँपी थी—
जीवन के अनुभव के शिखरो पर
उसकी ही सुस्मृति मे
नीरव रह
दी हुई तुम्हारी यह कापी भी
छाती पर रक्खी ही जाती है ! !
कोरी ही अक्षत ही सदियो से
सदियो तक।

[रचनाकाल 1949-50। नागपुर। **कल्पना**, अगस्त 1967, मे प्रकाशित। **भूरी-भूरी खाक-धूल** मे सकलित]

बहुत शर्म आती है

बहुत शर्म आती है मैंने
खून बहाया नही तुम्हारे साथ
बहुत तडपकर उठे वज्र-से
गलियो के जब खेतो-खलिहानो के हाथ
बहुत खून था छोटी-छोटी पखुडियो मे
जो शहीद हो गयी किसी अनजाने कोने
कोई भी न बचे,
केवल पत्थर रह गये तुम्हारे लिए अकेले रोने

किसी एक
वीरान गाँव के
भूरे अवशेषो के रखवाले बरगद के
चरण-तले की धूल
मैंने मस्तक पर लगा तुम्हे जब याद किया
देखी मैंने वह साँझ
जमा था जिसके लम्बे विस्तारो मे
केवल मौन तुम्हारा खून ! !
बहुत खून था कोमल-कोमल पखुरियो मे

बूढे पीले पातो मे
जो हुई रक्त से लाल
खेतो-खलिहानो की मिट्टी
उसकी भूख-प्यास
अपने अन्तर मे धारण कर
जब मैंने ले-ले नाम पुकारा बहुत जोर से
आस-पास के पहाड-शिल
से आयी गूँज या आवाज़
जिसने बतलाया वह ज्वलन्त इतिहास
मानव-मुक्ति-यास का ! !
सुनकर जिसे
बहुत शर्म आती है
मैंने खून बहाया नही तुम्हारे साथ ! !

[रचनाकाल 1949-50 । नागपुर । अप्रकाशित]

गुहा के श्याम अन्तर से

गुहा के श्याम अन्तर से अँधेरे की मरी-सी-साँस
जिसमे कैद है ठण्डी किन्ही गहराइयो की बास
(क्या कह दूँ कि तेरी व्यक्ति-सत्ता का यही है रूप)

निर्जन शीत भीतो बन्द चिमगादड दलो-से अन्ध
बूढे पक्षियो के पख टूटे प्रेत-से विश्वास
(कह दूँ क्या कि तेरा पूत सिंहासन गिरा है कूप)

वे छाँहोभरे वन कट गये—केवल अजाने ठूँठ—
तेरे मोह के मन मे बचे है तरुदलो के ठूँठ
(पर बेछाँह तुम क्यो हो गये जैसे पदच्युत भूप)

कि पागल नग्न स्त्री की-सी चली यह व्यग्र-मन हर रोज़
ठूँठो मे यहाँ क्यो और किन खोये फलो की खोज
(तेरी आत्मा के रूप पर बेजान उखडी धूप)

पाताली अँधेरे के तिलिस्मी मार्ग पर तुम कौन
कारागार की आत्मा भटकती औ' बिलखती मौन
(तेरे देह पर अभिशाप-छाया चल रही विद्रूप)

कि तेरा आत्मविश्लेषण कि है फलहीन - सा अभिप्रेत
जले डण्ठलभरा यह खेत पागल चाँदनी है श्वेत
(अरे खलिहान मे डाइन चलाती आज रीता सूप)

असामाजिक-निविडता-ग्रस्त तेरे प्राण के सब छोर
कि तुझ-से आत्मवादी की निराशाएँ बडी घनघोर
(असफल पाश - भजन व्यस्त बलिपशु ज्यो बँधा है यूप)

यदि उच्च स्थिति तो गुम्बजो से जिन्दगी के शब्द
तेरे लौट तेरे पास आते है कि तुझ पर क्रुद्ध
(यदि है निम्न, वापिस फेकता है शब्द जीवन-कूप)

यो तुम हो अकेले घोर, मन - एकान्तवासी भूत
विकेन्द्रित है अरे, व्यक्तित्व, जीवन भी न सर्जन-पूत
(क्या तुम कर सकोगे मुक्ति-सगर, वीर-रूप अनूप !)

[सम्भावित रचनाकाल 1949-50 । नागपुर । अप्रकाशित]

इधर-उधर सब

इधर-उधर सब चिढे हुए है, भौहो मे बल पडे हुए है
सन्देहो की बरछी ताने सावधान-से खडे हुए है
निज के तीक्ष्ण भाव-असि से ही बलि की है विश्वास मृदुल की
मन की देहली रक्त-सनी है, व्रण मे काँटे गडे हुए है।

मानव का खूँखार जानवर हो उट्ठा है आज भयकर
आत्मगुहा के अन्धकार मे वह बेचैन खडा हिंसातुर
आज हुआ हत्या का प्यासा, बलि का प्यासा, बढी पिपासा
सशय की बामी का कैदी क्रुद्ध सर्प है मन का विषधर।

कैसे शान्त करोगे उसको ? अब न समय है, फिजूल भय है
प्राणो का, जिस पर तृण-सा झेलना पडेगा महा-प्रलय है।

मटमैली जो दिशा सामने, बहा उधर से विकल प्रभजन
यह देखेगा कि तुम्हारी या कि उसी की प्रखर विजय है।

कैसे समझाओगे उनको, जबकि उन्हे विश्वास नही है
कैसे अपनाओगे जिनमे मानवता का त्रास नही है
उनकी आँखो मे वर्बरता, क्रोध और सन्देह चमकता
इतने ऊँचे वृक्ष हुए [पर] छाया का आभास नही है।

[सम्भावित रचनाकाल 1949-50। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

ओ मेरे जीवन के साथी

ओ मेरे जीवन के साथी, तुम असख्य, तुम हो साधारण
तुम पृथ्वी के सच्चे स्वामी, तुम प्रकाश के चिर ज्योतिर्कण
ज्यो उगता रहता, फिर होता नष्ट घास रे नित्य अवाहन
पर वह पृथ्वी के समीप है उस पर सोया उसका ही कण
तुकाराम की वाणी मे बचपन मे मैंने उसको ढूँढा
औ' कबीर के फक्कडपन मे मुझको दीखे हरे-हरे तृण
पूरब दिसि की उठी बदरिया इन्हे, हरे तृण-दल पर छायी
ये असख्य, ये साधारण, इनकी प्रवृत्तियाँ है विद्युत्कण।

जो भावना-विचार प्रकृति की आँखे उज्ज्वल
वास्तव को छूने की लहरे।
निज मे का वास्तव, बाहर का महावास्तविक सत्य छोडकर
मधुर अरुण भ्रम, मधुर अरुणतम,
दीर्घ अह का स्वप्न जाल कविता का उद्गम।
कवि कहता 'सच्ची है मेरी गहन भावना'
भोले पाठक, तुम सशक हो
उसकी कविता-श्रवण पूर्व ही कवि का ही अध्ययन करो तुम।
आज सहस्रो मीलो के घनघोर प्रवासी
ये तूफान
हृदय के क्षितिज-दीर्घ प्रत्यचा पर है अडे सुतीक्ष्ण बाण से
बस कवि पर विश्वास मत करो,
चाहे जितना अच्छा कल्पक
चाहे जितना ऊँचा चिन्तक
ऊँचा चिन्तक वह होता है
जिसमे मधुर कुहासे की सुन्दरता है।
क्योकि हमारा यह मध्यमवर्गीय महाकवि

उसे मध्यमवर्गीय हमारे पाठक
तेरी हो बस अधिक अधिकतम बिगडा हुआ रूप है उत्तम
उसकी नसे अधिक जोरो से कँपती रहती।
उसकी जिह्वा मार्ग-छोडकर चलती रहती।
पूनो की चाँदनी मधुर मे शिशिर रात की
दीर्घ कुहासे का सफेद ज्यो जाल तना रहता है।
त्यो कवियो की कविता मे
कितना घोर असत्य सत्य-सा श्वेत बना रहता है!
जो सिर्फ अह की माया है
'मैं' की पुकार है उसकी इच्छा-पूर्ति जाल की मृग मरीचिका
मे उत्सुक प्यासा पाठक-मृग
आत्मपूर्ति की, आत्मवेग का बाँध तोड देने की, माया मे भटका
आज घोरतम जीवन मे हे
महाघोर पगुता हमारी, जो कविता की कृत्रिमता मे
महाभावना की अफीम
घोर नशे से निज की आँखो से ही बचती स्वप्निलता मे
व्यक्ति दब गया है अपनी ही
कब्र बन गया है, उसकी उस घोर कब्र के वज़नदार पत्थर औ' मिट्टी
के चिर-चचल इलेक्ट्रॉन प्रोटोन
उसी के चिर-वचनाशील भावना-धूम, विचारो के परमाणु
औ' अस्पष्ट विचार-भावना-केन्द्रहीनता पत्थर स्थाणु—
के नीचे दब गया व्यक्ति
उसके वे भावना-विचारो के तूफान अजस्र विचारे
पृथ्वी-से व्यक्तित्व के नही अभिव्यक्ति के है वे मतिहारे।

[अपूर्ण। सम्भावित रचनाकाल 1949-51। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

सूखे कठोर नंगे पहाड़

सूखे कठोर नगे पहाड—
बंजरपन की भूरी गरिमा के सन्नाटो को महाभार
ले उठा सबल निज कन्धो पर,
साँवले अनुर्वर खल्वाटो को बुद्धिहीन,
ज़ोर से भूमि से दे उखाड।

सूखे कठोर नगे पहाड—
युग-युग की गहरी जडीभूत
परतो के काले विभ्राटो को इन महान्
काले अथाह सागर मे फेक
डुबो देने के लिए
आज निज कन्धो पर भार कर वहन ।।

सूखे कठोर नगे पहाड—
इनकी गहरी काली छाया के घेरे मे
मानवीय सभ्यताओ पर धुँधली अँधियाली
रहती छायी ।
अन्तर्मन पर धूल के मटैले भार
(कि जो रोकते विकास की सहज साँस)
रहते जमते ।
इनके ऊपर यह आसमान
जो चूने-सा कोरा सफेद,
रहता ही है नित निराकार ।
उसके (भीषण दाहक प्रकार से अर्थशून्य)
अवकाश-रिक्त
मे तिरछा लटका ढीला-ढाला है एक ओर
टीन के गोल टुकडे-सा यह सूरज सफेद ।
निर्जीव धुन्धवाला प्रकाश
मानव के मुख पर फैल, अमानव रूप
उसे करता प्रदान,
(ऐसा रवि विद्युद्दहनशील)
ढँकती रहती सौ-सौ काली राते अशान्त
वह आसमान ।
वे तारादल
मोतियाबिन्दवाले अशान्त ये लाख नेत्र
कुछ कहाँ देख पाते अजान ।
वर्षान्धकार
अथवा प्रकाश के धुँधले कुहरेभरा नित्य
आपदापूर्ण जीवन मानव का है अशान्त यह एक सत्य !
मानव की बाधाओ के है जो स्याह जिन्न—
ये अह-गर्भ, अज्ञान-प्राण, शोषण-प्रसन्न
युग-युग की सचित 'सस्कृति' के ये सडे रूप
हैं खडे हुए उद्धत अखण्ड
उद्दण्ड विजड खल्वाट-शीर्ष
रख आसमान मे दर्पपूर्ण,
काले पत्थर का तान धृष्टतापूर्ण दुष्ट सीना कठोर

हैं रहे रोक आतुर वर्षा लेकर आती व्याकुल समीर
इनसे टकरा आहत होकर वापिस जाती ठण्डी बयार
कर गिरफ्तार ये शिला-वक्ष शैतान घोर !
सूखे पहाड नगे कठोर।
कन्धो पर रख,
आगे बढ चल,
पगडण्डी पर रख पैर
माप अपने सवाल के सुविस्तार,
उनकी गहराई की गुहार
शक्ति की लहर मे लहरा ले।

सावधान ! यह मार्ग तिलिस्मी है अचीन्ह।
मन्त्रानुशासनो का काला जादुई देस
अब हुआ शुरू।
औ' उसके बीचोबीच तुम्हारा मार्ग—
—भूरा सॉप—!!
खँडहर-खँडहर पीपल-पीपल
के हरियाले सरसर मर्मर
मे तान्त्रिक की दुष्ट साध, वह कूटनीति
की भुतही सन्ध्या भाषा, या भावुक छल का आकुल प्रलाप,
गेरुई शोणितारुण भैरव, शत इच्छाओ की
जटिल ग्रन्थि
की स्वप्न वाक् !!

इसलिए
भार मत गिरा
कि निज तन के आराम के लिए
हारकर अरे !
पीछे न देख !
जरा अगर तेरे कठोर
भार ने सहज छू ली जमीन,
तो अकस्मात्—
तेरे कन्धे पर से सरके, जा गिरे विजड
नगे कठोर सूखे पहाड
के पास वही-के-वही मौन
साँवला शून्य पत्थर बनकर
तू पडा रहेगा युग-युगान्त।

मार्ग तिलिस्मी, है जादुई देस !!
निज अन्ध गुहा की छत मे तान्त्रिक ने, असख्य

आत्माएँ लटका दी चिमगादड के समूह-सी उलटी ••।
लटका नीचे सिर, ऊपर करके घृणित पैर
ढीले फैलाकर रात्रि-श्याम
असगुनी पख
उलटी लटकी है पराजिता दयनीया आत्माएँ असख्य ।।
भूखे स्यारो की मलिन देह
मे अगिन मानवात्माएँ कर दी, हाय ! कैद
जो इधर-उधर पशु रहे घूम
मुख को नत कर, वे श्वान और
अति वृद्ध सिह
(सरकस के पशु)
भूखे शृगाल इत्यादि जीव—
थे एक ज़माने मे ये भी मनुष्य,
पर थोडे-से आराम हेतु,
अपनी आत्माएँ बेच, हाय !
हो गये आज
काले तान्त्रिक की महादुष्ट जागीर घोर
के क्षुद्र जन्तु ।
आज भी अरे, स्वपदाधिकार
के हेतु (किन्तु)
दिन-रात परस्पर रहते ये सघर्षशील !
पर तान्त्रिक के आज्ञा-अधीन
ये रहते है दयनीय जीव !
थे एक ज़माने मे ये भी मनुष्य ।।

मत कर विराम,
विश्राम न कर, सगीत-स्वरो के लिए न रुक !
रह सावधान ।।
जिनमे से यह आ रही मधुर आलाप-तान
वे घर भुतहे,
वे, ऐकान्तिक सॉवली हवा
के फैलावो मे, खोये-से निर्जन मकान ।।
लम्बी-चौडी, ऊँची, सफेद
दीवारो पर तिरछा रहस्य—
तिरछी फैली है निर्मानव
वह घोर रहस्यावृता तिलिस्मी नील पीत
उन्मत्त चाँदनी गहरी, पैशाची प्रगाढ
जो मुसकाती छलभरा मौन ।
उन तिमज़िले आलोकित वातायन-द्वारो से चिर-समृद्ध
जो मैदानी साँवली साँस

मे लहराते हैं नृत्य-गीत
उनका अमानवी कम्प-स्पर्श
वह (ठण्डी रातो मे) जगल के बियाबान
मे सर्द सुरो की गूँजो-सा, प्राण पर घोर आक्रमणशील
(जिससे एकाकी रोमहर्ष)

ऊँचे मकान का चिकना कितना भी सुन्दर हो अग्रभाग,
पर पीछे से उद्ध्वस्त
कि लम्बा-चौडा वह खँडहर विदीर्ण।
है वहाँ (मनस-व्यभिचारी-से) मानुषी भूत
जो अपने मरे-हुए-पन मे
जी हुई ज़िन्दगी रहे आँक
(है टाट बोरियो के विदीर्ण
साँवले, सडे हुए परदे भूरे अनेक
टूटे उखडे ढीले दरवाजे रहे ढाँक)
हैं मरी हुई जिन्दगी घिनी की कटी नाक !
उस खँडहर के आँगन विभग्न
मे (दरवाज़ो सम्मुख) बिखरे है सभी ओर
जगली अजीब
निष्प्राण नपुसक पख और
उनमे से निकले हुए दीर्घ-
लघु पर असख्य !
नि शक्त मनुष्यो की निज अन्तस्-हननशील
आत्माओ के वे है भीषण जाग्रत प्रतीक !!

कभी-कभी दीखते राह पर आते-जाते पुरुष और
कमनीय नारियाँ स्मिति-प्रसन्न
(ध्यान रख मित्र !)
वे मोम मूरते, चमकदार पुतलियाँ लाख।
जादुई स्याह
हाथो, अचल मे लगी गाँठ ।
देखी कि नही ?
तान्त्रिक की आँखो मे तीखी गहरी कजी चमक तेज़ !
है मोम मूरतो के नेत्रो मे भी वैसी ही दृष्टि तीव्र—
पल एक वही माधुरी-लीन प्रच्छन्न, किन्तु
अन्य पल प्रकट उसका प्रकाश
(वह दुरभिलाष)
होता फिर से प्रच्छन्न और
नेत्रो मे फिर चमका आता माधुर्य-हास
उनकी मीठी मुस्कान निरख !

ये चमकदार तरुणियाँ, मात्र है रूप-रंग
वे सिर्फ विषैली लाल-नील
जामुनी हवा है, आत्महीन !
तू कर न साथ उनका कि मित्र,
मृत्यु की गोद मे पक-श्याम
जाने का, पलने का यदि तेरा अभिप्रेत
निर्णय हो तो दूसरी बात !!
प्रियवर, उनके तू रह न साथ !

चलते-फिरते जो पुरुष भव्य
देते कि दिखायी उच्च वश के दीप-स्तम्भ
(ये दम्भशील)
हैं तान्त्रिक के ये सौ गुलाम
तू कर न मित्र, इनको सलाम या राम-राम।
सुमधुर व्यक्तित्व कि चतुर हास
भावुक छल का कौशल-विलास
लेकर ये तेरे साथ-साथ
चलकर छलने के हेतु मात्र
उत्सुक है करने बातचीत !
ये बँधे हुए आदेश एक
से यो अभिन्न जैसे रजनी से अन्धकार,
जीवन के मात्र विराम-चिह्न !
ये शून्य बिन्दु है गोल-गोल
पर चलता इनके ही द्वारा
दु शासन तान्त्रिक का खगोल !!
ये यद्यपि जीवित-से दिखते, पर मूर्त प्रेत
(है प्रेत-तन्त्र)
ये तान्त्रिक के अधिकार-क्षेत्र
की दमनशील आतकशील सरकार घोर
के कल-पुर्जे ये लौह यन्त्र।
इनसे न, मित्र, कर बातचीत
आमरण शत्रु तेरे असख्य
से समझौता कैसा कि प्रीत ?
ये स्वय भीति-आतकग्रस्त, इनका निज का है बुरा हाल !
वे इन्द्रजाल की कूटनीति
औ' कूटनीति के इन्द्रजाल !!

झूठे आकर्षण, लोभ, मोह
अथवा प्रमाद, आतक, भीति से हो न ग्रस्त !
यो हो मत निज से ही अपमानित आज, हाय !!

क्या सत्य आज
जीवन के, जन-जीवन के कर्तव्यो सिवाय !
प्रासाद-दुर्ग की दीवारो से तू महान्
है मेरे प्यारे मित्र, गहन आदर्शवान
इस भूमण्डल का तुझे तोडना है तिलिस्म
तू तिमञ्जिले सौन्दर्य-स्वर्ग से है महान्
ये पुरुष, स्त्रियाँ, मोहनकारी सगीत—सर्व
है इन्द्रजाल, है सभी तिलिस्मी, यदपि स्निग्ध,
मत धँस इसमे,
मत फँस इसमे, पीछे न देख
मूरख मत बन, मूरख मत बन,
पल का अपराध प्रलय की बन घन-घटा घोर
तुझको ढँक लेगी, छा जायेगी सभी ओर !
प्रिय, बन न मूर्ख
मत कर कुतर्क
आगे बढ चल तू लगा जोर !

ले देख, दूर प्रात नभान्त
मे उगा सूर्य
क्रान्ति-सा क्रुद्ध वह लाल सुर्ख
पथ हुआ दीप्त तेरा अपार
अथ हुआ दीप्त !
तेरा यथार्थ पर था आधारित प्रगति-तर्क
(तू सफल मनोरथ हो, जल्दी
छू ले अपने लक्ष्य का छोर
गति हुई दीप्त, इति हो प्रदीप्त
आगे बढ चल, तू लगा जोर)
सूखे कठोर नगे पहाड
यो उठा, अथक
कन्धो पर रख
चलते जाना बेरुके, विघ्न करके विचूर्ण !
पार कर तिलिस्मी देश शीघ्र,
यह स्कन्ध-भार अपना सँभाल
ढो ले, ढो ले यह बोझ घोर !
बजर पहाड, नगे कठोर जल्दी निकाल
चलते जाकर, चलते जाकर
पा ले, पा ले सत्य का छोर
आ पहुँच और
गम्भीर जलधि के तट पर तू हो खडा कि छू ले आसमान
इतना ऊँचा, इतना विराट हो दुर्निवार सकल्प-प्राण !!

अब बाहुदण्ड से कन्धे पर से उठा शीघ्र
आवेग रुद्र सयमित शक्ति दृढ मुद्रा से
दे फेऽऽक
भयकर आँखो से फिर देख
एकदम प्रलम्ब स्वर भीषण धडाम !!
भीति-हत भागती हुई तरगो की फेनिल-मुख
निज रक्षाप्रार्थिनी चीख !!
सुन ले ! सुन ले !
आघात विकल घबराहट से प्राणो की माँगी गयी भीख !
सुन ले ! सुन ले ! देख ले आज
उत्तुग कठिन नगे पहाड
का जलधि-विदारक अध पतन
डूबती हुई भीषण दहाड
भीषण गुहार, विकराल नाद
सुन एक प्रलम्ब भयार्त गूँज !
क्षितिजो के कानो मे पछाड
खाकर रोती-सी मार धाड
असहाय तडफडाती-सी वह आवाज़ एक
वह प्राण त्यागती प्रतिक्रिया का अन्त शब्द
सुन वह प्रलम्ब भयार्त गूँज
सुन ले अपना विजयेतिहास
सुन ले होकर नीरव गभीर
उत्तरदायित्वो का नूतन विद्युद्दोल्लास
फिर लौट, पसीना पोछ
उसी फिर महाकाल सागर मे कूद—
नहा !
अन्तस् की उसकी चमत्कारिका खीच शक्ति
प्राप्त कर जलधि अन्तस्थ
गहन गम्भीर शक्ति के प्राण-स्रोत
प्राप्त कर सृष्टि के तडित्-प्राण
कर गान प्राप्त
चल दे तुरन्त
जल्दी-जल्दी पग बढा आज
कर दे अपनी रफ्तार तेज़
मानव-बाधा कर शीघ्र ध्वस्त
उद्ध्वस्त शत्रु कर तुरत धराशायी समस्त
कर अनुभव अपनी बाहु-शक्ति
शक्ति का स्वेद, मद, बल खाती मस्ती असीम
कर अनुभव गहरा आत्म-तेज
कर अनुभव जन-सकल्प भीम

कर अपने प्राणो मे अनुभव नव लोक-शक्ति
जिसके कारण हिय मे साहस उत्साह-स्रोत
जिसके कारण तुझ लोक-व्यक्ति
मे महासृष्टि के तडित्-प्राण का चमत्कार।
गहरे यथार्थ पर आधारित
जो देता है (आवेग-ज्वाल मे कान्ति-श्वेत)
सौ तर्क-शुद्ध नूतन विचार।
पा अपनी तन्मयता गभीर, पा मूल केन्द्र
जय-हर्ष-अश्रु मे से निहार—
वह भव्य लक्ष्य
दर्शन कर ले आसक्तिपूर्ण
कर ले अधीत सम्पूर्ण पक्ष,
सारा स्वरूप
कर अनुभव अपने अन्तर मे नव लोक-शक्ति
पा ले नूतन गम्भीर भक्ति ।।
पा ले जीवन गम्भीर रूप ।।

पथ पर रुक मत
आ पहुँच, पहुँच, चल, भाग, उठा•••
कन्धो पर रख,
ले जमा और
निज पैरो के मज़बूत ज़ोर
पर तौल भार।
दुर्भेद्य पहाडो की सूखी नगी मजबूरी का अजीब
विस्तार माप
फिर से पैरो पर एक बार
ले तौल पहाडी महाभार।

फिर चल, चलता जा, चलता जा
चलते जाकर—
(दूज के चॉद की छायाएँ फैली जिसके बेथाह वक्ष)
सॉवले अतल गम्भीर जलधि के महाकूल
पर खडा हो कि
छू आसमान
आवेग-रुद्रता की विकृताकृति मुद्रा मे होकर प्रभीम
दे फेऽऽऽक
पहाडो की कठोर प्रस्तरी देह, प्रस्तरी प्राण
प्रस्तरी घोर मस्तिष्क-कोष
(प्रस्तरी घोर मस्तिष्क-कोष—
जिसके काले विवरान्धकार

मे बैठे हैं वीभत्स श्याम
काले जादूगर—जादूगर
तान्त्रिक समाधि मे पूर्ण लीन
वे (कारावासी, मानवता के दमनशील शासनकर्ता
शोषण-प्रवीण।)
दे फेंक कुबेरो का सुमेरु
जो सोने के गजे सिर का
(जन-क्रान्ति-विरोधी प्रतिक्रान्ति का मूल केन्द्र)
जिनके कि काजली प्राणो के आवरण—देह
पर आँख-नाकवाला हिस्सा
मुख भाग कि सुन्दर स्मिति-विभोर
कचन की मिट्टी का बुर्का वह स्निग्ध गौर
शोषण की गहन व्यवस्था के ये हाथ-पैर औ' बुद्धि-उदर
ये लम्बोदर ये स्वार्थ-शास्त्र की बुद्धि प्रखर
इनको उखाड
दे उन्हे ज़ोर से फेंक आज
दे डुबो सर्व इनका समाज
इनके प्राणो का रुधिर स्याह
दे बहा सिन्धु के महा-अतल
दे बहा युगो के भीषणतम अभिशापाचल
ये खँडहर के बरगद पीपल
फैलाकर अपनी अग्नि-भुजा तू जला डाल
भुतहे भावो की भँवरो के विस्तृत प्रसार
के महा अस्त्र ये छार-छार कर डाल आज
शोषक दल के स्वार्थों के ये
औचित्य-स्थापनाशील तर्क
कर आज गर्क
मौत के स्याह बेथाह समुन्दर मे अपार
सौ लोक-विरोधी झूठे भावो के प्रसिद्ध
ध्वनिविस्तारक विक्षुब्ध केन्द्र-से
खँडहर के बरगद-पीपल के पात-पात
इनके काले भुतहे शब्दो के स्वराघात
कर शीघ्र स्तब्ध
उद्ध्वस्त सिद्ध कर तान्त्रिक की
मायावी के शत शक्ति-दुर्ग
कर शीघ्र दग्ध ! !
कर मुक्त श्वान-स्यारो के तन, चिमगादड तन
मे अब तक जो मानव बन्दी,
तोड दे द्वार सौ रुद्ध किये
जो खडी शिलाएँ है अन्धी

शोषक की आवश्यकताएँ—दे तोड तिलिस्मी सत्ताएँ
हे कष्टजीवियो के प्रतिनिधि
नष्ट कर लोक-शशि-ग्रास-मग्न
सौ राहु-केतु !
(रूपान्तरिता कर पृथ्वी को)
उद्दाम प्रगति के श्वेत-नील
नक्षत्रो की नव विजय हेतु
बाँध दे अरे !
जन-बाहु-स्पर्श-सर्जित विराट्
जन-बाहु-दण्ड-निर्मित असख्य
शत आपृथ्वीनक्षत्र सेतु ! !
हे महाश्रमिक ! जन-क्रान्ति-रूप !
जीवन के मर्म कि शस्य-श्याम
आनन्दित खेतो के अपार
विस्तारो-से कोमल सुरम्य
आँखो के सम्मुख फैल जायँ !
उनमे सुमधुर नव आशय-सी नव अभिप्राय-सी
तेरी परछाईं गभीर
की नव कोमल सौन्दर्य-कान्ति
का दर्शन होता रहे हमे।
हम एक-दूसरे के अन्तर
मे एक-दूसरे की गहरी
झाँकती हुई मुख-छाया पा ले एक ओर—
हम अप्रतिहत स्वाधीन प्राण
सघर्षग्रस्त है क्रान्तिकाल के कष्टजीवि कर ले सहास
यो निज जीवन-औचित्य-स्थापनाशील नये साहस-प्रयास
आराम कि तब तक है निषिद्ध
निज भाग्य-सिद्ध इतिहास-सिद्ध
जब तक कर्त्तव्य न पूरा कर डाले समस्त दूसरी ओर !

रचनाकाल 1949-1952। नागपुर। **भूरी-भूरी खाक-धूल** मे

सत्य के गरबीले अन्याय न सह

सत्य के गरबीले
अन्याय न सह, मित्र
सघर्ष करता हुआ तू जीवन का खीच चित्र
मिथ्या की हत्या कर बुद्धि के, आत्मा के विषभरे तीरो से
खीच चित्र मानव का प्राणो के रुधिर की लकीरो से

तेरे द्वारा भूले हुए
याद, पर दिलाये हुए
अनुभवो के सत्यो प्रति जीवन का दण्डवत होगा जब
श्रद्धाभार नत-हिय, नम्र-गीव्र स्वीकृति होगी जब
आँसुओ से सिंचे हुए
गालो पर आभासित जीवन की अनुभूति
होगी जब
पथ पर प्रकाश तब बढता ही जायगा
वीरान हवा मे गीत कोई तब तेरे लिए

जीवन के मन्दिर-शिखर तब
उगेगी न भूरी घास,
न सही बाग़,
गृह मे न सही फूल
जीवन के पथ पर जगली झरबेरी की झाडियाँ ही सही और
लाल-लाल किंशुक-पलाश-काँस
न सही हर्ष आनन्द उल्लास विशेष
न सही कोई मान्यता का प्रतिदिन नवोन्मेष
जीवन का काव्य, किन्तु बनता ही जायगा
सहचरता भ्रातृत्व का गहरा अमृतानुभव
जीवन का उत्सव किन्तु मनता ही जायगा । ।
बिरादरी है तेरी नयी, नया भाईचारा है
जिनके नही पास कुछ, उनका ही सहारा है । ।

जीवनानुभव सत्य बहुत ही कठोर
सिरफिरा मुँहज़ोर है
उसका न बुरा मान आकर इस छोर पर
उसके अतिभव्य रूप प्रति सीख
नम्रता के नव-मान
बडो का सहारा झूठ, छोटो को सचाई ही का आसरा
छाती के घावो के लिए सुखदायी है

ईमान की गरम फूँक और
सघर्ष की श्वास।
तेरे-जैसे पीडित कि शोषित असख्य जन
कब से खडे है, मित्र, तेरे इन्तजार मे
बाँहो मे भर ले तू छाती मे डुबो ले आज
उनके अपार प्यारभरे मन, यो अपने को उबार ले!!
उनके सहयोग से तू उनके ही साथ-साथ
खीच चित्र मानव का प्राणो के रुधिर की लकीरो से
मिथ्या की हत्या कर बुद्धि के विषभरे तीरो से—
किन्तु पहले तू सिद्ध कर
अपनी ही आँखो मे अपनी तसवीर को व उनकी तसवीर को
फिर समुद्घाटित कर न्याय की किरणो मे जीवन की पीर को
मिथ्या के अन्धतम कुहरे को चीरकर
सुनहली धप-सा निखर उठ
लोक-जीवन के सूरज को प्रणाम करता हुआ
अन्याय को चुनौती दे कि उभर उठ!!

[रचनाकाल 1950। नागपुर। **भूरी-भूरी खाक-धूल** मे सकलित]

भक्तिकामी पैरों की मोच की चीख़

गलियो मे भरी हुई, सदियो की रुँधी हुई
अर्धभग्न मकानो की गन्धभरी
युगो की बासी साँस निर्जीव
सुबह के समीर के
तीखी-सी उद्विग्न चिन्ता की लकीर बन
मन मथ देती है!
किरणो के सुनहले तारो पर
मेरे चिर-उद्विग्न विचारो के पछी बैठ जाते है
जीवन की गति भर उठती है प्राणो मे
आकाश के मीलो की बेचैन उडाने भर उठती है कराहते वक्ष मे
गलियो की गीली
भग्न दीवालो की बासी—
साँस
उलझी हुई जिन्दगी की
आयी हुई दुखती हुई आँख लाल

मुझे भडका देती है
देह से लिपटे हुए नागपाश भीचने
दिन के उजास मे
किसी ध्रुव लक्ष्य की सपनोभरी चिन्ताएँ सताती है
भीमतर प्रयास मेरे मन का
अहेरी की भयानक सयमित व्याकुलता
जगा देता प्राणो मे
साहसी विजय हेतु।
धरती की गति भर उठती है वक्ष मे
प्राणो मे भर जाती है भयानक कोई तेज रफ्तार।
छटपटाते हुए मेरे मुक्तिकामी पैरो की मोच चीख उठती है।
(रोज-रोज़ चल-चलके गिरने के)
घुटनो मे लगे हुए ताज़े घाव
कभी भी न गिरने का दाँव लगा बैठते है
मीलो की दौड का।
रक्त के लाल दागो भरी हुई
मैली बासी धोती-सी मेरी यह
अति तुच्छ आत्मा
दिवस के प्रकाश की चादर बन जाती है।
भीमतर प्रयास मेरे मन का
अपार हो जाता है और फिर भयानक
चिन्ताएँ उडते हुए
सन्देशवाही (युद्ध) कपोतो-सी
कानो मे तुरन्त नव-तत्परता के गीत सुना जाती है
गीली घुप्प अँधेरे की बासी साँस
गहरे-से अर्थभरी परछाईं-सी
आँखो मे मूर्त हो घूम-घूम जाती है।
गलियो मे भरी हुई
स्पन्दनहीन हवाएँ व्यथाएँ भर देती है
मेरी अन्तश्चेतना की गहराई मे
जलता हुआ तेजोमय रसायन
तीव्रतर होता है।
सपने-से आते है कि किसी दिन
पुराने मुहल्ले सब होगे साफ
भाफ होकर काले दाग धरती के सब मिट जायेंगे
मानव धुकधुकी मे
सुनहले दिवस का रक्त खिलखिलायेगा।
क्यो न फिर आज ही दिवस के सुनहले कपोलो पर
सन्ताप से भरे, बुखारभरे इन होठो का
वेदनाभरा मेरा सवेदित चुम्बन

अपार हो जाये, और
प्यार हो जाऊँ मैं विशालतर
क्यो न फिर आज ही

इस ध्रुव लक्ष्य की उच्चतर मजिल के
मनोहर सबसे ऊँचे उस रोशनदान मे
मुक्त-उर बुलबुल की
वसन्त की निमन्त्रणशील मधु-रागिनी गायी जाय

छटपटाते हुए मेरे मुक्तिकामी पैरो की मोच
चीख उठती है—
प्रेम, राग-रागिनी, युद्ध
सब, एक साथ एक ओर पक्तिबद्ध चलेगे औ' गूँजेगे
पहले तो किसी की अस्थियो से
किसी के लिए वज्र बनेगा
कदाचित् मेरी भी अस्थि कभी किसी काम आ जाये
जनो के हाथो मे खिलाफ जानवरो के।

[रचनाकाल 1950। नागपुर। **सबेरा सकेत** (14 नवम्बर 1968), मे इसी शीर्षक से तथा **कविता-7** (1970), मे 'अजन्मी किरण' शीर्षक से प्रकाशित। **भूरी-भूरी खाक-धूल** मे सकलित]

ज़िन्दगी का रास्ता

(1)

रास्ते के शोरोगुल औ' धूल के
छोटे-छोटे बादलो से घिरकर मलीन हो
(किन्तु निज मस्तक मे चलते हुए चक्र-से
भावो मे विलीन हो)
अपने काम पर से घर लौटते हुए
रामू, घिरी साँझ के सुदूरतम
गेरुए किनारे पर
मिल के काले धुएँ के बल खाते बादलो को देखता हुआ
बढाता हुआ पैर, तै करता है
धूल-भरा रास्ता!
रामू सोचता है कि व्यर्थ गया सारा दिन,
मेहनती गरीब के असाध्य किसी रोगग्रस्त

क्षीणकाय किन्तु अति भोले प्यारे
बालक की उदास
(किसी आन्तरिक प्रेरणा से चमकती हुई)
आँखो-सा कि म्लान मुसकानो-सा
अरे ! यह मेरा दिन जीने की प्रेरणा लिये हुए
भी पूरा न कर पाया अपना काम
अपना जीवन-कर्तव्य !
रात मे भिड़ूँगा अब, जूझूँगा, आधी रात
प्रभात से कपोलो को
हृदय के दाह-भरे चुम्बन से
लाल कर दूँगा मैं ।
याँगटीज की बलशाली, अनुभव-गभीर
अन्त स्पर्शिनी बल खाती लहरे
हिये के निभृत शैल-विवर सहलाती हुई
कगारो को हिलाती-गुँजाती हुई
मलाया के अरण्य-प्रदेशो के घनच्छाय
मनोहर वृक्षो के घनघोर
गीतो की ऊँची उठती लय मे
रामू के हियरे मे तूफानी भव्यतम
सगीत जगा गयी ।
उसकी अपनी भारतीय अँधेरी गली की
वेदनाकुल आत्मा
अनन्त शक्तिशाली व्यक्तित्व का रूप ले
अकस्मात् घूमने लगी
रामू के हृदय के आँगन मे कमरो मे ।
शक्ति की ज्ञानमयी वेदना की लहरे,
ज़िन्दगी के अनुभव सताने लगे
आगे बढने के लिए ।
हृदय मे नया सत्य
आँखो मे किरनीले सपने लिये हुए
अँगडाई लेने लगा ।
अरे ! नये सूरज की किरणो मे नहाकर
ज्वलन्त कमल खिले
लक्ष्योन्मुख भावोद्धत पीर के ।
किन्तु, हाय ! गरीबिन माँ ने ही बेचे हुए,
खाते हुए मार और करते हुए काम नित,
उदास पाँच बरस के बालक के
दर्दभरे फटे-हाल जीवन-सा जिसमे
पुचकार का रस
(और प्रोत्साहन) मिला ही नही, फिर भी

पढने के शौक और
जानने की चाह ने
मुसीबते बढा दी—
ऐसे अतिक्षीणकाय कष्टजीवी बालक के जीवन-सा
रामू का गुलाम दिन
मुक्ति के सपनो मे डूबकर
द्रोह की ज्वालाओ से चूमने लगा आसमान !

(2)

रास्ते पर चलते हुए रामू का मन यो
अपने मे ही कहता है कि ·
पूँजीवादी ह्रास के
सियाहपोश देहवाले गेरुए चेहरे के भैरव हास के
इस भयानक काल मे
दिन का उजाला काले धुएँ के आसमान
मे से आया होता है,
मुर्दा अप्राकृतिक धुँधला प्रकाश ही तो
ज्ञान कहलाता है,
यश लोलुप व्यक्ति की तेजोमयी सत्ता
आधुनिक आदमखोर रावण के घर पर
भिश्तीगिरी करती है,
पूँजीवादी उल्लू के साहित्यिक पट्ठे
राजनैतिक रात मे—
ऊँचे किसी छप्पर का आसरा लिये हुए
(रात) चीखा करते है,
(घुग्घू का स्वर सुन
नारी का मन पीले पत्ते-सा काँपता,
रोगग्रस्त बालक की साँस टूट जाती है।
रोती है धाड मार
आँसूभरी छाती नयी बहू की।
दारिद्र्य के कालिख-रँगे कपोलो की पीलिमा
कभी देगी उत्तर जरूर अवसरवादी को)
पूँजीवादी उल्लू के साहित्यिक पट्ठे
सुनसान रात मे अह्-गर्भ वासना से चीखा करते प्रात तक
जीवन के खँडहरो के सुनसान साये मे
व्यभिचारी भावो के दृश्यो को उभारकर
आदर्श बघारते।
हाथ जोडे रहते हैं बडे-बडे बुद्धिमान,
बडे-बडे पैगम्बर
रावण के घर पहरा देते है

बडे-बडे नेतागण, बडे-बडे ईश्वर !
दुनिया का उदरम्भरी मध्यवर्ग थर्राकर
(रोटी की तलाश मे)
बेचता है आत्मा को
वेश्या के देह-सा व्यभिचार के लिए ।
मिर्ची की धाँस की खाँसी-सी
पीडित उन्हे करती है
जन-जन की साहसी विचारधारा
कर्ममयी अग्निधारा दर्पोद्धत ।
जिन्दगी के सूने अकेले एक
कमरे मे चुपचाप
(भूत-से)
आत्मा को वासना-सवेदनो मे बोरकर
लालसामयी जीभ को चलाते हुए
खाते हैं सुख की, आराम की
वे बासी मिठाइयाँ
पूँजीवादी चोट्टो के घर की ।
स्वार्थी भी चाहते है औचित्य, सगति
सामजस्य,
सुविधा की डोर से वे शोषण के तर्कों को बाँधकर
फिराते है घुमाकर विचारो के पत्थर ।
शोषण कीबर्बर तरु-शाखाओ पर लटकाकर
फाँसी के झूले मे मानव
चाहते है छूना वे मानव के सत्य को ।
पूँजीवादी ह्रास की गटर मे
मध्यवर्गी बुद्धिशील अवसरवादी केकडे
खेलते शिकार है
आनन्दोल्लास से—
एक ओर जिनके कि अण्डो मे देखते है ब्रह्माण्ड
आलोचक सत्य-प्रिय 'ब्राह्मण' ।

(3)

आधुनिक सहस्रमुख रावण से द्रोह कर
विद्रोही भूमि के सगर-रत पुत्रो ने
धुएँ के उभरते हुए बादलो के ठीक बीच
भागती हुई कौधती-सी ज्वाला-सी
प्रलम्बित धारा को
आँखो से देखा—
अपने ही हाथो से छूटी हुई
(स्टेनगन की ही) वह आग थी ।

शोषण-व्यवस्था को भग करती हुई
आग की लकीर वह
पृथ्वी पर घूमती।
किन्तु यह भीम दृश्य देखकर,
भयकर प्रलय का सामाजिक रूप देख,
महाबाहु शोषितो के
महाभाल निम्नो के
सूखे हुए किन्तु दृढ
दुर्धर्ष दुर्निवार युद्धोद्यत
चेहरो को देखकर
भयभीत मध्यवर्ग भागकर
प्राणो की भिक्षा माँग
खडा हुआ रावण के आँगन मे दीन-सा
टिक गया दानवो की भीत के आसरे।
व्यभिचार के लिए समर्पित शरीर-सी बेचकर
हुआ क्या आत्मा का ?
श्वेत-वस्त्र सभ्यता
का एक हाथ, एक पैर
भुतही हवा के किसी स्पर्श से
मर गया
कि यो आधे चेहरे को मार गया लकवा,
आधा होठ फूलकर लटक गया एक ओर,
विद्रूप कि भयानक व्यग-हास हँसकर।
कुएँ के कचराभरे सूखे अन्तराल मे
घनीभूत ऊँघते अँधेरे-सी
(जागरित स्वार्थों के मच्छरो से गूँजती)
तमिस्रा वह
नीद वह
आत्मा मे छा गयी।
भयकर अपनी ही जिन्दगी के
दृश्यो से आँखे मूँद
सिद्धान्तो के, तर्कों के कुरते को उतारकर
अवसरवादी दायरे मे अगो को पसारकर
बुद्धि ने बगासी ली।

(4)

बीसवी सदी के इस पचासवे चरण के प्रयास मे
दमन के काले अन्धकार बीच
गगन मे उठते गरीबो के हाहाकार बीच
रामू के सोये हुए हृदय को

अवरुद्ध जीवन को अकस्मात् किसी ने
सत्य की शक्ति दी औ' हिम्मत की राह दी
पूँजीवादी झूठ के विराट् अत्याचार बीच ।
रामू के गरीब किन्तु सूक्ष्मदर्शी हिय ने
देखा कि पूँजीवादी ह्रास के
इस भैरव काल मे
बादामी कागज़-सा प्राणहीन
दिन फीका रहता है,
पुते नीले रग से सूने आसमान मे
सूरज एलुमैन का
करता है चमकने का असफल स्वॉग नित ।
किसी अस्वाभाविक प्रकाश की पीली-भूरी धुन्ध मे
व्यक्ति, समाज, घर, रास्ते के पत्थर
आभासित होते है
अमूर्त छाया-से ।
मानो कि श्वेत-वस्त्रधारी इस मानव ने
मानवता त्याग दी ।
वर्तमान समाज के घेरे मे
व्यक्ति और व्यक्तित्व
स्वय के मूल्य से नही चमक पाते है ।
चिलकते रहते है
अनुचित निर्धारित मूल्यो से
अस्वाभाविक अनैतिक शक्तियो के असगत
टूटे हुए होल्डर मे लगी हुई
अच्छी-सी निब-सी
केवल अहलकार का काम करती हुई
अच्छे कई व्यक्तियो की शक्तियाँ
गहरे न्यस्त स्वार्थों से अनुशासित होती है।
रामू ने देखा कि
दुनिया के पेंदे मे
पूँजीवादी छेदो से
आधुनिक जीवन बुद्धिजीवियो का
ठीकरे-सा लगता है ।
अनिष्टकारी शक्तियो से परिवार भग्न है,
स्नेह का पारावार सूखकर,
अन्तर का पजर
(अधिक-से-अधिक किन्तु भूखा हो प्यार का)
निज मे का पाताली रेगिस्तान
प्रदर्शित करता है प्रतिपल ।
एक ओर जिन्दगी की आँतें सब

अन्दर की उभरकर
विदारित उदर मे से बाहर निकल
अति शोचनीय स्थिति मे यो
गयी है फैल-सी
ज्यो अति भीषण दुर्घटना का दृश्य हो
(जो रोज़-रोज दिखता है)
पूँजीवादी गाडी के वेगवान
लोहे के पहियो ने
मानव का पेट चीर
विज्ञानोन्नति की।
ज़िन्दगी के भयानक दृश्यो से सुपरिचित
रामू का गरीब मन
दुखते हुए फोडे पर
काँपते-से रक्त के लाल-गोल
उभरे हुए बिन्दु-सा
थरथराता रहता है।
सूखे हुए चेहरो की
पीडा से गम्भीर
आँखो मे झाँककर
नगण्य साधारण रामू के असाधारण हिय ने
मानवी पीडा के विषैले आसव के
लबालब भरे हुए प्याले को पी लिया।
गुजान जगलो के हरे-हरे
पौदो के (चुनकर)
ज़हरीले बीजो को भीचकर बनाये गये
काले-से काढे की-सी
मानवी पीडा को
पीना पडा तले से गले तक।
व्याप गयी प्राण मे
थरथराहट अबूझ ठण्ढी-सी!
आज भी कभी-कभी
किसी की स्थिति देख
काँपती हुई बर्फीली लहरो-सी थर्राकर
फैल-फैल जाती वह—
अपने वज्रानुभवो की यादो से जगकर।
क्रान्तिपथगामी किसी राजनैतिक बन्दी की
भूरी नगी पीठ पर
पशुओ का जोशभरे
चाबुक के प्रहारो से
खीची गयी त्वचा की उछली हुई

लम्बी-लम्बी रक्तांकित रेखाओं
के भिन्न-भिन्न रूप अरे ! जिस प्रकार
उस कारावासी के हिय मे
असह्य वेदना ने दी हुई चुनौती के
प्रतिशोध के
संकल्प बनते चले जाते है,
उसी तरह, ज़िन्दगी के आधुनिक
भालो की लाल-लाल
अगार-रूप लोहे के फल की तीखी नोक से
जन-जन का हिय दागा गया है।
सामन्ती घराने की जागीरदार
बूढी-सी सास ज्यो
स्वयं पिशाचिनी का प्रचण्ड रूप ले
विद्रोहिणी विधवा निज बहू की पीटी गयी
पीठ पर बैठकर
ज़बरदस्त हाथ मे
गरम-गरम लोहे की शलाका ले
पीठ दागती है, त्यो
बौनी परिस्थिति ने
भयानक दु स्थिति ने
रामू के जन-जन का हिय भी
पल-पल मे दागा है कि वैसे ही क्रुद्ध हो।
किन्तु उससे विद्रोह
रुकता नही। भयानक
वेदना से सिंचकर
बगावतें बढती ही जाती है।
रामू जानता है कि पूँजीवादी शक्तियाँ
जन-जन की छाती पर बैठकर
शासन के चाकू से
विद्रोहिणी बुद्धि की त्रिकालदर्शी आँखो को काटकर
निकाल लेना चाहती है।
किन्तु इन असफल प्रयासो पर सुविश्वास
करनेवाली आँखे ही उलटी है
कौडी की आँखे हैं कि जिनमे रेगिस्तान की
सफेदी चिलचिलाती है
जिसके कि बीचोबीच
घनीभूत रात की सियाही का घेरा है।
देखती नही है वे
कि सूखी हुई ज़मीन की परतो को तोडकर
भूकम्पो की भयकर वेगोन्मत्त गति से

जन-जन की कष्टजीवी
सर्वहारा शक्तियाँ
शोषको की दर्पोन्नत
सभ्यता के भव्यतम नगरो को अस्त-व्यस्त
छिन्न-भिन्न उद्ध्वस्त करती चली आती है।
दूसरी ओर भीतिग्रस्त होकर भी
अपने को मृत्युजय
समझने का घबराया-सा स्वाँग रच
(अपनी ही गली मे हो कुत्ते से शेर ये)
पूँजीवादी शक्तियाँ भयकर,
जन-जन को
दमन की फासिस्ती भट्टी मे झोककर
बनाया चाहती हैं वे
उनकी अस्थियो से श्वेत
आराम का फर्नीचर।
बीसवी सदी के इस पचासवे चरण के प्रयास मे
दमन के घनघोर तुमुल अन्धकार बीच
गगन मे उठते गरीबो के हाहाकार बीच
रामू के सोये हुए हृदय को
अवरुद्ध जीवन को अकस्मात् किसी ने
सत्य की शक्ति दी औ' हिम्मत की राह दी
पूँजीवादी झूठ के विराट् अत्याचार बीच।

(5)

बडे-बडे व्यक्तियो की नयी-नयी कुर्सियो का वार्निश सूँघकर
सजी हुई बैठको का वातावरण
अहर्निश सूँघकर
रामू का स्व-भान झख मारता, झीकता
चूँकि उसके कानो मे बसी हुई चीख थी
उसकी ओर कातर होकर
देखनेवाली आँखो का प्रतिबिम्ब
हिये के अकेले मे तैरता ही रहता था।
स्वय की, स्वकीयो की उदर की पूर्ति किन्तु
अनिवार्य कार्य थी
कि जिसके एक धक्के ने कर दिया था निर्वासित
बडप्पन की ऊँची दीवालो की
विषैली छाया के घेरे मे घिरी हुई
जमीन की रेत मे
बिखरे हुए गेहूँ के दानो को बीनने।
किन्तु यदि पूर्ण रूप से न वह दास हो सका

तो कारण यही था कि
मामूली व्यक्ति वह नगण्य टीचर था।
किन्तु हाय ! कर्ज़ के चट्टानी बोझ ने
पार्ट-टाइम सेवाओं की
टूटी हुई सीढियो पर चढने के लिए कर मजबूर
सजी हुई बैठको के द्वार तक
रामू को पहुँचा दिया आप-ही-आप।
दिन-भर की अर्थहीन मेहनत के अनन्तर,
पसारता था रामू के हिय मे
चिन्ताओं की ऊष्माभरी
अम्लमय भस्म की लम्बी घन परते
बुझता हुआ साँझ का अगारा चुपचाप।
सवेदन की मानसिक गूँजे किन्तु
कहा करती रामू के कान मे
ज़िन्दगी के पूँजीवादी शोषण की गाथाएँ।
उकताकर बहुत बार
आधे-भूखे उदर, हृदय, आत्मा के इस
प्रवचित जीवन से, सोच बैठता रामू कि
किसी तरह
सीढी-दर-सीढी
निज व्यक्तिगत आर्थिक क्षमता की हवेली पर
चढ जाना चाहिए
कि जिससे छुटकारा हो
दैनिक यन्त्रणाओ से।
किन्तु, इस विचार के उठते ही
उल्का-सा दूसरा भाव
टकरा जाता पहले से। ठहाका-सा मारकर,
चिढा मुँह, वही भाव कहता कि विद्यमान
गुँथी-बिंधी उल्टी-सीधी स्थिति मे
राजनीति, साहित्य और कला के प्रतिष्ठित महासूर्य
बडे-बडे मसीहा
सरकस के जोकर-से रिझाते हैं निरन्तर
नाचते है, कूदते हैं
शोषण मे सिद्धहस्त स्वामियो के सामने।
व्यक्तिगत आर्थिक निज
क्षमता की हवेली पर
सुखो की चाँदनी पर
तारो नीचे सोने के हेतु वे
नये बाथरूमो मे नहाने हेतु वे
चुपचाप आदर्शों को बाजू रख ग्रा भूलकर

अवसरवादी बुद्धिमत्ता ग्रहण कर
औ' ज़िन्दगी को धूल कर
बिलकुल बिक जाते है।
रामू ने अपनी लघु आँखो के सामने
बुरी तरह भागते हुए वीरो को देखा इन।
किन्तु फिर भी अपने सुखी जीवन का स्वप्न वह
अरे! भग नही हुआ।
लेकिन उसकी उपलब्धि
जन-जन की छाती पर ही चढ बोला करती है
आज के समाज मे
दूषित उपलब्धि तक पहुँचने के लिए भी
रास्ते टेढे-मेढे है
सवेदना की मानसिक गूँजे नित
रामू के खुले हुए कानो मे कहती हैं
कि यह चढते जाना है गोल-गोल
घुमावदार, चक्करदार
ज़ग-लगी पुराने लोहे की
ऊँची-ऊँची, सिकुडी-सिकुडी, छोटी-छोटी खतरनाक
बल खाती सीढियो पर
(व्यर्थ होती) आर्थिक ज़िन्दगी आज की।
बल खाते चक्करदार ऊँचे-ऊँचे
जीने पर चढते चले जाना है
कि जो चढनेवाले को देता है पहुँचा उस पुराने कमरे मे
कि बरसो से जिसकी धूल झडी ही नही है—
माना कि कॉट है
लेकिन उसके लोहे की टाँग टूट गयी है,
माना कि मोटी एक गद्दी है उस पर
किन्तु कुछ चूहो ने कुतरते हुए स्थान-स्थान
सूनेपन की बास से भरे हुए
कपास के गुच्छे-के-गुच्छे
ऊपर निकाल दिये है,
माना कि कमरा कुछ बडा है
खिडकी है कि जिसमे से दूर का
क्षितिज-दृश्य दीखता है अब भी,
किन्तु वह कमरा तो है भुतहा
कइयो ने किये वहाँ कामाचार, व्यभिचार
कइयो की कदाचित्
भीषणतम हत्याएँ हुई होगी वहाँ पर
अह, उदर और काम के
अनगिनत सर्ग और अध्याय

कमरे की वस्तुओ मे, भीतो पर
दीखते है लिखे हुए ।
बिक जाने पर भी यो
निम्न-मध्यवर्ग के लिए
यही कमरा निश्चित ही रिजर्व्ड है ।
मध्यवर्गी जीवन की पूर्तिहीन
उदासीन साँझ मे
घर लौटते हुए
व्यक्तिगत जीवन की भयानक प्राचीरो के पार मन
उड जाना चाहता है
अतिशय कठोर और सक्षिप्त
ज़िन्दगी के बाँझ मृत खल्वाट
क्षेत्रो की मर्यादाएँ तोडकर
स्वय की वास्तविक
सुकर्तव्य-भूमि पर पैर रखना चाहता है
सम्पूर्ण एकोन्मुख एकाग्र शक्ति से ।
सुबह की रेशमी रश्मियो के पलो से
तो साँझ के उस पूर्तिहीन उदासीन काल तक
प्रत्येक चरण पर
मानव के जीवन की
नाना-रूप, विविध-भाव
समस्याएँ नाजुक-से इशारो से
रामू का ध्यान खीच
कर्तव्यो की प्रेरणा जगाया करती रात-दिन
मानो कि रेगिस्तानी मैदानो की रात मे
काले आसमान की तारिकाएँ अनगिनत
चमकीले इशारो से
पथ-दर्शन करती हुई बुलाती हो पचास निज
अथवा किसी गाँव या नगर मे से
जाते हुए यात्री को
उसके आस-पास के जीवन के दृश्यो से
समस्या के जलते हुए तीव्र भाव
सूचित होते रहते हो
वर्तमान जीवन के व अपने कर्तव्य के ।
सुबह से लगाकर तो शाम की थकान
तक के काल मे
पूर्तिहीन मेहनत का ढोता हुआ भार वह
जीवन के दृश्यो मे प्रवास ही तो करता था
रामू का तन-मन
प्रभात से सन्ध्या तक ।

कर्तव्य के, सृजन के, सघर्ष के उत्साह की
अपनी बात कहने के भयानक दाह की
करता था पूर्ति वह
दुखती हुई पसलियो, थकी हुई पीठ औ'
अलसाये गात की
माँगो का गला घोट।
स्त्री के व बच्चो के सोने पर, रात मे
तारोभरी मध्यरात्रि बीच वह
कुत्तो की नाराज भौके सुनता हुआ
करता था काम वह
किन्तु कभी जबरदस्त नीद के झोके मे
गिरफ्तार होकर वह
पीली-लाल लौ की काली-काली जीभवाली लालटैन
के समीप लुढक जाता रामू था
पत्थर-सा, सिल-सा।
गरम-मिजाज किन्तु वह रामू की लालटैन
स्वामी को सोता हुआ जान औ'
केरोसीन की कमी देख
एक ही सपाटे मे भभक करके फक्-से जाती बुझ
विचारो के बुखार से ग्रस्त वह मस्तिष्क
(रात-भर उसी के सपने चलते रहते थे)
अफसोस के धुएँ से था जाता भर सुबह मे !
लहराता मस्तक मे अफसोस
ज़बरदस्त अफसोस
कूडे के ढेर मे लगायी गयी
आग के धुएँ-सा लहराता।
सुबह से ही अर्थहीन
कार्यो का दानवी लौह-यन्त्र
चलेगा तो साँझ की उस आखिरी सीमा तक
चलता ही रहेगा वह—
सुबह तो उठते ही खयाल यह—
'काम जो अधूरा है,
लोगो को भाई ! वचन दिये है,
कितनी कम है आत्मशक्ति, छि छि, थू-थू,
अमुक-अमुक बात अभी हुई नही,
फलाँ किताब अभी तक पढी नही,
        कैसे होगा ? क्या करेगा, रामू तू !'
फूटे हुए ढोल की
(बैठे हुए गले की-सी) मोटी ठस आवाज़
बार-बार, रामू के मस्तक मे गूँजती ही रहती है,

'कैसे होगा   कब होगा ?'
खुद को ही कोसता हुआ दिन-रात रामू भी
सभी तरह से सन्तप्त अभिशप्त जिन्दगी
के दृश्यो को देख
झख मारता, झीकता
किन्तु जब छुट्टी का, इतवार का दिन
यो ही बीतता बगैर किसी काम के
तो भीषण अफसोस के स्वरो मे बुदबुदाता वह
अपने-ही-आपसे
'गया व्यर्थ सारा दिन
मेहनती गरीब के असाध्य किसी रोगग्रस्त
क्षीणकाय किन्तु भोले प्यारे शिशु-सा
यह मृतप्राय दिन
गया बीत।
पहले से थी मरणासन्न
उसकी स्थिति डाबाँडोल।'
किन्तु वह नित्य उदासीन नही रहता था।
सुबह से तो शाम तक
चलते हुए काम की
पीली-भूरी मेहनती ज़िन्दगी
मे स्वाभाविक मृत्युजय वीरता—
सहानुभूति-करुणा के, धीर व्यक्तित्व के
गम्भीर चरित्र के दर्शन होते रहते थे,
पाकर जिन्हे रामू के नयनो मे छा जाती
पलको मे आँसुओ की पाँतियाँ
किसी गहराई की तल्लीनता की छाया मे पली हुई
जीवन की समस्त
चेतना के मानो मणि-कण।
जीवन के भव्यतम दृश्यो के दर्शन कर
रामू अपने मन को यो बतलाता
कि समझाता ही रहता है
'इतने सब कष्टो की
(लीलने को फैलती हुई)
काली-नीली जीभो के बावजूद,
ज़िन्दगी के विपर्यासो, वैषम्यो, अभावो के
कि दैत्याकार मर्कटो के व्यग्यमय
(खिडकी मे से झाँक मुँह चिढाते-से)
भयानक
जगली आँख, नकटी नाकवाले स्याह
चेहरो के बावजूद,

आधुनिक जीवन यह महान् है
जन-जन के उरो मे आज
सघर्ष का, साहस का सुनहला गान है
जन-जन के हृदय मे आज नया सूरज उगा है
कि जिसके सस्पर्शो मे
खिले है धरती की ज्वालाओ के नभचुम्बी शतदल
चमकते है गभीर युगान्तकारी
शक्तियो के अगारी सितारे
मानवीय सघर्ष के (काव्य के) सहारे।'

सुबह मे लगाकर तो शाम के किनारे तक,
फूलो के ताज़ा ओठो खिली मुस्कान-से
तो तारो के इशारे तक,
(रास्ते पर चलते अथवा कही पर
करते हुए मेहनत)
कष्टजीवी चिर-व्यस्त
रामू के सर्जनशील भाव चलते रहते है।
अन्दर, अन्त सलिला मे
अन्धता, उपेक्षा की बर्फ गलती रहती है।
खुली आँखो, खुले अन्तर घूमने पर,
मनुष्यो की धकधक करती प्राणमयी
चलती-फिरती दुनिया के कदमो को चूमने पर,
ज़िन्दगी मे हिम्मत का, ताकत का झरना झरता रहता है,
आत्मा गीली रहती है
(मस्तक मे घूमनेवाली) कथाओ से मानवी,
व दिल ऊँचा रहता है
विचारो की पताका-सा
व स्वच्छ रहता मस्तिष्क
प्रतिच्छाया लिये हुए मानव के रूप की।
रास्ते पर चलते हुए,
करते हुए मेहनत,
सुनहली आभाएँ फैलती है विचारो की धूप की।
चिर-व्यस्त रामू के
सृजनशील भाव चलते रहते है।
अपनी चिर-अनुभूति बने हुए
उद्वेगो से उठकर
आँखो मे तैरती है
सघर्षो के दृश्यो की पातियाँ,
खिलते जन-जीवन के नव स्वप्न लाख-लाख
धूल-रमी पलको मे रमते है।

रहे चाहे जहाँ भी नगण्य रामू यह—
निज को वह पाता है
स्थान पर कर्तव्यो के, सैनिक के-से कार्य मे
जन-सगर-प्रवेगो के कार्य शिरोधार्य मे
अपने को एकोन्मुख मग्न-सा पाता है
रास्ते पर चलते हुए,
करते हुए मेहनत,
पृथ्वी पर चलते हुए घोर
जन-सघर्षो मे
रामू निज को तदाकार सलग्न-सा पाता है
आँसू उठ आते गहन सहचरता के बोध से
कष्टजीवी जनो के
वे पावन अनेक चित्र
आँसुओ मे तैरते है कण्ठावरोध कर।
वर्तमान जीवन की दु स्थिति
गहरे जन-सघर्षों की
वेगवान गति के बीच मे
रामू खोज लेता है अपना स्थान।
अपना ही पुन शोध
रामू को होता है, होता है पुनर्बोध स्वय का!
उल्का-से भाव सौ
मन के आसमान मे
नीली द्युति चहुँ ओर आँककर
अति तीव्र गति से है गतिमान।
तूफानो-से छूटते है अभियान।
अर्राकर पुराने वृक्षो की सडी हुई
अजगरो-जैसी पृथु शाखाएँ परस्पर
पत्रो के प्रलयकर मर्मर मे भान खो
तने समेत
धडाम से यो नीचे गिर
प्रदर्शित करती है उद्ध्वस्त-सी वृक्ष-देह
सकेतिक करती हैं अन्त तक
लम्बे दु स्वप्न-से भयकर युग का
बडे-बडे दुर्गो की भयान्तकशील
भव्य दीवाले
लडखडाकर धूल का बवण्डर-सा उठाकर
मिट्टी के मटमैले (बौनी-सी पहाडी-से)
पराजित ढेर मे
हो जाती है परिणत!
अवरुद्ध क्रोध के सब सामूहिक सामाजिक

बाँध टूट जाते हैं।
शोषकों की भव्योन्नत सभ्यताएँ
माचिस की सीक से
जलाये कागज-सी जल उठती
ऐतिहासिक हाथो से ।
रास्ते पर चलते हुए,
करते हुए मेहनत,
ज्ञानशील वेदनामयी अनुभूति
तीव्र की कराह भर
रामू का तन-मन
चाहता है कूदना
कालान्तकारी उन ऊँची-ऊँची लहरो मे जिनके
नभोभेदी क्रुद्ध हुकारो से
नवयुग का समारम्भ गान बन जाता है
खण्डित मनस्तत्व
जुडते है नवीनतम
सशक्त व्यक्तित्व के सुनैतिक रूप मे ।
पुत्रो के हाथो से
पृथ्वी का भाग्य-चक्र चलता हुआ देखकर
माँओ के मुरझाये चेहरे खिल उठते है ।
कष्टजीवी जीवन के गहरे इतिहास-चित्र
कण्ठावरोधवाले आँसुओ मे
रामू की आँखो मे तैरकर
करते हैं समुद्विग्न जिन्दगी का कण-कण
भविष्य का सकेत
सूखे हुए सँवलाये चेहरे पर
अकुला उठता भयकर ।
ज्वालालोकित सपनो का फैलता है आसमान
रामू के अँधेरे मकान मे ।
हरहराते भावो के आँसूभरे मानवीय वेग मे
आत्म-बलिदान की कठोर प्रतिज्ञा कर
जिन्दगी का रास्ता
पूँजीवादी दानवो औ' मध्यवर्गी नपुसक मानवो
की वचना-नगरी से छिटककर
टूटे-फूटे घरोवाली सील-खायी
गलियो के अँधेरे मे
रहनेवाले आगामी युगो के स्रष्टाओ
के चौराहो पर मिलता है ।
बीसवी सदी के इस पचासवे चरण के प्रयास मे
जन-जन के दमन के काले अन्धकार बीच,

गगन मे उठते गरीबो के हाहाकार बीच,
रामू के सोये हुए हृदय को
अवरुद्ध जीवन को अकस्मात् किसी ने
सत्य की शक्ति दी,
औ' हिम्मत की राह दी
पूंजीवादी झूठ के विराट् अत्याचार बीच।

[रचनाकाल 1950। नागपुर। **भूरी-भूरी ख़ाक-धूल** मे सकलित]

जब तक ये है प्राण

जब तक ये है प्राण
तभी तक ताकत बाकी
मैदानी दिनमान—
कि चमके हिम्मत बाक़ी
हुकारेंगे प्राण
क्षितिज भी बोलेंगे सब
बदलेंगे निज भान
हमारे भूरे पथ तब
गूँजेगा नव ज्ञान
विकम्पित द्वारो मे से
महाक्रान्ति आह्वान
नमित दीवारो मे से
बरगद की सुनसान
छाँह-खँडहरो मे से
गलियो के तम-म्लान
अन्ध गह्वरो मे से
गूँजेगा वह भान
हृदय के विबरो मे से
भाफभरा अभियान
प्रवासी पैरो मे से
गरम धूल तब श्रेय
कि माँ के स्वर्णांचल-सी
धूप-सफेदी प्रेय
चम्पई वक्षस्थल-सी
बजर गजा शीर्ष

कि गोल राह-पत्थर का
उसमे आतुर हर्ष
नयी नीवो का थिरका
सूने पडे उदास
बिना छप्पर के खम्भे
उन पर बिछे अयास
कत्थई अम्बर लम्बे
फिर भी शेष भुजग
उठे चूल्हे पीछे से,
लिये मृत्यु के अग
अदेखे शोषक जैसे।
मार कुण्डली स्याह
सकटो की आघाती
डरपाते बेथाह
कि नयी बहू की छाती
खिडकी मे विक्षिप्त
सफेद बालो का सिर
आँखे नील विषाक्त
कि झाँके छाया धूसर
झाँके घर के अन्दर
शिशु-भक्षी दारिद्र्य
किन्ही सूने पहरो मे
करता मन उन्निद्र
बहू का हियरा थामे

क्रोधी वन-मार्जार
निकल बतलाती आँखे
विपदाओ की धार
काटती कोमल पाँखे
क्रोधी वन्य बिलार
मरण-दूती चिन्ता की
विपदाओ की धार
कि मन के पख न बाकी
यह बरगद अतिवृद्ध
कि ज़िन्दा पीर हमारा
पूर्ण तपस्या-शुद्ध
कि महामहिम बेचारा
यह तन-मन का आर्ष
कि शाखाओ मे झटके
काले व्याकुल वर्ष

गठानो बैठे सटके
फिर भी हिय नव-स्पर्श
कि हरा-हरा अगारा
आकर्षण-सा हर्ष
कि आलिंगन उजियारा
भगे भयानक वर्ष
कि कौओ का अँधियारा
फिर भी स्याह बिलार
घूमती शाखाओ पर
मरण-दूति अनिवार
आपदाओ की दुर्धर
देखती बहू—अपार
काँच-चमकीली आँखे
सफेद बाल उभार
कि डाइन घर मे झाँके !
विपदाओ की धार
कटे पखो के बिस्तर
पर सर्वांग उघार
राक्षसी देह सविस्तर
राक्षसी गात अनन्त
बुभुक्षा के भाग्यो के
फिर भी हम निश्चिन्त
अहन्ताओ के भूखे !

जब तक ये है प्राण
कि है गूँजे एकाकी
घर मे लम्बी म्लान
सान्ध्य छायाएँ बाकी
चाँद-धुले मैदान
कि हैं ठूँठो ने आँके
ढूहो पर निष्प्राण
चित्र तेरी आत्मा के
घुँघराले मीनार
खडे धूएँ के धूसर
अहमिति के अम्बार
टिका लघु तेरा अम्बर
तेरी लघु दृग-व्याप्ति
मे बँधे जितनी दूरी
उसकी वही समाप्ति
कि यो अनन्तता घूरी

किन्तु उठे मैदान
सुनहले लम्बे भूरे
आसमान के प्राण
कि घास गन्ध से पूरे

शक्तिमान अम्लान
स्वप्न के विशाल जग-से
धूप-सुनहले गान
प्रगति के, जय के मग-से
उन्हे देख, मन हुआ
चपल, द्रुत बढते पग-सा
आकुल जीवन हुआ
आक्रमणकारी खग-सा
मगोली दुर्दान्त
एशियाई शहरो पर
लिये पठारी कान्ति
धूल रमते चेहरो पर
आभाओ का जाल
विश्वबिम्बो की माला,
उष स्वप्न की लाल
युगान्तरकारी ज्वाला।
खिला गुलाब अनूप
शक्ति के मानव-अन्तर।
निखर उठी है धूप
मुक्ति के उद्धत मुख पर।

कहता एक सप्रीति
मित्र जीवन का, मन का
अन्धकार की भीति
आपदा की आशका
त्यागो, हे, शुचिकीर्ति।
व्यथा के गहरे जाले
काले चिन्ता-गीत
कुतर्कों के रखवाले
दूर करो अपुनीत
भाव सकट के भयकर।
जीवन के विपरीत
कल्पनाओ के निशिचर
शिशु-भक्षी दारिद्र्य
झाँकता यद्यपि घर मे

वक्ष यदपि है विद्ध
प्राण रहते हैं भरमे
निकला हुआ कपास
कि फटी रज़ाई से ज्यो
(जिसकी मैली बास
अभावो की दुलहिन हो)
चित्र जीवन का प्रिये
तुम्हारे हिय मे वैसे
कैसे आशा जिये
उतरकर दलदल मे से ।
ओ गृह-गृह की ज्योति
न हो उद्विग्ना मलिना
री, जीवन की स्फूर्ति
कि गहरा कुआँ न बनना
चूंकि सर्वाधिक त्रस्त
दबायी गयी तुम्ही हो
धरो क्रान्ति का हस्त
कि तुम जन-पथ मे आओ
सन उन्नीस सौ पचास
यद्यपि लाया है मैली
सकट ही की साँस
भयानक जीवन-शैली
फिर भी जन-सघर्ष
क्षुब्ध आशा का चुम्बन
महाक्रान्ति का हर्ष
लोक-जीवन-आलिगन
एकमात्र अवलम्ब
कि काल तुम्हारा सहचर
विश्वक्रान्ति के बिम्ब
तुम्हारी दीवालो पर
उठे स्फुलिग सुनील
कि करुण लोरियो ही से
उडे विहग सलील
लक्ष्य के प्यासे-प्यासे
नगी है तलवार
चमकती हुई किरण-सी
एक तुम्हारा प्यार
प्रेरणा का उच्छ्वासी
सन उन्नीस सौ पचास
नही है उदास इतना,

बोलो तुम कि सहास
करोगी प्रयास कितना !!
महामुक्ति-सघर्ष
भयानक अग्नि-प्रक्रिया,
मुसकाया आदर्श
चमकती हुई बिजलियाँ !!
प्रेरणा-किरण-समुद्र
कि नयी दिशा का आँचल,
आलोको का केन्द्र
क्रान्ति का ज्वलन्त शतदल !!
मानव का एकेक
शत्रु मारो तुम जमके
गृह का विश्व-विवेक
बहू के हिय मे दमके

[रचनाकाल 1950 । नागपुर । अप्रकाशित]

कहते हैं लोग-बाग

कहते है लोग-बाग बेकार है मेहनत तुम्हारी सब
कविताएँ रद्दी है।
भाषा है लचर उसमे लोच तो है ही नही
बेडौल है उपमाएँ, विचित्र है कल्पना की तसवीरे
उपयोग मुहावरो का शब्दो का अजीब है
सुरो की लकीरो की रफ्तार टूटती ही रहती है।
शब्दो की खड-खड मे खयालो की भड-भड
अजीब समाँ बाँधे है !!
गड्ढोभरे उखडे हुए जैसे रास्ते पर किसी
पत्थरो को ढोती हुई बैलगाडी जाती हो।
माधुर्य का नाम नही, लय-भाव-सुरो का तो काम नही
कौन तुम्हारी कविताएँ पढेगा

बाते ये सुनकर
पुराने खयाल कुछ मन मे घिरे आते हैं
झुलसी हुई झाडियो के, कटे हुए ठूँठो के
(कभी रहे) जगल की वीरानी मे एक ओर

मरी हुई गाय की झाँकती हुई अधखुली ठठरी
पर छायी है सफेद धूप
वीरानी की मुसकान लिये है आसमान
जिसके बिलकुल बीचोबीच
मरी हुई गाय की ठठरी को देखती हुई
मँडराती चीले है । असख्य गिद्ध
उड आकर कही से
है घेरे बैठे मरी हुई गाय को
खडे हुए पास एक झुलसे हुए
वक्र-शाख सूखे हुए ठूँठ पर
बैठे हुए गीध वृद्ध
मरी हुई गाय का तमाशा देख रहे है ।

भयानक वीरानी का, घनघोर नि सहाय भाग्य का
भयकर मानव-उपेक्षा का, दुष्टता के हाथो
व्यथा की आपदा की गहरी उस झनकार का
कि जो रीढ की हड्डी मे चमकती है
रगो मे सृजन की वेदना-सी काँपकर !!
देखता हूँ जीवन का यह दृश्य कि वही
उभर आती है, मरी हुई गाय की, गिद्धो की,
उडती चीलो की
वीरानी की तसवीर !!

[सम्भावित रचनाकाल 1950-51 । नागपुर । अप्रकाशित]

मेरे जीवन की

मेरे जीवन की धर्म तुम्ही—
यद्यपि पालन मे रही चूक
हे मर्म-स्पर्शिनी आत्मीये !

मैदान-धूप मे—
अन्यमनस्का एक और
सिमटी छाया-सा उदासीन
रहता-सा दिखता हूँ यद्यपि खोया-खोया
निज मे डूबा-सा भूला-सा

लेकिन मै रहा घूमता भी
कर अपने अन्तर मे धारण
प्रज्ज्वलित ज्ञान का विक्षोभी
व्यापक दिन आग बबूला-सा
मैं यद्यपि भूला-भूला सा
ज्यो बातचीत के शब्द-शोर मे एक वाक्य
अनबोला-सा।

मेरे जीवन की तुम्ही धर्म
(मै सच कह दूँ—
यद्यपि पालन मे चूक रही)
नाराज न हो सम्पन्न करो
यह अग्नि-विधायक प्राण कर्म
हे मर्म-स्पर्शिनि सहचारिणि!

था यद्यपि भूला-भूला-सा
पर एक केन्द्र की तेजस्वी अन्वेष-लक्ष्य
आँखो से उर मे लाखो को
अंकित करता तौलता रहा
मापता रहा
आधुनिक हँसी के सभ्य चाँद का श्वेत वक्ष
खोजता रहा उस एक विश्व
के सारे पर्वत-गुहा-गर्त
मैने प्रकाश-चादर की मापी उस पर पीली गिरी पर्त
उस एक केन्द्र की आँखो से देखे मैने
एक से दूसरे मे घुसकर
आधुनिक भवन के सभी कक्ष
उस एक केन्द्र ही के सम्मुख
मै हूँ विनम्र-अन्तर नत-मुख
ज्यो लक्ष्य फूल-पत्तो वाली वृक्ष की शाख
आज भी तुम्हारे वातायन मे रही झाँक
झुक फैली मीठी छायाओ के सौ सुख!

मेरे जीवन की तुम्ही धर्म
यद्यपि पालन मे रही चूक
हे मर्म-स्पर्शिनी आत्मीये!
सच है कि तुम्हारे छोह भरी
व्यक्तित्वमयी गहरी छाँहो से बहुत दूर
मै रहा विदेशो मे खोया पथ-भूला-सा
अन-खोला ही

वक्ष पर रहा पर लौह-कवच
बाहर के ह्रास मनोमय लोभो लाभो से
हिय रहा अनाहत स्पन्दन सच,
ये प्राण रहे दुर्भेद्य अथक
आधुनिक मोह के अमित रूप अमिताभो से।

[अपूर्ण। सम्भावित रचनाकाल 1950-51। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

तुम निर्भय

तुम निर्भय, ज्यो सूर्य गगन मे
अन्तहीन आकाश रौंदता
एकाकी, कटु, तीव्र, विलक्षण।
तुम निर्भय, ज्यो सूर्य गगन मे।

यह अन्तिम है मलिन आवरण
इज्जत नाम, प्रतिष्ठा प्यारी
यह प्राचीन समय की छाया
त्याग, जन्म लो नूतन युग-सा।
तुम निर्भय, ज्यो सूर्य गगन मे
सदा कर्मरत, भूमि-गर्भ मे
रसास्वाद जीवित चीटी-सा
और हाथ प्राचीन वृक्ष उस
बरगद की शाखा है विस्तृत
जिस पर झूल रहे हैं कोटर
विहगो के सपनो से गुजित।

एक सिर्फ ईमान, सूर्य का भ्राता
मधुर चाँद का जोशीला पति
एक सिर्फ चिर-कर्म, असख्य—
जनो की प्रीति और उसकी ही गति।

यह तेरी है स्फूर्ति, सूर्य-सी निर्भय
मधुर चाँदनी-सी शीतल अति

चिनगारी-दल-सी नि सशय
झरने-सी चिर कर्ममग्न गति ।
तुम निर्भय, ज्यो सूर्य गगन मे
तुम नि सशय, लाल क्रान्ति-से
तुम ईमान, असख्य जनो के
क्षण प्रतिक्षण के श्वास-अग्नि से ।
तुमको दुख क्या, तुमको सुख क्या ।
एक हाथ के वज़नदार तुम

बने हथौडा, लोहे की सब
आकृतियो के तुम निर्माता ।
तुम कठोर वास्तव के सर्जक
तुम्ही प्राकृतिक के नव-स्रष्टा ।

लोहे-सा ईमान हृदय मे
लाल हँसी मुँह पर लाता है ।
पृथ्वी-गर्भ-अभेद्य शिला-सा
वक्ष, सुदृढ आश्रय-त्राता है ।

[सम्भावित रचनाकाल 1950-51 । **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

उठ ओ विजड़ित

उठ ओ विजडित ! जाग अचेतन
बर्फीली निद्रा के बन्धन
तोड, जाग, उठ अरे, अग्निकण ।

मानव आज अकेला पाता
अपने को अपने ही सम्मुख
उसे कहाँ चाहिए बहुत सुख
किन्तु भग्न मिज़राब हुई है
जिस पर साधे था निज का स्वर
दोष कहाँ उसका ? दानवता—
भी है, एक नियम औ' एक ज़रूरत
जिसके जीवन-चन्द्र-बिम्ब पर

एक लगा दी काली झालर
दानवता मोहक बन आयी
दानवता मानव के सुन्दर—
रूप-रग-गुण-वाणी लायी
जो मानव थी प्रथमोदय मे
वह दानव हो उठी विजय मे
दानव मानव की श्रद्धा है
जब वह घिर जाती अपने मे
घिर जाती अपने सपने मे ।

ऐसा मानव, प्यारा मानव
सुख-दुख से पथहारा मानव
ईर्ष्या-द्वेष-घृणा-लज्जा को
दबा हुआ गति-हारा मानव ।

मानव के अन्तर मे घिरती
कितनी ही काली छायाएँ
कई बाहरी और आन्तरिक
बढती चलती है मायाएँ ।

मानो वटवृक्षो का कानन
जिसके नीचे छायाएँ घन
किन्तु ज़रा पत्तो के हिलने से—
प्रकाश भी नचती तत्क्षण ।

वैसे, मानव का अन्तर, मन
जो बरगद-सा सूर्यस्नान कर
मानव, अपने अन्तर मे तो
रह जाता है अन्धकार भर ।

[सम्भावित रचनाकाल 1950-51 । **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित

तुम्हारी असलियत

तुम्हारी असलियत की सगदिल खूँखार छाती पर
हमारी असलियत बेमौत हावी है ।

तुम्हारी मौत आयी है
हमारे हाथ से होगी,
सुलगते रात मे जगल, लपट-से लाल,
गहरा लाल काला आसमाँ भी है
कि जिससे धुल उठे मैदान
जिससे खिल गये इन्सान के चेहरे
कि जिससे रँग गयी सडके
हमारे नूर का तडका
जमी का पासबाँ भी है
सहर-सा फूल उठता है सियाही मे
हमारी जिन्दगी का दहकता ईमान
गहरा इकिलाबी है।
तुम्हारी रात के जगल (जहाँ खूँखार चीते हैं
जहाँ खुदगर्जियो के जुल्म के भालू
जहाँ इन्सान के दुश्मन भयानक भेडियो की फौज फिरती है
हमारे खून की प्यासी शिकारी सिपहसालारी
जहाँ सरमायादारी के विषैले साँप का फुफकारता है फन
जहाँ आराम से खाते
किसी का मास बूढे गिद्ध
जैसे ब्याज पर ही सिर्फ जीते हो)
तुम्हारी रात का जगल हमारी आग मे जलकर
जहन्नुम खाक होगा ही
तुम्हारी मौत आयी है
दरिन्दो, अब तुम्हारी वारदाते आफतो के ज़लज़लो मे
उघड उठती, चीख उठती है।।

हमारा गाँव जागा है,
हमारा शहर जागा है, अरे! शैतान के पिल्लो!
हमारे घरो से उठकर ये कडुए धुँएँ के घेरे
भयानक चक्करो मे बाँध तुमको फेंक देगे ही
सियाही के तबाही के समुन्दर मे
जहाँ से (डूबकर) फिर उठ नही सकते!
इन्सान के दुश्मन!
हुए नाखून फौलादी तुम्हारे सेलुलाइड के
ज़मी पर हर तरफ चक्कर लगाते खोज के
खूँरेज़ खाकी भूत बेचारे
पुराने चीड के कमजोर खोखे के।
तुम्हारी नाल की आवाज़—
(वह नाराज़ बूटो की) सुबकती है उफक के साँवलेपन मे।
वही बारूद की बदबू तुम्हारे जिस्म पर बहते पसीने से

उठी है थामकर दीवाल पस्ती की गिरस्ती की ।
मुआ घोडा बडी बेचैन बन्दूको तमचो का
मुरझकर ज़ग खाकर रह गया अकडा ।
लिहाजा खुदकुशी बाकी ।
तुम्हारी मौत आयी है ।
रगो की गटर मे अब तारकोली स्याह
मैला खून बहता है,
कि चट्टानी तुम्हारा दिल
हुआ दलदल हुआ दलदल
सुबकती स्याह हस्ती का बडी नाराज़ पस्ती का ।
तुम्हारा उलटकर बुर्का, सितारो ने बडे ही ध्यान से देखा
तुम्हारी ये निगाहे लाल औ' खूँखार हो, लेकिन
भटकती और भेगी है ।
हमारे छप्परो मे फूस के भूरे
लगा दी आग जो तुमने
तुम्हारी मौत की लपटें हुई दिल मे ज़माने के
उसी से सुर्ख है सूरज
उसी की धधकती किरने बनी है धूप दिन की यह ।
तुम्हारी ताकतो की वर्दियाँ खाकी सुलगती है
हमारी तेज़ गरमी से
सगीने बिचारी टूट जायेगी अखीरी एक झटके मे
तुम्हारी नीमजाँ तकदीर की लाली
थकी जमुहाइयाँ लेती
उसे अब नीद आयेगी
बडी खामोश बेहोशी रहेगी और छायेगी
तुम्हारी मौत आयी है, हमारे हाथ से होगी ।

[सम्भावित रचनाकाल 1950-51 । **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

तम छायाओं को

तम छायाओ को पसारती दीवारो को
घेरे मे तुम मानिनि मानवि,
लकडी की छडवाली खिडकी से ठण्डा उदास आता है
गलियो का मटमैला धुँधला-सा अन्दर प्रकाश आता है

मुझ पर से विश्वास उठा, निश्वासो मे भर
मैं न हो सका प्रखर-किरण रवि

सत्य कि मै सफेद दीवारो के नव-गृह की
अभी नीव भी डाल न पाया
धँसती छाती पर पहाड के भार निरन्तर
पसली की अस्थियाँ दबी अपने ही अन्तर
सत्य कि मै अपनी निर्झर गति की महानता
शिशु-स्वप्नो-सी पाल न पाया ।

किन्तु सत्य है प्रिये, (प्रिया कहते ही तत्क्षण
छाती मे होती है धक धक)
क्योकि न न्यायोचित, सबोधन पूर्ण रिक्त है
छिन्न दुर्ग का सिंहद्वार यह व्यथासिक्त है
किन्तु सत्य है प्रिये, यद्यपि निज भौतिक जीवन
पाया मै न सुधार, किन्तु मै अनथक ।

लोहे के उस श्याम, सफलताओं के गज़ से
जीवन की चादर के थानो को
दुनिया क्या मै भी न मापता ही रहता हूँ ?
देख-देख मै क्या न काँपता ही रहता हूँ ?

[सम्भावित रचनाकाल 1950-51 । **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

बहुत दिनों से

मैं बहुत दिनो से बहुत दिनो से
बहुत-बहुत-सी बाते तुमसे चाह रहा था कहना
और कि साथ-साथ यो साथ-साथ
फिर बहना बहना बहना
मेघो की आवाज़ो से
कुहरे की भाषाओ से
रगो के उद्‌भासो से ज्यो नभ का कोना-कोना
है बोल रहा धरती से
जी खोल रहा धरती से

त्यो चाह रहा कहना
उपमा सकेतो से
रूपक से, मौन प्रतीको से

मैं बहुत दिनो से बहुत-बहुत-सी बाते
तुमसे चाह रहा था कहना !
जैसे मैदानो को आसमान,
कुहरे की, मेघो की भाषा त्याग
बिचारा आसमान कुछ
रूप बदलकर रग बदलकर कहे ।

[सम्भावित रचनाकाल 1950-52 । नागपुर । अप्रकाशित]

हे कविते, हे मर्मज्ञे !

मैं एक डोर का छोर पकड
अधबीच चढ रहा हूँ पहाड
औ' उसी डोर का सिरा थाम
तुम ऊँचाई पर कही आड
मेरी आँखो की ओट, सोचती हो यही कि
यह कैसे आ पायेगा रखकर पैर ठीक ! !
मैं मात्र पकडकर एक छोर
चढता ही जाता हूँ पहाड
खाई के अँधियारे जबडो मे गिरफ्तार
नालो की अकुलाती पछाड
दिन-रात सुनायी देती है
सैकडो फीट नीचे सुदूर
दिख रहे पाशविक अँधियारे
काले काकुल जमुहाई के ! !
घुटने फूटे, सर टकराया
पर ऊपर के आकर्षण से
सब पग सम्हले अपने जी के ! !
जिस एक डोर का छोर पकड
अधबीच चढ गया हूँ पहाड
उस एक डोर का सिरा थाम
यद्यपि तुम गिरि पर कही आड

रह मुसकाती
ज्यो लाल शाम
छायी शिखरो पर सभी ओर
मैं मात्र पकडकर एक छोर
डोरी का,
चढता हूँ पहाड
सब मेरा वज़न सँभाल तुम्ही
हँसती हो गिरि पर कही आड
मै किन्ही धीर
विश्वासो को ले चढा किन्तु
जबडे बेशक है खुले हुए
नीचे अँधियारी खाई के

हर बार नहाता आया हूँ
अपने भीतर रस-स्रोतवती
मीठी ज्योति सरिताओ से
फिर तुम आत्माओ की आत्मा
यदि निकली हो मेरे जी से
तो हे कविते, हे मर्मज्ञे
परवाह न कर मेरी कुछ भी
उन कठिन परीक्षाओ मे जल
यदि हुआ राख मै सचमुच भी
फिर भी मेरा अभिमान तुझे
तेरा आकर्षण मुझे सदा
बस इसीलिए—
जिस एक डोर का छोर पकड
अधबीच चढ गया हूँ पहाड
उस एक डोर का सिरा थाम
मुसकाती हो तुम कही आड
ज्यो विराजिता है रश्मिमाल
की वरमाला-सी लाल श्याम
गिरि-शिखरो पर।

[सम्भावित रचनाकाल 1950-52। नागपुर। अप्रकाशित]

बड़े वेग से चला रही है

बडे वेग से चला रही है
लौह् चक्र मन-प्राण-बुद्धि के
स्याह् स्टीम-रोलर जीवन का
सुख-दुख की ककर मिट्टी को यकसाँ करके
एक रास्ता बना रही है युग के मन का
यह् युग-मन पीडा का मन है
मन की धरती मे पत्थर की खदान पर चोटे है कट्टर
सभी हथौडे एक ताल पर काट रहे चट्टान निखार
गिट्टी-गिट्टी हुई इकट्ठा
किया हठी बन मैने अपने मन को कट्ठा
हृदय-प्राण की टोकरियो मे भर-भरकर हम
मानव-अनुभव की यह गिट्टी फैलाते हे
औ' विचार-पथ बनता बढता ही जाता है।
ओवरसियर समय भी सिखलाता है—
कर्तव्यो मे कट्टर रहना।
अग्नि-परीक्षाओ के गहरे औज़ारो से
मन की जमीन खोदी जाती है
औ' ढेले तोडे जाते है, क्या कहना!
इस रास्ते की लम्बाई को
माप रहा है आसमान
अपने प्रिय ज्योतिर्मय फीतो की लम्बाई से
इसी कर्म-पथ पर मिलती है
बडी पसीने से तर छाती भाई की अपने भाई से
इस जीवन-पथ पर अकुलाकर भभक उठा है
दहक उठा है दूर क्षितिज वह
और क्षोभ के अगारो के सहस्रदल-सा
दमक उठा है ज्वालामय सरसिज सूरज वह।
इस रास्ते पर धरती के पोरो की गरमी
पुरुष-वक्ष की शक्ति-गन्ध-सी महक उठी है
गरम-गरम सूरज के फावे
टूटी हुई हाथ की हड्डी
मोच पाँव की
मोच शहर की, मोच गाँव की
जब श्रम की सुगन्ध उठती है
तभी महकती है आत्माएँ
मुक्ति, खोल निज द्वार
देखती हैं सब ओर

किस मिट्टी मे मुग्ध हरी चम्पा का सौरभ मिला हुआ है।
काल-क्षितिज से उठी साँस की आँधी-सा
अकुलाता जीवन-ज्ञान
यहाँ पर महक रहा है
और हृदय की प्यासी-प्यासी धूल
सुगन्धित होकर
ज्ञान-कर्म मे तपे पहाडी जीवन-मैदानो मे प्यारी उमग रही है।
नया प्यार अब युवा हुआ है
अब आलिगन मे धरती की सुगन्ध गहरी बौरायी है
अब चुम्बन मे भी धरती की गरम-गरम माटी का गहरा स्वाद बसा है
औ' होठो पर आसमान की शीतल ओस सरस वासन्ती अकुलायी है
आँखो के आँसू मे डूबी छवियाँ जीवन की, अपनो की
भाई-भाई एक हुए है
कष्टग्रस्त मुख-मुख पर जीवन-आस्था के अभिषेक हुए है
बालक-सा मुख मन का, उसने
सरल मचलकर ठूँस दिया है शीश स्वय का
स्नेह-सुगन्धित प्यारभरी गोद मे सहज ही।
जीवन-अनुभव श्यामल
माँ के आनन की झुर्रियाँ हँस पडी
जीवन-अनुभव ताम्र
पिता का दीर्घ
हाथ आशीष दे रहा।

[अपूर्ण। रचनाकाल 1950-52। नागपुर। अप्रकाशित]

कवियों का पाप

किन्तु न कर पाये दर्शन
उनके अन्तर की अगारो की वन्या का
हम रहे देखते
मौन वनान्तो के एकान्तो मे किसान
की कन्या का
सन्ध्या के केसर-जल से लाल स्नान!
हम नही देख पाये लुहार का श्याम देह
जिसके लोहे की पाँतो से
फिरते गाडी के चक्के, पथ की उठा खेह
पर देखे है
वन के सुदूर पर्यन्तो मे सौ हरे मेघ

वे घनीभूत शत वृक्ष-शिखर
(कच्चे पथ पर की घनी धूल
से जो हो जाते है धूसर)

प्राकृतिक चित्र-रेखाओ से अकित विशाल
चित्रो के स्वाभाविक प्रसार—
मे देखे है हमने रोमेटिक निज-विचार
शाखाग्रो पर झूलते फूल-दल मे चचल
हमने देखे है कपोल, झम्पर, अचल से खयाल
हम देख नही पाये कोमल
प्राकृतिक मधुर सौन्दर्य सरल
जीवन को परख नही पाये
मानव को देख नही पाये
पर स्वप्नो मे दिखते रहते
ये गोरी बॉहो के मृणाल
कर आदर्शो की कविताएँ
जीवनस्पर्शों से बचने हम।

[अपूर्ण। सम्भावित रचनाकाल 1951-52। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

तुम्हें विश्वास होगा क्या

तुम्हे विश्वास होगा क्या
कभी जब रात के ठण्डे अँधेरे मे
सितारे धुन्ध की धुँधली चमकती
आसमानी धूल फैलाते
छुपी धक्-धक् हृदय के कूल फैलाती
हवा के आँचलो से गन्ध झरती है
हिये के शान्त कुहरे मे
तभी
अचानक ऑख खुल जाती अजानी बेकली लेकर
हवा के आँचलो से गन्ध झरती है
हिये के मौन कुहरे मे।
कपूरी सॉस छा जाती
तुम्हारी याद आती है
तुम्हारी याद!

तुम्हे विश्वास होगा क्या?
कभी जब रात के ठण्डे अँधेरे मे

सितारे धुन्ध की धुँधली
चमकती आसमानी धूल फैलाते
छिपी धक्-धक् हृदय के कूल फैलाती
वनो के वक्ष खुल जाते
वनो की आँख खुल जाती
तुम्हे विश्वास होगा क्या ?
नदी के पार जगल मे
सियारो की थकी-सी भौक की गूँजे
अकेलापन अधिक दुर्वार करती है ।

[सम्भावित रचनाकाल 1951-52 । **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

जीवन के कर्तव्यों से

जीवन के कर्तव्यो से तू कभी न डर
हे पक्षिराज,
कानन की छायाभरी आत्मे,
वृक्षो के हिय मे के स्वर,
पल्लव-जालो के तले भूमि के श्यामल रन्ध्रो से निकली,
स्वप्नो-आलोको मे बही सुरभि भू-हिये पली।
तेरे तरु के तल से निकली, तेरी शाखा के नीचे से
हे पक्षिराज, दुर्दम सफेद पखो से आकृत कोमलता
क्यो आज हुई बेचैन, उठी क्यो डोल प्राण की स्थिर सत्ता
तू कर न उसे इनकार, दबा मत उसे, न उससे डर
भू के रन्ध्रो से उठी सुरभि, वह पुकार, हिय का परस अमर
तूने अम्बर मे खीची थी जलती लकीर गहरी-गहरी
अब तेरे उर मे खिंची सुरभि की रेखा गहरी दु सहरी
हे पक्षिराज, तेरे कर्तव्यो की पुकार तुझ में दुर्भर ।

यह है नूतन कर्त्तव्य
प्रेम की क्रान्तिमयी भूमिका हिये-बाँधी
तू अपने पखो से दुनिया कर ले आधी
आगामी दु खो-कष्टो से हे पक्षिराज, तू कभी न डर
हे नदी तीर के खुले-खुले नीले दृश्यो के खग-नायक,
महापर्यटक, नाना भूमि-शैल-क्षितिजो के उर-शासक
हे विविध देश-वक्षो के नतमुख सुरभि-अनुभवी हे भोक्ता
उड्डीयमान हे महाशक्ति के प्रतीक, पथ-पथ के ज्ञाता

गलियो के सॉवले घरो मे, कुटी-कुटी मे, रास्तो मे
सोये जन-जन के सपनो, हिय-उद्ध्वस्तो मे
तुम स्वर्ण पख से भरो वेग उस आसमान मे उठे पक्षि उड्डीयमान,
विश्वास-शक्ति के भव्य प्राण।

है वृक्षराज निस्तब्ध शान्त गहरे शाखा-पल्लव मे स्थिर
यह कानन छाया तन्द्रा मे डूबा, ऊँघा यह विश्व प्रखर
कानन-आत्मे, प्यासी ऑखो-सी कोमलते, निज की सत्ते
तू किन आग्नेय प्रक्रियाओ मे बहते-बहते वेदन-वृत्ते
हो गयी मधुर आलोक-स्मिता !
भू का सौरभ, तरु -मूल-रोम-कम्पन, भरता हिय मे जागर।
हे पक्षिराज तुम आज स्नेह, जब भूमि मॉगती है ममता
हे महाशक्ति के प्रतीक, नव उन्मुक्त प्राण के स्वप्न-मूर्ति
अब बनो मधुर उद्दाम स्फूर्ति
वह विश्व बॉधती हुई एक गति-रेखा की गाती सत्ता।

[अपूर्ण। सम्भावित रचनाकाल 1951-52। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

उपकृत हूँ

हे प्राणो के सहचर
जीवन के झरने के तल की बालू भरी ज़मीन
तुरत उठ आती ऊपर—
अपनी खुली-खुली आँखो मे
ज्यो यथार्थ निष्ठुर उठ आता,
मन के सारे कोमल सपने छीन।
कि एक निष्कलुष वास्तव सीमाहीन
कि बालूभरी जमीन रुपहली आत्मवचनाहीन,
तुरत उठ आती ऊपर,
धुँधले दैनिक मपनो के सब
कट जाते नीले जल के थर।
छू लेती जब तेरे मन की माया
मेरा जीवन-कूल,
हृदय मे उठ आती है
बालू भरी ज़मीन रुपहली

अन्त सरिता-तल की।
पल मे स फ भाफ होकर
उड जाते
भावो के कृत्रिम सर और सरोवर।
केवल अन्त प्रकृति स्वच्छतर
अपने पूर्ण रजत वास्तव मे उठ आती
एक कठोर सहज उत्तर-सी।
हे प्राणो के सहचर,
मेरे अन्तर के, प्रकाश-विह्वल पृथ्वी के
चारो ओर घूमनेवाले हे कोमल ग्रह!
साथ-साथ रवि-पथ पर चलनवाले साथी!
कितनी मूल्यवान है तेरे
प्रगतिमान तन-मन की छाया,
कितना मूल्यवान, जो तेरी
मीठी मुस्कानो के पीछे निष्ठुर व्यग्य समाया,
जिसकी छिपी-छिपी चोटो से
फट जाती धुँधले सपनो की माया।
भयकर आत्म-वचनाओ ने
झिलमिल चिलमन उतार डाली,
स्नेह-मधुर आदर्शवाद ने अपने गोपन
काले गह्वर उघार डाले!
इनके अन्तर अन्तराल मे
क्षुधित अह के तृषित व्याल-कुल
चलते रहते नीरव ओझल!
शब्द मात्र है गान मात्र,
किन्तु न उनका गायक पूरा, क्रान्ति-मनस्वी।
सहज यश-अर्जन भी कितनी घोर वचना!
अपने प्राणो का दैनिक उत्सर्ग कठिन है!!

हे प्राणो के सहचर!
केवल एक व्यग्य से तुमने मेरे मर्मस्थल मे
कितनी कठिन यातनाओ के गहरे अर्थ भर दिये,
मानो सारा विश्व मिल गया मुझे एकदम।
और खुल गयी तहे मानवी छुपे मर्म की।
कुटिल प्रश्न के कठोर उत्तर-सी निर्भय हो
राहे भी चल पडी हुलसती सर्व दिशाओ मे।

[रचनाकाल 1950-55। नागपुर। **कविताएँ-58** मे प्रकाशित]

सूरज के वंशधर

प्राणो मे समूची नव-भक्ति से, शक्ति से उठा ले
नये विश्व-सकल्प का नया-नया गुरु भार
बहुत भारी होता है जीवन का सार, मित्र,
बुलाती-सी चमक सुदूर के सितारो की
अँधेरे मे डूबे तुझसे माँगते जवाब है
अँधेरे से अँजोरे मे निकल चल !
गहरी डूबी चमकती है तालाब मे चाँदनी की ज्वालाएँ प्राणो मे
विश्वास की, प्रेरणा की, उद्‌बोध की भावोज्ज्वल
हृदय की गहराई मे बसी हुई चाँदनी की
लपट को ठुकरा मत
झुठला न प्राणवेधी चाँद को कि मानव के लक्ष्य को
प्राणो के अँधेरे मे खेलती हुई ज्वालाएँ
आँखो मे चाँदनी की लौ बनी हुई हो ! !
कि जिनके इशारो से दूर के सितारो को जवाब दे,
जीवन के लक्ष्यो को तू मानवीय सन्ताप की आब दे !!
भारतीय अँधेरी गहरी-गहरी गलियो मे आजकल
भयानक सर्दी की काली-काली राते है व
उनके किनारो पर
ज्वालाएँ लाल-लाल कि धधकते जल रहे
विद्रोह के अगार !
जिन्दगी की धज्जियो से बनी हुई कुटियो मे लोग-बाग
ठिठुरते प्राणो को
तापते हैं रात-भर
आत्मा मे भरते है ऊष्मा की किरणे
औ' प्रकाश के अग्निफूल,
मुस्कुरा उठते है सूरज के वशधर ! !
भारतीय अँधेरी गलियो मे चमकता है चाँद भी,
घनी-घनी स्याह पाप-छायाएँ करता हुआ मूर्तिमान
दरिद्र बस्ती को, बस्ती के अँधेरे को
उद्‌घाटित करता हुआ
चमकता है जन-पथ
(मुस्कुरा उठता है बढता हुआ मजिल की ओर
वह रुपहला लोक-मार्ग—
भावी के सपनो भरा
अरे, जन-जीवन का पथ वह,
कर्मण्य श्रद्धा के नेत्रो मे चमकता हुआ
क्षितिज को चूमता है—

उलझी हुई गलियो के देश मे)
बीसवी सदी के सन् इक्यावन के साल मे
ज़िन्दगी की धज्जियो की पताकाएँ बदरग,
लहराती हुई आज
क्रोधभरे गहरे इशारो से राह बतलाती है
कि जहाँ से गुज़री है, अब भी गुजर रही
बस्तियाँ उजाडती हुई
शोषण की सत्ताएँ ! !
जिन्दगी के बोलते हुए बडे-बडे खँडहर
जरायमपेशा उन कबीलो की भाषा व भाव समझाते है
कि जिनके खिलाफ, अरे, विद्रोही ज्वाला के
धधकते अगारो को देख ले, निहार ले
जो फैले है जिन्दगी की राहो मे चौराहो मे सभी ओर
देख ले उस आरक्त किरणो के नूर को
कि चमक रहा है जो
रास्ते पर चलते हुए गृहहीन
बालको की स्त्रियो की निगाहो मे
कि भावी की बाँहो मे
तू गृहहीन विद्रोही वर्तमान काल होकर समा जा
तेरे सह-अनुभवी हज़ारो साथियो के हाथो मे
मानवीय सन्ताप की ज्वालाओ के अवलम्ब थमा जा ! !
युग की असहनीय वेदना के लौह वज्र
क्षितिज के घोर स्याह पाषाणी प्राचीरो को तोडकर
भावी नवजीवन के
मैदानी दृश्यो को पसारते,
ओझल न रहे तुझसे उनकी हरेक चोट !
अरे, वे तो तेरे ही अर्थो को उभारते।
जिनको तू खोजता था गुप्त न रह जायँ,
ओझल न रहे तुझसे तेरा ही अभिप्राय !
देख ले कि बस्ती के झोपडो मे लगा आग,
नभचुम्बी ज्वालाओ के गन्ध की प्रकाश मे
पढी जा रही है आज
अध्यात्म की सहिताएँ
राजनीति-ग्रन्थ और रोमास के उपन्यास
गाँवो को जलाती हुई
नभचुम्बी ज्वाला के प्रकाश मे
भारतीय सस्कृति-विकास किया जा रहा
शोषण के भयानक जबडो ने फूँक मार
झोपडियाँ गिरा दी व मकान ढहा दिये
झुलसी हुई पुरानी धुनकी हुई रुई के

टुकडो-सी उडती है
मनुष्य के साँवले समूहो की ज़िन्दगी !
सटर-पटर सामान को धरे हुए शीर्ष पर
पुरुष उबारता—
धरे हुए टोकरियो मे बिलखते बच्चो को
नारियाँ सँबारती—
बची-खुची जिन्दगी के कराहते पलो को !
सूखी हुई जाँघो की लम्बी-लम्बी अस्थियाँ
हिलाता हुआ चलता है
लँगोटीधारी यह दुबला मेरा हिन्दुस्तान
रास्ते पर बिखरे हुए
चावल के दानो को बीनता है लपककर
मेरा यह साँवला इकहरा हिन्दुस्तान
सटर-पटर सामान को धरे हुए शीर्ष पर
रोते हुए बच्चो को कन्धे पर बिठाये हुए
ज़िन्दगी को ढोता है बहादुर हिन्दुस्तान
अपने ही पुत्र के प्रेत को उठाये हुए साँवले हाथो मे
श्मशान की ओर जाता
दिल मे बिलखता हुआ
विचारो का भावो का तूफानी समुन्दर हिन्दुस्तान
बेहद के मैदानो मे दर्दभरे कण्ठ से गाता है
मानव की पुकार का वह वेदना मे
बल खाता अभिप्राय हिन्दुस्तान
साँवली त्वचा से ढँकी हुई छाती की
अस्थियो के पजर मे पाले हुए
प्रकाश का शतदल
कि भावी के सपनो की ज्योति को सँभाले हुए
मारता है हथौडा
यह क्रान्ति का कारीगर कि वज्रकाय हिन्दुस्तान
खँडहरनुमा जिन्दगी के आँगन मे एक ओर
शक्तिशाली विचारो की
लहलहाती तुलसी खडी है आज ! !
ढोलक की विदारक घहराती ताल पर
जोश के आँसुओ मे तैरती हे भारत की तसवीर
गाता है समता के गीत जन-कबीर का नया साज ! !
मेरा यह क्रान्तिकारी गभीर है हिन्दुस्तान !
वही तो है, वही तो है मेरा ही चेहरा है
मेरी ही आत्मा-सा मेरा ही सेहरा है
प्रकाण्ड अभिव्यक्ति है, आशय मे गहरा है।

भूरे-भूरे मैदानो पर खिली है चाँदनी
कि जिसके नीले कुहरे मे
क्षितिज समा गया ।
आ रही है कही से घहराते नाले की
दर्दभरी आवाज—
(खोये हुए प्रारम्भ व ढँके हुए अन्त
वाली कहानी सुझाती हुई
स्वेद-अश्रु-रक्त के महावर्तमान की)
मैदान मे भीमकाय बरगद के पास इस
नीली धूल उठाती हुई और
उत्साह मे सराबोर
(पास ही की बस्ती के) लडको की
खिलखिलाती कबड्डी
को देखता हुआ खडा मै कि
जाती है नजर दूर !
चाँदनी के मैदान
क्षितिज को छूते जहाँ
वही कोई गहरी आग
जल रही वीराने मे झरने के किसी सूने
पथरीले तट पर।
क्षितिज की कुहरीली गहरी निलाई मे
(पलाश के जलते हुए फूलो की आग-सी)
वह लाल-लाल शिखा !!
चिता तो नही है वह
आता है विचार यह सचाई की राह पर
(बस्ती मे हर साल
प्लेग महामारी के भयानक समाचार
अखबारो मे हमी तो छापते है
मिलते हे राह पर गहरे सबूत रोज)
क्षोभ की जलती हुई नोक लिये
विचारो की लिये दीप्ति
वेदना के लोहे का लाल-लाल टुकडा हाय !
हिये मे डोलता कि
अस्तित्व समस्त मेरा
भयानक कराह मे बहने को होता है कि
बस्ती के बच्चो की चाँदनी मे
खिलखिलाती कबड्डी की तसवीर
मुझे थाम लेती है
कि औंधे-मुँह धडाम से गिरने से अँधेरी खाई मे
लेती है बचा मुझे ।।

टुकडो-सी उडती है
मनुष्य के साँवले समूहो की ज़िन्दगी !
सटर-पटर सामान को धरे हुए शीर्ष पर
पुरुष उबारता—
धरे हुए टोकरियो मे बिलखते बच्चो को
नारियाँ सँबारती—
बची-खुची जिन्दगी के कराहते पलो को !
सूखी हुई जाँघो की लम्बी-लम्बी अस्थियाँ
हिलाता हुआ चलता है
लँगोटीधारी यह दुबला मेरा हिन्दुस्तान
रास्ते पर बिखरे हुए
चावल के दानो को बीनता है लपककर
मेरा यह साँवला इकहरा हिन्दुस्तान
सटर-पटर सामान को धरे हुए शीर्ष पर
रोते हुए बच्चो को कन्धे पर बिठाये हुए
ज़िन्दगी को ढोता है बहादुर हिन्दुस्तान
अपने ही पुत्र के प्रेत को उठाये हुए साँवले हाथो मे
श्मशान की ओर जाता
दिल मे बिलखता हुआ
विचारो का भावो का तूफानी समुन्दर हिन्दुस्तान
बेहद के मैदानो मे दर्दभरे कण्ठ से गाता है
मानव की पुकार का वह वेदना मे
बल खाता अभिप्राय हिन्दुस्तान
साँवली त्वचा से ढँकी हुई छाती की
अस्थियो के पजर मे पाले हुए
प्रकाश का शतदल
कि भावी के सपनो की ज्योति को सँभाले हुए
मारता है हथौडा
यह क्रान्ति का कारीगर कि वज्रकाय हिन्दुस्तान
खँडहरनुमा जिन्दगी के आँगन मे एक ओर
शक्तिशाली विचारो की
लहलहाती तुलसी खडी है आज ! !
ढोलक की विदारक घहराती ताल पर
जोश के आँसुओ मे तैरती है भारत की तसवीर
गाता है समता के गीत जन-कबीर का नया साज़ ! !
मेरा यह क्रान्तिकारी गभीर है हिन्दुस्तान !
वही तो है, वही तो है मेरा ही चेहरा है
मेरी ही आत्मा-सा मेरा ही सेहरा है
प्रकाण्ड अभिव्यक्ति हे, आशय मे गहरा है।

भूरे-भूरे मैदानो पर खिली है चाँदनी
कि जिसके नीले कुहरे मे
क्षितिज समा गया।
आ रही है कही से घहराते नाले की
दर्दभरी आवाज—
(खोये हुए प्रारम्भ व ढँके हुए अन्त
वाली कहानी सुझाती हुई
स्वेद-अश्रु-रक्त के महावर्तमान की)
मैदान मे भीमकाय बरगद के पास इस
नीली धूल उठाती हुई और
उत्साह मे सराबोर
(पास ही की बस्ती के) लडको की
खिलखिलाती कबड्डी
को देखता हुआ खडा मै कि
जाती है नजर दूर !
चाँदनी के मैदान
क्षितिज को छूते जहाँ
वही कोई गहरी आग
जल रही वीराने मे झरने के किसी सूने
पथरीले तट पर।
क्षितिज की कुहरीली गहरी निलाई मे
(पलाश के जलते हुए फूलो की आग-सी)
वह लाल-लाल शिखा !।
चिता तो नही है वह
आता है विचार यह सचाई की राह पर
(बस्ती मे हर साल
प्लेग महामारी के भयानक समाचार
अखबारो मे हमी तो छापते है
मिलते है राह पर गहरे सबूत रोज़)
क्षोभ की जलती हुई नोक लिये
विचारो की लिये दीप्ति
वेदना के लोहे का लाल-लाल टुकडा हाय !
हिये मे डोलता कि
अस्तित्व समस्त मेरा
भयानक कराह मे बहने को होता है कि
बस्ती के बच्चो की चाँदनी मे
खिलखिलाती कबड्डी की तसवीर
मुझे थाम लेती है
कि औंधे-मुँह धडाम से गिरने से अँधेरी खाई मे
लेती है बचा मुझे ।।

हँसते हुए चेहरो की आभाएँ दुर्दान्त
जिन्दगी का हँसता हुआ चाँद बन जाती है
कि जिसकी परछाई मे
मन की रातरानी मेरी महक उठती अकस्मात् ! !
दीखते है सभी ओर
बस्ती मे झिलमिलाते दीये लग गये है
कि जिनके प्रकाश मे
शायद कुछ विद्यार्थी कही पढ रहे है
कि कही कोई बहन अपनी भाभी के लिए
नीली साडी मे रुपहली गोट-किनार लगा रही है
कि कही कोई पितृश्री
नाती को अपने क-ख-ग और पराँच पढा रहे है
कि कही कोई बालक अपनी छोटी-सी गोदी मे
शिशु छोटा भाई लिये तुतली-सी बोली मे
कविताएँ गाते हुए उसे सुला रहा है ।
कि कही किसी चौराहे पर
घनघोर क्रान्तिकारी पुराना कार्यकर्त्ता फटेहाल
सघर्षी जनता की रहा है मीटिंग ले
अन्याय के खिलाफ
सारे शोषण के विरुद्ध
नये समाज की स्थापना की आवाज़े बुलन्द है ।
बस्ती से ज़िन्दगी की महक बल खाती हुई
मुझ तक आती है कि विद्रोही कवि के
क्रोधाग्नि-स्वरो की धुआँधार धारा मे
जनता के ज़ोर पर
नभ मे प्रात सूर्य की आग लग जाती है
मुक्ति का ज्वालाध्वज
मेघो को चूमता हुआ लहराता काँपता
कि बस्ती के पास,
इस बरगद के किनारे पर
खडा हुआ एक पल
सोचता हूँ कि देखता हूँ सामने
हवा मे लहराती सुनहली ज्वाला एक
रेंगती-सी मेरे पास
धीरे-धीरे आती हुई
आसमान छूती हुई व धरती पर चलती हुई
बिखराकर नीले-नीले स्फुलिंग-समूह
वह बनती है अकस्मात्
विराट मनुष्य-रूप
नही जान पाता कि छूकर मुझे मुझमे समा गयी कि

उसमे समा गया मैं ।
सुनहली काँपती-सी सिर्फ एक लहर रह जाती है
कि जिसे क्रान्ति कहते है
कि कहते है जन-क्रान्ति ।

[रचनाकाल 21 1 1951 । नागपुर । **भूरी-भूरी खाक-धूल** मे सकलित]

मुन्सिपालिटी का कन्दील

रहता है सूना-सूना आकाश रात का
नग्न-भव्य विस्तार निशा का फीका-फीका
धुँधला-धुँधला जलता सूनी गली मोड पर
मुन्सिपालिटी का कन्दील उदास सदा का ।

धूल राह की शान्त, किन्तु उद्विग्न स्वप्न वे
नित्य दमित व्रण-रक्तिम भूरी इच्छाओ के
मँडराते है तिमिर-कुहर-कुण्ठित कमरो मे
निम्न-मध्यवर्गीय उदासी की छाहो के ।

धँसी हुई छाती की हारी-थकी अस्थियाँ
नित्य बुभुक्षित प्राणो की ज्वालाएँ ढाँके
साँस ले रही है टूटी-टूटी निद्रा मे
मृत्यु - कष्ट की लम्बी छायाएँ फैलाके ।

इधर - उधर सोये कुत्तो के अर्धवृत्त वे,
खडी पाइयाँ नग्न - श्याम सोते देहो की,
एक घोर निस्तब्ध अँधेरा, साँस रोकती
गहरी लम्बी छायाएँ ऊँचे गेहो की ।

यही गली का मोड कि जिस पर बिखर रहा है
दुबली रोगीली आँखो - सा पीला - पीला
मलिन अप्रतिभ हारी मति के निबल व्यंग्य-सा
मुन्सिपालिटी के दीये का शून्य उजेला ।

जिसके नीचे मैं (अध्ययन-निरत) पढता था
दाग - लगे पन्नो की फटी - पुरानी पुस्तक
वर्तमान जीवन के आते थे कानो मे
रोते हुए बिलारो के स्वर कर्कश अनथक ।

धीरे - धीरे ज़हर ज़िन्दगी का आ उतरा
रग - रग मे रेगती ग्लानि की ठण्डी नागिन
एक उदास भार से झुकती पीठ हाँफती
चली, किसी वीरान शहर मे कदम-कदम गिन।

दूर ज़ोर से गूँज गजर रह - रह बारह का
घोर रात के प्राण फाडता निर्दय खडका
मेरे अन्तर मे विवेक के गूँजे ठोके
श्वान - वृन्द भी भ्रान्त कल्पनाओ का भौका।

मृत्यु - विजड जीवन की रक्षा करनेवाले
अन्धकार - भावो - से छाये थे वे भयकर
घोर उदासी की श्मशानवत् गलियो मे जो
चिता - राख पर लेटे हुए श्वान भीषणतर।

ध्वस्त - जीर्ण मूर्छनाभरी गम्भीर बावडी
के सूखे तिनको से भरे अँधेरे तल मे
मानवता - समता के सब आदर्श - स्वर वे
पडे रहे निर्जीव पत्थरो - से, जगल मे।

धूएँ से काली दीवालो की छाती पर
उँगली से वीभत्स चित्र खीचे थे किसने
भूखे - पेट क्रोध - लपटो मे जलते दृग के
(किसी सडक पर क्षुधा-मृत्यु के) भीषण सपने।

एक भयकर आत्मघात की काले - काले
सूखे पजे-से, कठोर जबडे - से प्रति - क्षण
तेज विषैली लाल - लाल आँखो के खूनी
घोर इरादे - से, काली खाई से भीषण।

ये विकराल स्वप्न जीवन के मुँह बिचकाते
छा जाते थे गली मोड पर अन्धकार मे
मुन्सिपालिटी का कन्दील अशान्त अकेला
भीति-जडित रात की शीत-काली बयार मे।

किन्तु, यहाँ कुछ है प्राणो मे जो न मरेगा
क्रुद्ध हरहराती हिल्लोलो की विक्षोभी
चौतरफा पछाड-टकराहट बीच रहेगा
सिन्धु-मध्य चट्टान भव्य-सा गरिमा-लोभी।

इसीलिए, औ' इसीलिए है तिमिर व्यर्थ है
तेरी काली पलको का अगाध सूनापन

अवनि - गर्भ से मैं पहाड - सा उठ बैठा हूँ
सरिताओ से जाग वह उठे आतुर जन-जन।

युग के आत्मगुहान्धकार मे सुप्त सिह ने
खोल दिये है नील दीप्ति के नयन भयकर
नये सत्य के जन्म - कष्ट - भूकम्प झूमते
पृथ्वी के निसीम गर्भ लहरा - लहराकर।

मैंने देखा, मुन्सिपालिटी के दीये के
पीले चेहरे पर छाये है कैसे-कैसे
घोर भाव ज्यो मानव के समूह निकले हो
खान कोयले की पाताली गलियो मे से।

मोटी भौहो के कठोर बकिम छोरो पर
पीडित पलको के नीचे गभीर नेत्रो मे
तडप रही है प्रखर नीलिमाएँ विद्युत को
शोषित श्रम के मूर्तिमान जीवित चित्रो मे।

जिनके सम्मुख मैं आवारा - सा लगता था
कडी ज़िन्दगी की राहो पर रात और दिन
भूखे अहग्रस्त कुत्ते - सा नित्य घूमता
(बालो के काले जगल से ढँका हुआ तन)।

फटी गठरिया जीवन - दर्शन की (कूबड-सी)
बौने फक्कड के बेलौस निकम्मेपन मे,
खँडहर की गलियो मे मैं आजमा रहा था
अपना भाग्य अजीब तरीको से निर्जन मे।

लेकिन देखा मुन्सिपालिटी के दीये के
पीले चेहरे पर छाये हैं कैसे - कैसे
घोर भाव ज्यो चेहरे मानव के उभरे है
ज्वालामुखियो की पाताली गलियो मे से।

जिनकी तेज़ निगाहो के रवि-किरण-ज्वाल मे
निम्न - मध्यवर्गीय उदासी की छाँहो के
छिन्न-भिन्न हो बिखर गये अँधियारे बादल
मुक्ति-सेतु बिछ गये क्रान्तियो की बाँहो के।

[हस, सितम्बर 1951, मे प्रकाशित]

मानवता का चेहरा

आसमान से खिंच आयी है धरती तक एक गहरी रेखा,
मेरे मस्तक मे उतरी तसवीर गुलाबी मुसकानो की,
भावी के कमलो का अनुभव या वह परिमल मानवता का।

अन्धकार का निराकार भुतहा सूनापन गहरा-गहरा
चीर किरण की उँगली से वह तेज पुज उगा मस्तक मे
नया दमकता हुआ सूर्य या नूतन मानवता का चेहरा।

कटी बाँह का पीर कि बरगद नये ठाठ का, यदपि पुराना
भूमि-हृदयगामी अन्वेषक भूलो से वह रहा खोजता
जलती धरती के भावो का गहराई मे छिपा खजाना।

उसने अकस्मात झाँका आलोक-स्वप्न के वातायन से
आसमान के नीले सीमान्तो मे विराट् छाया देखी
मानवता का हँसमुख चेहरा उसे बुलाता अपनेपन से।

राखी रँग की लिये खुरदुरी भूरी-सी वह बूढी शाखा
मेरा बरगद वर्तमान की विभीषिका के घोर स्पर्श से
रोज जूझता हुआ, देखता भावी की आलोक-शलाका।

पर यह बरगद खडा खँडेरो की आबादी के सूने मे
पास यहाँ बौनी कुटिया मे मानव है कि अकारथ श्रम के
फटे बाँस से, जीवन का (चिथडो का छाजन) छप्पर थामे।

सरदी मे पोखर पर कुहरा युग-युगान्त से रहा ऊँघता,
एक दूर की पान्थ किरन कह गयी किन्तु भावी परिवर्तन
आसमान का केसर बरगद पर छाया है नये मान-सा।

मरी फसल, खँडहर के पीपल, बुच्चे तरु, अधमरे ठूँठ सौ
कटी कमर के वृक्ष देखने लगे युगान्तरशील स्वप्न वह
जो पुकारता इन्ही दिनो है मुक्ति आज या कल या परसो।

जिनका वर्णन हो न सका वे भूरे श्यामल बदरँग चेहरे,
सटर-पटर सामान कि फेके गये जग-लगे टीनपाट-से
अब तक समझे गये मात्र जो घूरे के टीले के सेहरे।

जाग उठा मस्तक मे उनकी तेज्ञ पुजित प्रतिभा का रवि
वक्ष-अस्थियो के पजर मे लाल कमल खिल उठा भक्ति का
लाल कमल के ज्ञान-कोष मे से पुकारता भविष्य का कवि।

कष्ट वेदना करुणा की आँखो मे रवि की किरणे दमकी
मुख पर जीवन-सग्रामो की लाल-लाल छायाएँ सिहरी
(खुली क्रान्ति की पलके, आँखो मे सघर्षो की दोपहरी)।

कन्धो पर दोनो हाथो से थामे जो ऊपर की मज़िल
यद्यपि केवल जड पदार्थ-से ही माने जाते है, लेकिन
दीवालो के ककर करते गहरी भूकम्पो की हलचल।

बजर गजा शीर्ष लिये छोटे-से पत्थर-सा मै पथ मे
लाख-लाख ककर-मिट्टी-ढेलो की सहचरता का गहरा
अनुभव करता हुआ सोचता ही रहता-सा हूँ आहत मै।

पहाड बनते चले जा रहे हमी लोग (हम न कुछ, निम्न जन)
है आतक-ग्रस्त शोषण की सत्ताओ के भूत-जिन्न ये
हवालात मे आसमान को रखना चाह रहे नेतागण।

है पहाड-सी महा-शिल्प-कृति युग की हम कि काल का स्पन्दन
अम्बरस्पर्शी भव्य मूर्ति अधरो की स्मित-बकिम रेखाएँ
महा-क्रान्ति की छेनी से है जन-जीवन का ललाट अकन।

काली गलियो, ढहे मुहल्लो, अन्ध गुहाओ के नगरो पर
तिरते आये अग्नि-ज्वाल-से दिशा-प्रकाशी मेघ सुनहले
चले ठठ्ठ-के-ठठ्ठ जोश मे, सागर उमड पडा डगरो पर।

टूटी कुटियो, ढहे मकानो के अकुलाये हृदयो मे से,
उठी एक आवाज दिशाओ की गहरायी छूनेवाली
उठो, बढ चलो, शैल चढ चलो, गुज़र चलो सौ प्रलयो मे से।

माँ के अन्तर मे जो बातें आकुलताएँ दबी रह गयी,
अरे, भयानक क्षोभ-व्यग्र चिन्ता के आँसू दबे रह गये
फहर-फहरकर महा-क्रान्ति की ज्वालाएँ वे सभी कह गयी।

पीछा करती शत्रु दैत्य का (विश्व-कष्ट के, विश्व-भ्रान्ति के)।
शैशव मे गुज़रे भाई की पथरायी आँखो की पुतली।
होरी की आत्मा के आँसू आज वज्र बन गये क्रान्ति के।

बहना के सुहाग की बेदी फैल गयी है क्षितिज देश पर
माँ के जर्जर आँचल का सौरभ लहराया आसमान मे
पितृश्री का ललाट चमका क्रान्ति-ज्वाल - वलयो के भीतर।

उठी महक तुलसी की, गहरे मृदुल नीम की, अपने घर की दीवालो की
अरे, क्रान्ति की ज्वालाओ मे मानवता की वक्ष-गन्ध है
छायाएँ फैली शहीद रामू के अपने घरवालो की।

महा-क्रान्ति की ज्वालाओ का रुधिर काँपता है वक्षो मे,
सघर्षों के अग्नि - फूल (शत-शत स्फुलिंग) बरसा करते है,
हृदय-रक्त के लाल-लाल किरणीले कमलो के दृश्यो मे।

मानवता का यह अन्तिम सग्राम सामने आता - जाता
जीवन-मुक्ति-दिवस का ज्वाला-ध्वज नभ मे मँडराता जाता
कष्ट - क्रोध - वेदना - क्षोभ के भूकम्पो की अँगडाई मे
शोषण - दुर्गों पर गहरा - गहरा काला धूआँ मँडराता।

[नागपुर। हस, अक्टूबर 1951, मे प्रकाशित]

मेरे मित्र, सहचर

मेरे मित्र, सहचर
भारतीय गली के अँधेरे किसी कोने मे
जिन्दगी के दर्दो के केन्द्रो के चारो ओर
घूमते है विचारो के तेज पुज ग्रह-गोल
विप्लवी दृष्टि की उल्काएँ, तारादल
कृतियो के स्वप्नो के,
भव्य जन-सघर्षो के प्रदीप्त तेजोमेघ
मस्तक मे घूमते है ज्वालामण्डल प्रतिपल।

नवीन व्यवस्था की आस्था मे मूर्तिमान
भावाकुल प्राणदान
जीवनानुभवो की ही कथाओ मे बिँधा हुआ
भारतीय गलियो की अँधेरी धुकधुकी मे
किसी महाकाव्य की
भव्य मर्म-वेदना के प्रकाश-सा सधा हुआ

जन-जन का प्राणदान
टपकते रक्त की लकीरो से आजकल
बनाता है नये चित्र—
जनऽ मनऽ प्रतिभा की आभाओ से वलयित
मुक्ति के दीप्त मुखमण्डल का रवि-बिम्ब
उभरता है टपकते रक्त मे मुक्ति का जीवन का नया चित्र
जन-जन का प्राणदान
बनाता है चित्र नयी दिशाओ का, काल का
लक्ष्यो की भुजाओ का,
जीवन की श्रद्धा की बुद्धि के भाल का।

बाधाएँ हटाने के भावो की क्षोभमय
मेघ-घटा, क्रतिमय हृदय मे, गरजती जब
रेवा की लहरो मे
युग-सचित पीडा की हरहराती गति तब
समुद्री शक्ति से जनता का विश्वजयी
करती है सामगान
नवीन व्यवस्था की आस्था मे मूर्तिमान
कौधते है विश्व-स्वप्न
लाल-लाल आभाएँ फैलाते अलावो मे।
सन्ध्या की निलाई मे खोये हुए अलसाये
कुहरीले खेतो मे
जुआर की रोटी से महकते धूएँ से गरमाये गाँवो मे
तैरता है भव्याकार नील-श्याम मेघ-खण्ड—
छाती मे जिसकी कि तडित् की धुकधुकी
मे कौंधते है विश्व-स्वप्न
और काल-भेरी-सा धडकता वक्ष है
कि जिसकी प्रतिध्वनि सुन
अकुलायी आँखो मे विराट-सा चित्र एक
समाता है अकस्मात्—
चारो-ओर चारो-छोर
गोल-गोल दिखलाती घूम जाती पृथ्वी यो कि
आँखो के सामने ही तैर जाती जनता की झाँकी और
शैतानो की तसवीर
केवल जिसे देख ही
दानवी शक्तियो के विरुद्ध अधीर हो
लपकती है प्राणो की दमकती शमशीर
नीली-नीली तडित-सी खिचती है प्राणो की बाँकभरी करवाल
लपकती है युद्धोत्सुक तडपती हुई पीर!!

फूटे हुए घरो और ढही हुई मेहराबो के
धँसे हुए पुलो पार
झुलसे हुए खेतो गाँवो मैदानो के आर-पार
दहकती धूपभरे सुनहले प्रसार मे से
आती है झनकार, उभरती है झनकार
गूँजती है घावोभरी,
जीवनानुभवोभरी ज़िन्दगी की झनकार
मानो कि कही दूर—
सूखे हुए झरनो के भूखे कूल-किनारो पर
खडे हुए बडे-बूढे
बुज़ुर्ग दरख्तो की घनी-घनी छाँहो मे
लेटे हुए छापेमार दस्तो के कोई शूर
कोई वीर बहादुर
भरे-भरे गले से छेडते है कष्टग्रस्त
युद्धग्रस्त वतन की कोई गीली-गीली धुन
गहरी याद लिये हुए
कोई दर्दभरा गीत
जिसमे कि कॉपती है मॉओ की पिताओ की
तडपती हुई प्रीत
बहते हुए पसीने की ढुलते हुए लोहू की
आपस मे मिलती हुई धार के मर्म-गीत
ज्ञान के, क्रान्ति के, मुक्ति के कर्म-गीत
वृक्षो की छाँहो से पहाडो की खोहो से
उठती है झनकार
गाता है युद्धग्रस्त वतन का पहरेदार
आँखो मे आँसूभरे
गहरी याद करते हुए
स्वदेश की आत्मा से करता है फरियाद
धैर्य की, शक्ति की
पुत्रो की भुजाओ मे, धडकते वक्ष मे
मानव-भविष्य मे आस्था की प्रीत की
मुक्ति की, जीत की !

मेरे मित्र, सहचर
युद्ध के गीतो की पहली ही ज़ोरदार
ओजस्वी पक्ति-सी
क्षितिज की जलती हुई भौहो की रेख वह
तुम्हारी भौहो को चूमती ही रही है।
अग्नि-परीक्षा से दहकते मैदान
तुम्हारे प्राणो मे समाते ही रहे है।

सफेद-सी धुन्ध मे खोया हुआ आसमान
प्यासे इस हृदय का उपमान हमेशा ही रहा है।
भव्याकार काली-काली दहकती चट्टान
तुम्हारी छाती की सवेदनोभरी गुरु
हिम्मत मे डूबी है कि डूबती ही रही है।
दहकती धूपभरे मैदानो मे बिछी हुई
दमकती तलवार—
जैसी वह बाँकभरी नदी की धार, अरे
गगन के बिल्लौरी शीशे के टूटे हुए
सुदीर्घ बाँकभरे टुकडे-सी प्रदीर्घ किरचे-सी
हृदय मे धँसी है कि धँसती ही रही है
वतन की याद बन
स्नेहभरी शौर्यभरी किसी जन-कहानी-सी
जलती हुई धूलभरी धूपभरी पग-बाट
तुम्हारे सँवलाये चेहरे पर अँकी है
कि लिखी गयी भाल पर
मिट्टी से सने हुए लोहे के फाल-सी
तुम्हारी श्रद्धा ने जिन्दगी के खेतो मे
मुक्ति के लेखो की रेखाएँ खीच दी
श्रमिक-शरीरो के पैरो मे गुँथी हुई
मेहनती स्नायु की, नसो की गठानो-सी
तुम्हारे विचारो की अनुभवी गठानो से गुँथा हुआ व्यक्तित्व
जिन्दगी के जलते हुए
मैदानो पर चलता है
जनता का नव-युग आसमान छूता हुआ
चलता है, बढता है।
मेरे मित्र, सहचर
हिन्दुस्तानी गली के अँधेरे किसी कोने मे
जागते मे देखते हो, देखते हो सपने मे
जीवन का सघर्ष
गलियो की जिन्दगी के प्यासभरे भूखभरे
अकुलाती बुद्धि के, कार्यातुर चिन्ता के तडपते हुए वर्ष
पिराती आत्मा के सुखभरे, दु.खभरे
सहानुभूति के दर्दों से मारे हुए
मानवीय मर्मों के जीवन्त आदर्श
जागते मे देखते हो, देखते हो सपने मे
देखते हो भाइयो के जीवन से अपने मे।
देखते हो यह भी कि
जिन्दगी के कन्धे पर झुकी हुई वज़नदार
जन-अनुभवो की छलछलाती भरी हुई

कावड का मीठा पानी
देता है प्राणदान
दहकते ग्रीष्म मे सचाई के बरगद के तले, अरे
पिलाता है मानव-अमृत, जीवन-अमृत
जनता का प्याऊ अरे, दिलभरे
पीती है हृदय की कली
पीते है मजूर कुली
पीते है गरीब लोग
कलम के हमाल और
मटियाले चेहरो के मेहनत के कमाल लोग
पीते है मानव-अमृत दोनो हाथो भर-भर
मेरे मित्र, सहचर
सूखा हुआ तरु ज्यो कि
ताज़ा मेघ-जल पिये, पहाडो पर हरियाय
प्राणो मे यौवन की नयी-नयी धडकनें
आँखो मे नीली भोर धीरे-धीरे तिर आय
नीदभरी आँखो को
सपने मे सकेतित हुआ हो कोई भव्य प्रकाण्ड अभिप्राय
जानते मे मिला हो ज्यो जीवन का सन्देश
वैसे इन मुरझाये प्राणो मे शरीरो मे
गगा की लहरो-सी पुलको का परिवेश
दुखी हुई सूखी हुई नस-नस मे बहे ज्योकि
उषस के आशाकुल गुलाब का नव-रक्त
अकुलाते प्राणो के सिहरते सरोवर
युग-सत्य-सरिता के सगम-से बन जायँ
जीवन के नये-नये महासागर अनुरक्त
वैसे ही सत्य यह
लोगो के धुमैले व मटियाले चेहरो पर
सिन्धुओ का गम्भीर
लहराता अभिप्राय—
आभासित होता है युद्धमान जीवन के सत्यो का समवाय।
सचाई के युद्धो मे—
मुक्ति के सघर्षों मे
भावभरे प्राणो की चढाने के लिए भेंट
अकुलाते लोगो की भोली-भोली बातो को
बोलो, क्या कहा जाय
कष्टो के व्यूहो मे लडते हुए लगातार
इन अभिमन्युओ के भावो मे बहा जाय
जीवन मे रहा जाय
कहते हैं मुझसे कि

हमारी भुजाओ के निर्णायक आयुधो से
जनता के शत्रुओ से लगातार लडा जाय,
हमारे अकुलाते हृदयो का चाम ही तो
भारतीय क्रान्ति की भेरी पर मढा जाय !

मेरे मित्र, सहचर
भारतीय गली के अँधेरे किसी कोने मे
चिन्ताग्रस्त चेतना के दर्द मे तडपकर
बिजली-से कौधते
है तुम्हारे स्वप्न ये।
भारतीय अँधेरी गलियो के लोक मे
दमकती है बिजली की नगी आब लिये हुए
        प्राणो की बाँकभरी शमशीर !!
कौधता है विश्व-क्रोध !!
अँधेरे की गलियो के पार दूर
आँखो के सामने
खिली हुई दुपहरी के सुनहले प्रसार मे
धरती से गगन तक
खिचते-से झनझना उठते है
किरनो के इस्पाती तार कई अकस्मात् !!
क्रान्ति की पग-ध्वनि गीत की टेक-सी
क्षितिज की जलती हुई भौहो की रेख वह
तुम्हारे प्राणो की बन जाती लेख है
दुपहरी गगन मे उडती हुई गोल उस
भटकती चील-सा
मेरा उर सूरज के सन्तापित
गगन की झील का जल है पीता जलता हुआ !!
पख मेरे किरनो की उन्मादी गरमी मे
हृदय के अग्निफूल चूमते ही रहते हैं
अँधेरे की जिन्दगी की धँसी हुई छाती की
पसलियो मे गूँज जाय
जीवन की पुकार ज्योकि
गगन के सुनहले इस्पाती
        अदृश्य तारो पर
थरथराता जीवन का रोमहर्ष
नव क्रान्ति-मानव के प्राणो का सन्देश—
काँपती है सुरो की नयी लौ
गगन की किरनो की वीणा के तारो पर
शरीर पर लाल-लाल जलती हुई शलाका के स्पर्श-सी
विचारो की वेदना

दुखती हुई चिलकती रगो का सहलाती दु ख है !!
और फिर, क्षितिज पर, जलती हुई
छायाएँ डाल ये
आगे बढते जाते है मेरे सब लोग-बाग
मेरे प्यारे लोग-बाग !!
जवान सितार पर सुरो की थरथरी-सी
भावी की आहटे
किसी की बातचीत किसी के गीत मे से
किसी की प्रीत मे से कौधकर
वर्तमान आज के विद्रूप चेहरे पर
गहरा प्रकाश फेक
विश्वासो की विद्युत्
चलाती है ज़िन्दगी के मटमैले पैरो को।
कष्टो के बियाबान
जगलो से गुज़रते कर्तव्यो के पथो पर
ज्योतिर्मयी आँखे नील
तमन्नाओ अरमानो की चमकती है प्रतिक्षण !!
छाती से लिपटे हुए
आलिगन-बद्ध किसी स्वर्ण-मुख
नैनो के नेह के समान
अपने प्राणो मे विचारो के अगार
लिये हुए लोग-बाग
मेरे प्यारे लोग-बाग
मेरे सब लोग-बाग
थूहर के जगलो से कर्तव्यो की राहो पर
बढते हैं निर्विराम
दिल के अतल मे से उभरता है दिन-रात
रक्त के गोल-लाल बुदबुद-सा इतिहास
मानव के रक्त के बुदबुद-सा सुविशाल
बढ जाता प्रात सूर्य
गगन के मेघाकित जगलो को पार कर !!

मेरे मित्र, सहचर !
नव एक भव्य भाव तुझी मे तो बसा है,
क्षितिज के घनश्याम
हृदय मे जलते हुए वज्र-सा फँसा हुआ
आधा खुला गोल लाल सूरज आधा धँसा है
किरनीला खजर तेरी मुसकानो मे बसा है
दैनिक जिन्दगी के इन जलते हुए
पथरीले सूखे हुए घाटो पर

सत्य की पीर तुझे बेचैन बनाती हुई
क्षितिज के परदे घने उठा जाती अचानक
सूखे हुए जीवन की साँवली त्वचा की म्लानता रुलाती हुई
दे जाती है बज्र तेरे हाथो मे अकस्मात्
जिसके द्वारा लडता है घनघोर
मिथ्या के विभिन्न रूपो से दिन-रात !!
गहरे दैनिक सघर्षो के पथरीले घाटो पर—
नये जन-जीवन के, भावी नव-जीवन के नव्य-नव
दृश्य-देश, देश-दृश्य
तेरे नव हृदय की आँखो मे
खिल उठते नीलाजनी
नये-नये विश्व-स्वप्न !!
वक्ष मे समर्पण भावभरे हृदय
की लहरो पर बढती है
बढती ही जाती है
अगारो की अकुलाती वेदना की लकीरे।
तेरे हृदय-कोष की सुकोमल भीतो पर
तडपती फैलती है
लहकती बेल एक वेदना की !!
नये-नये सघर्षों के सकल्पो के लाल फूल
नये-नये सत्यो के गहरे लाल-लाल फल
अगारो की टहनी पर खिलते है अकस्मात्
अरे, तेरे हृदय मे—
तेज धार गहरे धँसते लोहे के हल चल पडते है
हृदय की धरित्री पर
प्रशस्त ललाट वह वज्रबाहु काल खेती करता है !!
बाँध लेती अपने मे समेट लेती छाती पर
तुझे नव-जीवन की मायाएँ,
सुनहली किरनो-बिँधी मुसकरा उठती है
मनोहर छवियाँ कि भावी की छायाएं !!

छूटती हुई गोलियो के फैलते सिमटते उजाले मे
गिरती हुई लाशो के जनतान्त्रिक
देश के इस खँडहर-नुमा प्राचीन शिवाले मे
तू ने युग-अनुभव का पढा है ग्रन्थ वह
जिसमे कि ऐसा एक रहस्योद्घाटन था
वर्तमान जीवन की धज्जियो का तार-तार
विश्लेषण व अकन था।
हृदय की पाताली
गुहाओ के कक्ष मे

जलते हुए चिन्तनमय
दीपक की लाल लौ
के आलोक मे तूने भी लोगो के
घावो की पट्टी को खोलकर
व्रणो को पहचाना व मरहम लगायी है !!
तूने किया अध्ययन
गहरे जन-अनुभवो के सत्यो का !
समाज के ह्रासग्रस्त भवनो के पहरेदार
शोषको के दलो के स्निग्ध-मृदु चेहरो को देखकर
उन्ही के कैम्प मे ही अपनी खैर-सलामत
मनानेवाले
सज्जनो के सास्कृतिक आकारो को देखकर
निहार उस क्रोध को
जो मात्र एकान्त मे ही
शोषक के अत्याचारी जाल पर गरजता है
निहार वह आलोचना नपुसक
जो आत्मा को बेच
आत्म-विरोध सिरजती है
पख-कटे पक्षियो की लँडूरो की हालत को देखकर
सत्य का गला-घोट चलती हुई पद-लिप्सु
कीर्ति-लोलुप कलम की जहालत देखकर
देख जन-शत्रुओ के छुपे या कि उजागर
दलाल या कि स्वार्थवादी लोगो की स्याह रूह
देख अन्धे शासन के घनघोर चक्रव्यूह
चढता हुआ खून तेरी आँखो मे उतरता हुआ
अरे, क्रुद्ध पुतलियो मे बनता है
रुधिर की तारिका !
प्राणो की म्यान मे से ज़बर्दस्त
तडपती बिजली-सी अलमस्त
चमकती शमशीर युगान्तर-वाहिका
कि दिल की दराज़ मे से
निकलता है भरा हुआ रिवाल्वर
व निकलती है तसवीर
आज की ज़िन्दगी की
भावी कार्यक्रमो की।
पाताल मे प्राणो के, दुखती हुई यादो-से,
तडपते अनुभव भभक उठते अकस्मात् !!
अपनी आत्मा की वह घावोभरी आवाज़
उठती है दहाड और एकाएक
वेदना की सनसनी मे गुँथी हुई

सत्य की ज्वाला-सी
वह मानव की पुकार
नस-नस मे समा जाती है
कि उस स्वर-चेतना की लहरीली वेदना मे
आँसुओ का रोमहर्ष, रोमाच गीला-सा !
हृदय के मृदग पर
निकालता है बोल तब
प्रशस्त-ललाट वह वज्रबाहु युग-काल
अरे, सृष्टि करता है
युद्ध के, मुक्ति के भव्य महास्वप्नो की !
तूफान की रफ्तार सगीत के छन्दो-सी
ऊँची उठती जाती है,
जीवन की पुकार ऐतिहासिक अनिवारता-सी
नभ मे बल खाती है,
तेरे जीवन-गीतो की मेघ-हुकृति-लय
हुई हे महाकराल
लक्ष्यो की पहाडी पर, जिसे (कण्ठ खोलकर)
गाता है विराट् काल !!
उद्विग्न भावो की विक्षुब्ध विचारो की नील-भाल
रक्त-देह ज्वालाएँ सिरजती हे
जीवन का चमत्कार
क्षितिज की लौह-श्याम मेघमयी
दीवाल मे किरणीले वातायन-सा बन कुछ
उसमे से कोई तेरी ओर चुप झाँकता है
आवाज़ देकर बुलाता है कोई सच
स्थिर-क्रमवाली दैनिक जिन्दगी
के उतारो को चढावो को पार कर
अगारी चेतना के बुद्धिमान
भव्य-देह कारीगर
पहाडो की शीर्षस्थित चट्टानो को काट
खडी करते है विराट् स्फूर्ति—
श्रमशील कष्टजीवी मानव की महामूर्ति !
पहाडी कगारो की दीवालो पर
खोदे गये चित्र नयी जनता के, ममता के
शिलालेख मानव-मुक्ति-युद्ध की गाथा के
सिरजते है नयी कला
नये अक्षर नये स्वर
अगारी चेतना के क्रान्तिकारी कारीगर !!
मलाया के जगलो मे पिनाम नदी के तट
हान के कोरियाई अरण्य प्रदेशो मे

यागटिज़्क्याग की अनुभवी
सवेदनशील गुरु तरगो के महाकवि
क्रान्तिवाही समीर से आराधित छवि
उन उगते हुए रवियो के विराट् स्वदेशो मे—
खिले जन-सघर्षो की ज्वालाओ के शतदल
ज्वलन्त कमल खिले मानवीय रुधिर के हास के
मानवीर रुधिर मे तेजोमय उषस
की किरने समा गयी
क्षितिज पर बह उठी
रश्मिमय गाढ रक्त-धारा मानव-हिय की
कि मानो नयी दिशा हो
कि लाल होकर झुक गयी
आकाश की ज्वालाएँ
धरती की लाल-लाल ज्वालाओ मे मिलकर
जन-रजनकारी नव भावी के लिए
जन-सगर शुरू हुआ।
कृष्णा के कूलो, तुगभद्रा के तटो पर
ब्रह्मपुत्र नदी के नील शैल-वनो मे
गगा के अचलो मे, चम्बल के किनारे पर
थरथराती गूँज गयी
यागटीज़ की क्रान्तिकारी तरगो की नयी लय ।।
मलाया के जगलो की मुक्ति-युद्ध-सेनाएँ दुर्विजेय
डालती हैं घनी-घनी छायाएँ क्षिप्रा के कगारो पर
मित्र मेरे, अँधेरी हिन्दुस्तानी गली के निवासी
किसी सूखे झरने के, नाले के किनारे पर
चिलचिलाती धूप की वीरानी मे खडे हुए
गाँव की मटमैली भीतो पर अनेकश
लिखे है गेरुए अक्षरो मे नये स्वर
जीवन-सघर्ष के घोष-वाक्य भयकर ।।
झुलसे हुए नीम के तले उस आँगन मे
जीवन के अवलम्ब—
डोलते हैं कही से आये हुए
गहरे-गहरे लाल-लाल सघर्षो के प्रतिबिम्ब ।।
विश्व की जनता के हृदय का एक स्वर ।।
मेरे मित्र, सहचर
व्यक्तिगत जीवन मे तो आज भी अँधेरा है।
किन्तु इस तिमिर के काले कण-कण मे
नीली-नीली विद्युत का सघन बसेरा है
प्राणो मे घटाघोप कभी तो अँधेरा है, किन्तु उसमे मनोहर
भैरवी ज्वालाओ का

खूनी लाल तेजोदृप्त नृत्यो का उत्सव !!
ज्ञान का चमत्कार, आस्था का आलोक
और विश्व-जनता का गहन सहानुभव
प्राणो के अँधेरे मे खेलती हुई ज्वालाएँ
आज तो हमारी इन आँखो मे, प्यारे भाई !
मानवी चॉदनी की मनोहर लौ बनी हुई है।
मात्र इसी लौ से ही जान जाते हम लोग
कि कौन हमारा है, चाहे वह कोसो दूर
कि किसकी आँखो मे झलकती सचाई है
कि कौन हमारा है,
चाहे वह कोसो दूर समुन्दरो के उस पार
क्यो न हो बसा हुआ।
जीवन के लक्ष्यो को मानवीय सन्ताप की हमी ने तो आब दी—
दूर के सितारो को हमी ने जवाब दिया
इसलिए कि दूर की मञ्ज़िलो को अपनी ओर
खीचने की ताब है !!
प्राणो के अँधेरे मे खेलती हुई
भैरवी ज्वालाएँ
आज तो हमारी इन आँखो मे, प्यारे भाई।
माननीय चाँदनी की प्यारी नीली लौ बनी हुई है।
लेकिन इसके बावजूद
लेकिन इसके बावजूद
भारतीय अँधेरी गलियो मे आजकल
सर्दी की भयानक काली-स्याह राते है !
ज़िन्दगी की धज्जियो से बनी हुई
कुटियो मे लोग-बाग
ठिठुरते प्राणो को गरमाते है रात-भर
अपनी ही हड्डियो की ज्वालाएँ उकसाकर।
विद्रोह के जल रहे लाल-लाल धधकते अगार
प्रकाश के अग्नि-रत्न
मानो कि उषस एक शिलाखण्ड-अश मे
सिमटी देदीप्यमान
अरुण और रागारुण !!
विद्रोही प्रकाश के
सूरज के टुकडो-से अगारो के खण्ड ये
हृदय मे पैठे है, बिखरे है, जमे है !!
लेकिन इसके बावजूद,
लेकिन इसके बावजूद,
यह भी है सच कि अभी तक अँधेरा है !!
अभी तक अँधेरा है

लेकिन इसके बावजूद
भारतीय अँधेरी गलियो मे चमकता है चॉद एक
घनी-घनी मौन पाप-छायाएँ करता हुआ मूर्तिमान
दरिद्र बस्ती को
बस्ती के अँधेरे को
उद्घाटित करता हुआ
चमकाता है जनपथ।
मुसकरा उठता है बढता हुआ मजिल की ओर
वह रुपहला लोक-मार्ग
भावी के सपनोंभरा अरे, जन-जीवन का पथ वह
(कर्मण्य श्रद्धा के नेत्रो मे चमकता हुआ)
क्षितिज को चूमता है
उलझी हुई गलियो के देश मे !

बीसवी सदी के सन इक्यावन के साल मे
जिन्दगी की धज्जियो की पताकाएँ बदरग
टूटी हुई गैलरी से फूटी हुई भीत से
उखडी हुई चौखट की खिडकी से, द्वार से
लहराती हुई आज फडकती हुई आज
क्रोधभरे इशारो मे करती है निवेदन
कहाँ से उठेगा कल धुँधुआते धुएँ के
ज्वालामय मेघो का प्रभजन
मेरे मित्र, सहचर
जिनको तू सोचता था गुप्त न रह जायँ,
ओझल न रहे तुझसे तेरे ही अभिप्राय !!

[रचनाकाल 1951। नागपुर। अप्रकाशित]

द्युति की कली

शाम की हलकी गुलाबी शान्ति मे
निष्पाप नीरव ज्योति-सी
द्युति की कली !
इस मोतिया आकाश की द्युति-तारिका !

गृह-द्वार आँगन मे बिछी
जो मौन कमरे मे रमी

वह मोतिया आकाश की कर्पूर-कोमल कान्ति है,
हिय मे बसी—
त्यो यह तुम्हारे रूप की
कोमल सफेद गुलाब-सी द्युति-शान्ति है।

गृह-द्वार-आँगन मे रमी
व्यक्तित्व की आभा तुम्हारी विश्व-मानव-सगमी
यो खिल चली
हिय-माँच के सुप्रसन्न कोमल रग-सी—
ज्यो साफ-पोछे अमल गृह-कन्दील के
मृदु काँच मे किरने उगी,
जिस साँझ-दीपक के उजाले मे जगी
नत-अन्तरा भ्रातृत्व-भावुक भावना!

शाम की हलकी गुलाबी शान्ति मे
यह मौन सुषमाकार कोमल मोतिया आकाश
पृथ्वी पर उतर
मेरे हिये मे काँपकर
नव स्नेह-सर-सा छा गया!
द्युति-तारिके,
पल एक तुमको देख मेरे भाग्य भी भरमा गये।
भूला हुआ-सा स्वप्न वापिस आ गया।
पल भर हुआ परिचय
कि जैसे सिन्धु हो अक्षय,
तरगो ने उछलकर दूर तक
सूखे कगारो को
हमारे प्राण के बौद्धिक सहारो को
भिगोकर हाय! आज हिला दिया!
व्यक्तित्व सारा जागकर
चैतन्य केन्द्रीभूत हो
जलती हुई सवेदना मे एक पल
अगार-सा खिलता रहा।
शत आत्म-चेतस् वेदना के रूप ले
तुम रश्मि-आकृतियो बिँधी
मेरे हृदय मे स्वप्न-सी चलती रही।
आदिम मनोहर नील नभ मे प्राण के
मौलिक नवीन प्रकाश मेघो-से
हमारे भाव भी तिरते रहे।

एक पल के बाद लेकिन मौन था,

जो आ गयी थी किरन-छाया खो गयी।
एकान्त शून्य बरामदा,
उसमे अकेलेपनभरी छाया बिरानी साँवली।
मै आज क्यो निज मे खुला, निज मे मुँदा
द्युति की कली !

देखा तुम्हे जैसे कि तब
द्युति-तारिके,
बस दृष्टि मेरी ही अजब पहचान के,
मैं चल पडा खँडहर-गुज़रती राह पर
वन-ढाँक मे
कुछ सोचने, कुछ आँकने।
पीपल गुँजाते है जहाँ सुनसान को
क्षिप्रा-पुलिन-वासो हवा दुलरा रही
भूरे तपे मैदान को, एकान्त मे
उस ओर पथ का बाँकपन
था ले गया मन के नयन !
क्या मूल्य हीरक द्युति पलो का श्वेत-स्मित ?
वन-पक्षियो की श्वेत-सित
शत-पख-ऊष्मा-सी मधुर इस आँच (या आत्मीयता)
का मूल्य क्या ?
आता स्वय उत्तर कि रस-गम्भीर मानव-रूप की
जिनमे प्रतिच्छाया हँसी
वे मात्र जीवन-पल नही
समृद्ध करते जो हृदय-क्षमता अरे !
इस ज़िन्दगी की राह मे पल के परे ! !

[सम्भावित रचनाकाल 1951। नागपुर। अप्रकाशित]

एक दूसरे से है कितने दूर

एक दूसरे से है कितने दूर कि जैसे
बीच सिन्धु है, एक देश के शैल-कूल पर खडा हुआ मैं
और दूसरे देश-तीर पर खडी हुई तुम !!
फिर भी हविस कि ज़रा चुरा ले
एक दूसरे की हलकी-सी झलक ही सही ! !

लेकिन
खुद को और दूसरे को झुठलाने की तरकीबे
यानी खुलकर दर्शन के यत्नो की इच्छा
गहरी-गहरी किसी कब्र मे ठूँस-ठॉस दी।
यानी यदि मै आते-जाते दीख पड़ूँ तो
अखबारो मे अमरीकी वक्तव्यो पर डोलेगी नजरे
और कि यदि तुम दीख पडो तो
गहन दार्शनिक सन्यासी-सा मै डोलूँगा
किन्तु तुम्हारे हट जाने पर
एक बार
वह गौरवमयी पीठ देखूँगा
जिसके तल पर हिलती है
अभिमानी वेणी।
आते-जाते रोज यही मिथ्या विराग
फिर और किसी दिन जाने क्यो
झगडे की आ जाती है नौबत
मैं टेबल के पास तुम्हारे कुछ ऐसी-वैसी कह देता
बात बहुत बढ जाती यदि वह यो सँभल न जाती
यानी जाकर अन्य जनो के पास
पहुँच चुपचाप लौट ही आती है वह।।
सभी जानते—
मेरे बारे मे खयाल है बुरे तुम्हारे
और तुम्हारे बारे मे मै सबसे ही कह चुका कभी का।
यानी झगडा—
तनी हुई भौहे, सतर्क नासा की रेखा
मुँदे होठ औ' गभीर चेहरा
हलकी लाली लिये कि मैने ही देखा है कितनी बार
अरे मिथ्या का लेखा
झगडा-वगडा सभी फालतू बाते है ये
तुम्ही जानती हो कि मात्र यह गहरा परदा
ढाँक न पाता पल के फूलो की किरनो को
कैसे समझाओगी मन को
मैं विराग की राख रमाये
कैसे समझाऊँगा मन को
क्योकि तुम्हारा सहज देख मुख
मेरे मन मे तिर आती है एक पक्ति लघु
'तुम पसन्द हो, अच्छी लगती हो, प्यारी हो'
बस यही पक्ति गडबड करती है
नही चाहता भेद खुले यह तुम पर छिन भी
लेकिन तुम गडबड कर देती

समय तुम्हारे क्रोध-विरागादि मूर्खताएँ निकालकर
मन मे भर देता है निष्पक्ष उजाला
जिसमे दिखती है मेरी तसवीर
कि अच्छी न हो किन्तु वह बुरी भी नही
और कि तुम मुसका देती हो
कभी दबे स्वर से पुकारती खुले आम
ले मेरा नाम कि ऐसे
मानो ठोस विजड शीतल यथार्थ के
लम्बे-चौडे स्तर पर
बहुत जरूरी बाते ही तो बुला रही हो।
बहुत धूर्त हो ! !
सबकी आँखो के सम्मुख कुछ काम-काज की ठण्डी बाते
इतना जतला देती गुस्सा शान्त हो गया
लेकिन कॉमा, पूर्ण-विरामो के मारे
वह लम्बा डैश छूट जाता है
ब्रैकेट खाली-खाली रहते।
फिर भी अन्यमनस्क उदास एक दूसरे से रहते हम
मानो है ही नही, सिर्फ अखबारो मे है ! !
फिर भी अकस्मात् हो जाता
एक भयनाक काण्ड हाशियो मे वह खुल जाता हे
लम्बी लकीर नजरो की आती एक उधर से
मेरी आँखो की रेखा स्थिर हो जाती आँखो मे तुम्हारी
और देखते ही रहते हम
खोये-खोये
मानो गिरफ्तार हो नज़रो मे यो रमकर ! !
कैदी बन्दी सब कुछ कहा
बाँहो मे ही गिरफ्तार हम नही हुए बस,
इतनी कसर रह गयी बाकी
जो अच्छा ही हुआ कि बस हम
लैला-मजनूँ होने से ही तो डरते है
भद्दी बात प्रेम का होना
रद्दी चीज़ कि फेको उसकी रद्दी की टोकरी खुली है।
वाहियात यह धन्धा ! !
छोडो ! !
जीवन के ऊष्मामय पल से यो मुँह मोडो
जिससे पापी अपराधी बदमाश न हम कहलाये
चर्चा का हम विषय क्यो बने !
इसीलिए हम करे भ्रूणहत्या भावो की
भद्र पुरुष बन जाये
यही एक निष्कर्ष कि निर्णय

तुमने किया कि मैने थामा
हम ऐसे बेकार कि उलटा पहनते हैं अपना पैजामा।

किन्तु समझ मे नही आ सका
क्यो आती हे नीली साडीवाली छाया
मेरे कमरे मे आकर मँडराती-सी है
कभी बैठती कुर्सी पर छिन
फिर उड जाती ! !
और सोचता हूँ कि तुम्हारे मौन अकेले मे आता है
क्या कोई आकार एक कोने मे टिककर
और बोलता है कुछ मेरी-जैसी बाते ! !
आश्चर्य होगा यदि ऐसा सचमुच हो तो
किन्तु नही, यह मेरा भ्रम है
किन्तु आज की कपूर-शीतल
सन्ध्या का समीर जब था,
वासन्तिक मदिरा की तल्खी की लकीर-सी
तब तुम एक किसी के घर से
बाहर निकली थी कि मुझे देखा था तुमने
नज़र न पायी हटा कि चिपकी ही रह गयी निगाहे गहरी
मेरी आँखे लगातार एकतार देखती ही रह गयी युगो तक
और सोचता था कि धृष्टता पर मेरी तुम गुस्सा होगी
इतने मे देखी मैने मुसकान गुँथी-सी
होठो पर खिल गयी विभाएँ पहचानी-सी
आँखो मे परिचय की गहरी सहज नमस्ते
मेरे होठो पर तुरन्त मुसकानो की चुपचाप नमस्ते।
ओझल हो जाने पर पाया
यदि मैं तुमको ठहरा लेता
और पूछता 'यही कही रहती हो ?' आदि-आदि
तो कितना अच्छा होता।
अब सब झगडा निपट चुका है
मेरे हिय मे याद रहेगा मन की निर्मलता का उत्तर
प्रत्युत्तर यह !!
याद रहोगी तुम भूलूँगा नही तुम्हारा गुस्सा
तने-तने रहने की बाते
प्यारा हूँ मैं नही तुम्हारा, फिर भी प्रिय हूँ
जैसी तुम मुझको प्रिय हो
मात्र एक प्रियता का नाता यदि चाहो तो
उसमे सारा विश्व समाता यदि चाहो तो
मैं यदि तुमको भाता हूँ तो
विश्व विजय कर लिया एक पल ही मे मैंने

उपन्यास के किसी पात्र मे
तुमको गूँथूँगा पाऊँगा
हाँ ! पत्र द्वारा तुमको लिख दूँगा यह मै
भूला बिलकुल नही तुम्हे मै !!
राहगीर को जैसे साथी मिल जाता है
बजारे को जैसे गाहक
पण्डित को जैसे लघु सिद्धान्तकौमुदी मिलती
वैसे तुम मिल चुकी मुझे बस इतना काफी
भूल-चूक की माफी !!
साथी ! राम राम !! मैं चला
कि फिर हम ऐसे ही चौराहो पर फिर कभी
मिलेगे !!
जरूर होगी भेट
बिदा दो !!
नम्र नमस्ते !!

[सम्भावित रचनाकाल 1951 । नागपुर । अप्रकाशित]

पिता मेरे

धूल के पीले धुँधलके से भरे आकाश
मालवी मैदान के भूरे अछोरो मे कही
खोया हुआ है एक—
भव्याकार पीपल
वह कि जिसके दूर तक फैले हुए हैं
गहन-मूल अदृश्य ममता-पाश
लिये चिन्ताएँ अनेकानेक
धूल के पीले धुँधलके से भरा आकाश

मैं विजड 'निज' के शिला-सम्भार
के नीचे दबे मुझको
बुलाता हुआ
उठता हूँ उभरता हूँ कि मेरे सामने
उस मालवी मैदान के
भूरे अछोरो मे कही खोये हुए
अश्वत्थ का वह दृश्य

मुझको छू
अनेको अभिप्रायो के इशारो से
बुलाता पास
ज्यो बेचैन ज्योतिष्किरण के
उद्विग्न अन्त स्पर्श मे
जग जाय उठ बैठे हमारी चेतना
उस आत्म-चेतस्
वेदना के दीप्त नैनो से
चतुर्दिक देखता मै पा रहा हूँ
भव्य वह अश्वत्थ
मै खुद हूँ
कि रामायण-कथा-सम्भार मे
ज्यो एक मुक्तक गीत पाता हे
कि उसकी आत्मा मे झाँकती है
रामगाथाएँ
कि रामायण स्वय
उस गीत मुक्तक का अह
ज्यो डूबकर अपने हृदय मे धारती
है सिन्धु का व्यक्तित्व
वह अनुरागिता गगा
कि त्यो अनुभूत होता हूँ स्वय को
किन्तु, जैसे टूट छँट जाते हवा से मेघ-दल
मैं एक पल के बाद
गहरे बोध के हलके थपेडो मे तुम्हे
पाता हुआ
यह सोच उठता हूँ
कि वह अश्वत्थ तो तुम हो
पिता मेरे—
मैं नही, वह तुम
विशाल-विराट् गुरु अस्तित्व
(मै बसा परदेस,
वापिस दूर क्षिप्रा-कूल पर
आमूल जाना चाहता हूँ)

पिता की तसवीर
उर के तिमिर-परदे पर उतरती
आ रही गम्भीर
उनकी दूरस्पर्शी
वृद्ध आँखो मे दमकती है
निखरते क्षितिज के भूरे अछोरो पर

तडपती धूप !!
उत्साहमय गम्भीर अनुभव-रूप
वह खिलता हुआ चेहरा
कि जब सकेत-सा करता हुआ
मानव-भविष्यत् का खुशी से
मुसकराता है
मुझे लगता कि
नीलाकाश थामे
क्षितिज-बाँहो पर
कि क्षिप्रा-कूल के मैदान का विस्तार हँसता है
पथरीले कछारो पर खडे
गम्भीर बुजुर्ग दरख्त
उनका गहन ममता-पाश
तुम-सा बाँध लेता है
कि काली दमकती चट्टान—
मानो ज़िन्दगी की धूप मे वह
अनुभवी अभिमान
मुझको चूम लेता है
कि गहरी धूप मे जो वन-वनान्तर चीर
बाँकी घुस गयी है दमकती शमशीर
पगडण्डी
कि अन्वेषक हृदय की वह समुत्सुक पीर

कल्याणी तुम्हारी धुकधुकी मे
यो धडकती है
कि मेरे हेतु जैसे तुम धडकते हो !!
तुम्हारी वक्ष-स्नेहोष्मा
कि जैसे शिलाओ की सन्धियो से
पुलिन कुजो मे अनावृत
धरित्री की उच्छ्वसित है उष्ण
गहरी गन्ध की महिमा।

[सम्भावित रचनाकाल 1951। नागपुर। अप्रकाशित]

पित:, तुम्हारी मुझे आती है याद

पित , तुम्हारी मुझे आती है याद जब
दृष्टि-रेखा छूती है दिग्-देवतात्मा तब
अम्बर को छूता हुआ जीवन का हिम-नग
उर्वर हरित-श्याम
भूमि पर निर्विराम
तरगित है छन्द जिसकी कीर्ति-श्री के जगमग

पित , तुम्हारी वीर-जीवन-इतिहास-कथा
देती है मेरी प्रेरणाओ की दिशाएँ बता
आँसू पोछ जाती वे
धीरज बँधाती वे
सग्राम का शिल्प मुझे अचूक सिखा जाती वे
सघर्ष मे मुझे देती सत्य की महान् व्यथा।

पित , तुम्हारी मुझे आती है याद जब
मेरी तुच्छता की ही आती पहचान तब
तेरा पुत्र दीन मै
किन्तु नही हीन मै कि नही बलहीन मै
करामाती नही फिर भी दिखाता हूँ करतब

तेरे जीवनानुभवो की कथाओ मे डूबकर
व्यथाएँ जाग उठती जीवन की उच्चतर
लोहे का गढा हुआ
पसलियो पर चढा हुआ
महायन्त्र दानव का चरण झिझोडकर
तोडता हुआ दिन-रात बुर्जों मे लगे हुए पत्थर

पित , तुम्हारी मुझे आती है याद जब
मुझे दीख पडता है सामने ही हिम-नग
जिसके समीपतर
छोटी-सी ऊँचाई पर
तेरी परछाईं मे नहाती हुई कुटिया है एक नव
अपनी गिरस्ती लिये नयी मुक्ति नया भव

तेरे महा-अस्तित्व का अनुभव प्राणो मे काया मे
तेरा पुत्र पलता है तेरी ही छाया मे
तेरे महा अस्तित्व की गन्ध लिये नभोवाही वायु वह

प्रफुरित उद्दीपित करता है प्राण-मन-जीवन के स्नायु सब
पित, तुम्हारी मुझे आती है याद जब।

[सम्भावित रचनाकाल 1951। नागपुर। अप्रकाशित]

टायफ़ाइड मे

प्रथम चरण

बाहे थकी हुई है मेरी,
सिर भारी-भारी है,
देह तोडता हुआ, तोडता हुआ आयु भी
यह बुखार है
या बुखार की तैयारी है।

मैदानों की वीरानी मे चक्रवात की
गूँजा-सा मस्तक मे मुखरित है विशून्य यो
सूनी बरसाती रातो की स्याही
अथवा उसका गहरा स्याह खून यो
छाती के अन्दर नस-नस मे डोल रहा है
करता हुआ सघन जीवन का अन्धकार भी
दिल की धडकन मे झीगुर-स्वर बोल रहा है
जलते गुल के फूल अँधेरे मे उस दीपक की बाती पर
स्वप्न देखती आँखे जलती हैं बुखार मे
रही बदलती जो कि रात-दिन करवट जाने किस बेचैनी मे विकार
भावग्रस्त मस्तक मे बल खाती है वह चिन्ता असगतर।

बजे रात के दो,
थकान से चूर शान्त सो गये सभी है
मेरी शुश्रूषा-सेवा मे
आज राह का प्रेमी मै गुमराह न हूँगा
स्नेही जन को कष्ट न दूँगा, शान्त रहूँगा,
ऐसी कई बुखार पचाये चलते-चलते
पैरो बढते रहो, बाहुओ थको नही तुम
करो न यो अपमान अरे दिन ढलते-ढलते
यद्यपि हूँ ग़रीब पर मेरी आत्मा बडी धनी है

यद्यपि जीवन पर ही
आपद घनी-घनी है
बाहे थकी हुई है सिर भारी-भारी है
लेकिन लडने की भी मेरी तैयारी है।

[सम्भावित रचनाकाल 1951। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

साँझ-रँगी ऊँची लहरों मे

साँझ-रँगी ऊँची लहरो मे अरब सिन्धु
धोता रहता है अहोरात्र
ज्यो भव्य हिन्द के सक्षम श्यामल शिला-कूल
श्रमशील कष्टजीवी मानव के प्राण-मूल
मे व्याप्त गहन वेदना-सिन्धु द्वारा अशान्त
धुलता रहता
आलिगन मे बँधता रहता दिन हो कि रात
उद्विग्न किन्तु लक्ष्योन्मुख सँवेदना-तरगो से विराट्
वह एकमात्र गम्भीर गहन मानवी सत्य
पीडित मानवता का वह जीवन दुकूल—
वह महाभूमि जिस पर अनन्य
मधुशील चमकता रहता हे
मुक्ति के स्वप्न का पूर्ण चन्द्र!

सहता की सह-अनुभूति आज
मीठी ज्वाला-सी चमकी सवेदना दिव्य
उद्विग्न कष्टजीवी जीवन का वह गहरा आत्मीय ज्ञान
करता हिय को सहसा सौ-सौ आँखे प्रदान
होता व्याकुल सामीप्य-बोध
अपने प्राणो के आस-पास
उद्विग्न कष्टजीवी जीवन के ज्योति-पाश
मानो अपनी धक-धक करती
आहत छाती के मौन भवन
मे रही झाँक
सौ-सौ सहानुभवशील नग्न-अन्तर झुलसी सूरतें मौन,
देखती और

खीचती एक रेखा सुदीर्घ
अन्दर की भीतो पर अजीब।
अपने हिय मे वह चित्र धार
अगार-भरे पथ का महान्
उद्वग्नि मै कि बेचैन सोचता हूँ अजीब—
वे रहे देख—
मेरे उर के द्वारों पर बैठे हुए प्राण
हैं रहे देख
बेचैन उसी के बारे मे उद्विग्न स्वप्न ! !

श्रमशील कष्टजीवी मन का जीवन-विश्व
(समुपस्थित कर अपने असख्य
वेदना-दृश्य, सघर्ष-शिल्प, व्यक्तित्व-चित्र)
वह घोर जागता उपन्यास
मेरे हिय मे घुलकर होता आवेग एक
अतिशय सवेग बहते निर्झर-सा अकुलाता,
और वर्तमान की विषम परिस्थिति के विरुद्ध
हमको पुकारता, ले जाता।
वह ओजोमय प्रेरणानुभव
मेरी अशान्त धुकधुकी धीर
मे स्पन्दित हो उठता गभीर।
धकधक करते वक्षो का वह वेदनानुभव
रक्तिम सघर्षो की घाटी मे बहता है
गम्भीर प्रवाहवती सरिता-सा शक्तिमान !

रक्तिम सघर्षों की घाटी मे धीर वेग
से बहती है सरिता अजस्र
आधुनिक कष्टजीवी जीवन की क्रान्तिशील
उस घाटी के नव-क्षितिज-तीर
पर स्तब्ध धधकता हुआ गोल
अगार-चन्द्र—
गम्भीर सत्य वह निर्निमेष कालान्तशील।
कालिमा दिगम्बर पर फैला आलोक लाल
रक्तिम सघर्षों के क्षेत्रो पर खिलता है
वह महाबिम्ब
युद्ध-रत लोक-जीवन का वह भीषण प्रतीक
आकुल कराल ! !

दूसरी ओर रक्तिम सघर्षों की घाटी से छिटक दूर
सुनसानों मे उस पार

भग्न मीनार एक,
जिस पर बैठा निशिचर उलूक
है रहा देख
वह स्तब्ध धधकता हुआ लाल
अगार-चन्द्र,
एकटक तीव्र स्थिर-शान्त नेत्र
से रहा देख
भग्नावशेषवासी विहग
श्यामायमान अम्बर पर उठता हुआ गोल
अगार-बिम्ब ।
कालिमा दिगम्बर पर गहरा आलोक लाल
जिसमे कि प्रकाशित हो उठते परिवर्तन-पथ
नूतन विशाल,
रक्तिम-सघर्षों की घाटी से चलते है
मानव के नूतन पथ सगर्व—
है बहुत दूर से रहा देख यह दृश्य सर्व
रात्रिचर आलोचक विहग,
औ' रहा सोच
'मस्तिष्कवान होकर भी मैं कितना अशक्त
कितना असग, असहाय, पोच
सुज्ञात यदपि गम्भीर सत्य
कालान्तशील,
मानवी मुक्ति समता-सस्कृति आत्म-शक्ति
सहारशील निर्माणशील,
मै किन्तु हाय ! भग्नावशेषवासी विहग—
वीरान अँधेरी जगहो की
आक्रमणशील सूनी दु स्पर्श अनात्मा
के विवरो मे रहता हूँ निरुद्ध
वीरान हवा के भुतहे चिर-आलिगन मे
मैं बँधा हुआ अपने विरुद्ध
हूँ ह्रासशील सभ्यता विषम
का प्राणपुत्र दयनीय परम
मैं देख रहा यद्यपि अतन्द्र
वह स्तब्ध धधकता हुआ भव्य अगार-चन्द्र
जन-सघर्षों की घाटी पर जो खिला लाल
जन-जीवन के उद्वेगो का आकुल कराल
भीषण प्रतीक—
भग्नावशेषवासी परन्तु
मैं रहा झीक
निज दु खो पर—

ठोकता रहा बौना कपाल
जानकर इसे ही सबसे सुविधाजनक ठीक।'

रात्रिचर आलोचक विहग
दो चक्र-नेत्र से देख रहा यह भग्न क्षेत्र—
लम्बे-लम्बे ऊँचे-ऊँचे भग्नावशेष,
ढहती प्राचीरो के विशाल
स्वार्थान्ध सभ्यता के क्रोधी तिमिरान्तराल
जिनमे से निर्मानिव गहरी वीरान गन्ध
के झोके उठ-उठ आते है उद्दाम अन्ध।
है अन्धकार मे भी दिखते साकार स्पष्ट,
गुम्बज-गुम्बज के भग्न भाल आकार-भ्रष्ट।
उनकी चीरो मे से अनेक,
उग आये पौधे वक्र-रेख!
है स्वप्न-प्रतीको-सा कराल
गुम्बज पर जँगली पीपल का वह डाल-जाल।
एकान्त शून्य वह सिहद्वार
जिसके ऊपर की ऊँची मजिल पर ऊँचा है अन्धकार
जिसके अन्दर हो रही स्फूर्ति
स्वर्थान्ध-सभ्यता के शासन की काम-पूर्ति!!
जगली शृगाल सौ बुद्धि-भ्रष्ट
निर्बोध प्राणियो को खा जाते या देते है महाकष्ट
विश्वास-स्नेह अभिशापग्रस्त
स्वार्थान्ध सभ्यता की प्राचीरो के पथरीले तल समीप
की भूमि खोद
औ' नरम-नरम मिट्टी निकालकर एक ओर
गह्वर-गह्वर मे करते हैं आराम श्वान
ये रोज शाम
उद्ध्वस्त मुहल्लो की जमीन सूँघते हुए
फिरते रहते चिर-उदरम्भरि ये कामचोर—
अवसरवादी ये बुद्धिमान!!

ऊँचे-ऊँचे लम्बे-लम्बे भग्नावशेष
वृक्षो-से दैत्याकार गये छाया अशेष—
उनके गहरे सघनान्तराल
से गूँजें उठती है अशान्त,
हैं आसमान चीरती हुई उठती रहती
ऊँची पतली चीत्कारो की काँपती हुई स्वर-रेखाएँ अतिशय विचित्र
औ' किन्ही दानवी हाथो घुटते हुए कण्ठ
से उठती एकाकी पुकार

उद्भ्रान्त विलक्षण व्याकुल एकाकी अपार ।
चीत्कारो का क्रम, घोर ठहाको का दानवी अनुक्रम भीम
परकोटे प्राचीर श्याम पारकर उतर
जगल के वीराने मे छा जाता-सा है
पगडण्डी पर चलते पथिको के कानो मे
भग्नावशेष की कहानियाँ गाता-सा है !!
है प्राण त्रस्त
मानो धरती आकाश
सभी अभिशापग्रस्त ।
लम्बे-लम्बे, ऊँचे-ऊँचे विस्तृत समूह
अथवा ढूहो के चक्रव्यूह !!
उनके गहरे विवरो से उठती है काली मृत्यु की हूह !!
गहरे-गहरे कूओ मे (हो भूख से बिहाल)
हो रही आत्महत्याएँ
इस रात को कराल,
औ', हाय ! दूसरी ओर, तीसरी मजिल के
वासी, परन्तु—
स्वर्थान्ध सभ्यता के शासक दानवी जन्तु
(निज कोषागार-स्थित रक्षक नाग-से सजग प्रतिपल सतर्क)
चाहते कि दुनिया
रहे मूर्छना मे विजडित नि शेष गर्क ।

रात्रिचर आलोचक विहग
निज चक्र-नेत्र से देख रहा यह भग्न क्षेत्र
वीरान अँधेरी जगहो की
अपने अन्तर मे लिये हूक
विद्रूप आत्म-चेतस उलूक
है रहा सोच
'भग्नावशेषवासी लोगो मे कोई भी क्या नही जो कि
कुछ मूलभूत वे प्रश्न पूछ
कर दे उद्घाटित विद्यमान
सभ्यता विषम का अतिकुरूप चेहरा व मूँछ !'
वह रहा सोच
'भग्नावशेषवासी लोगो की हाय ! चेतना है
कि मूर्छना का प्रसग
मैं अपनी ही चेतना तीव्र
के कारण एकाकी असग !!
विद्रूप सत्य का महासगठन (काल-जाल)
विकराल देख
मेरा भी विद्रूप-रूप हो गया एक

मैं तीक्ष्ण द्रष्टृ
अति-क्षुब्ध दुष्ट
हूँ मासाशी, चिर-प्रतिस्पर्धी (दोषातिरेक)
अति घोर किन्तु, मेरे अन्तर की
व्यथित हूक,
    विद्रूप आत्मचेता उलूक !
सहारात्मक बुद्धि लिये पर कर्महीन
मै आलोचक निशिचर विहग
जिसके दोषो, अपराधो, अक्षमता-सीमा
का मै प्रतीक
उस व्याधिग्रस्त सभ्यता विषम
की व्याख्या भी हूँ सप्रसग !!

'पर, सघर्षो की घाटी पर
वह स्तब्ध
धधकता हुआ लाल अगार-चन्द्र
कालान्तशील वह महाबिम्ब
फैलाता है भग्नावशेष-विस्तारो पर—
दु सह कराल
कालिमा दिगम्बर पर
अपना आलोक-जाल—
वह एक अर्थ—
करता मेरे मस्तक मे व्याकुल तडित्-नृत्य !!
जन-जीवन के उद्वेगो का
गम्भीर सत्य
कर दे विचूर्ण द्रुत
मेरा यह अस्तित्व घोर
हो जाय भस्म यह एकाकी मस्तक कठोर !!
विध्वसो की भूरी छाया
मे पली हुई इस आत्मचेतना के निधान—
श्यामल-श्यामल
गहरा-गहरा गम्भीर ध्यानवाला
उलूक-व्यक्तित्व हाय
.....
मिट जाय, और
इस स्तब्ध धधकते हुए लाल
अगार-चन्द्र मे सिमट जाय !!

'काले एकाकी आसमान
मे (विषम चेतना लिये) तीव्र

ये मेरे उडते हुए पख
गल जायँ, और
झर जाय प्राण मे से उदास
भावो का सूखा हुआ पक !!
धुल जायँ जिन्दगी से मेरे
भग्नावशेष की छायाओ के श्याम अक !!'

उस रात
सभी ने सुनी गूँज
बेकल अबूझ ।
सूझते हुए भी जो असूझ-सी रही
कि ज्यो मस्तिष्क-कोष
पाकर अन्दर व्रण, गये सूज !!

वीरान अँधेरे मे सत्वर भागती हुई
चीखती हुई विक्षिप्त
वह नाले की कमजोर धार
हो गयी अचानक
बद्ध-वाक्
जिस पर निशिचर था स्थित विहग
उस भव्य भग्न मीनार घोर
की ईंटे भी
गनगना उठी । बरगद विशाल
बुदबुदा उठा
'मै रहा जानता है कराल
आगामी के गीत की टेक' ।

वीरान हवा चीरते हुए उड गये पख
चीखकर एक
व्याकुल प्रभीम दुर्धर्ष हूह !!
सुन, कॉप उठे सब स्याह ढूह !
भयभीत हुए
स्वार्थान्ध सभ्यता के शासन के चक्रव्यूह
गह्वरवासी कृमि-कीट,
भद्र शोषक अनन्त,
सोचने लगे
'आ गया हमारा घोर अन्त',
सुनकर, उलूक का नव प्रयाण
निज नीद छोड भागे श्रृगाल
'भीषण यह देशद्रोह हाय !!'

भौंके असख्य भयभीत श्वान
चौके अजान !!

भग्नावशेष-तिमिरान्तराल
से उठी चीख
'है उदाहरण यह, हमे सीख,
छावो, छावो
उखडी भीतो की खडी पीठ।
प्रतिपल चौडी होती दरार
को रही निरन्तर जो निहार
फोडो, फोडो वे आँखे,
गहरी आलोचक एकटक दीठ।'

स्वार्थान्ध सभ्यता की सीमा नापती हुई
वह क्षेत्र-परिधि पर बहती (नाले की)
व्याकुल कमजोर धार
सब दूर ज़ोर से कर पुकार
बोली कि
'उदित है स्तब्ध-भीम
वह लाल धधकता हुआ गोल अगार-चन्द्र
स्वार्थान्ध सभ्यता की फूटी
इमारतो औ' मीनारो पर है रुधिर-कान्ति
वह रक्तारुण आलोक बिछा दीवालो पर
रँग गये बुर्ज औ' सिहद्वार
जिनके अन्दर के प्रागण का, भग्नान्तराल
का
दिखता रहता अन्धकार
जो थी भूरी, रक्ताभ हो गयी हताश्वास
ढहती प्राचीरो के सिर पर वह उगी घास
मै अन्धकार मे बहती थी,
देखा न कभी था हाय !! मूर्त
दु स्वप्न चित्र
स्वार्थान्ध सभ्यता का विचित्र !!'

विक्षिप्त दीन झरने की उस चीखती धार
मे मर्म-सत्य की
घोर चेतनामय पुकार
सुनकर,
हतबुद्धि 'सुसस्कृति' के भग्नावशेष
सब सिहद्वार, ऊँचे गुम्बज,
मन्दिर, विहार

खोजने लगे अपने अन्दर का अन्धकार
सारे शृगाल, सब श्वान, सर्प, कपि और रीछ
बरगद पीपल के पास भग्न मीनार नीच
स्मृति-स्तूप घोर जन-वध के, सारे स्याह ढूह,
प्राचीर, तिलिस्मी कारागृह,
स्वार्थान्ध सभ्यता के शासन के चक्रव्यूह
वे घोर अहकारी शोषक काले कठोर
कृमि-कीट और उनके सहजीवी कामचोर
हो गये किसी गम्भीर
भयानक आत्मचेतना मे विलीन
देखने लगे आत्मान्धकार
के परदे पर—
अतिशय कराल
नीली लहरो का तडित्-नृत्य
या मृत्यु-सत्य के व्याकुल चचल नील-व्याल !!
देखने लगे—
निज-अन्धकार से भरे क्षीण मस्तिष्क दीन
की अन्दर की भीतो पर ही
आसन्न मृत्यु के घोर कर्क-वृश्चिक नवीन !!

रक्तिम सघर्षो की घाटी के क्षितिज-तीर
पर स्तब्ध धधकता हुआ लाल अगार-चन्द्र
मुस्करा उठा
हो गयी सुनहली स्मित विशाल
जन-सघर्षो की निर्णायक
स्थिति आ पहुँची आकुल कराल
पीडा के श्यामल महासिन्धु
की लहरो का उत्तुग स्फार
टकराने औ' तोडने लगा कालान्त-द्वार !!

जन-सघर्षो की घाटी पर
फैली अपार चाँदनी नील
घूमने लगी तिगुनी गति से
पृथ्वी की वेगायिता कील
चक्कर खाकर बेहोश हुए भग्नावशेष
खो गये अबूझे अन्तरिक्ष
मे वे पापी कण-कण अशेष
धरती के सुमधुर चेहरे पर
स्वार्थान्ध सभ्यता के गहरे काजली चिह्न
मिट गये, हुआ वह दीप्त रूप कोमल प्रसन्न !!

खिल उठे सुविकसित मानव के
मधु सवेदित व्यक्तित्व कोष
चाँदनीभरे नभ मे युगान्त
का उठा घोर
उल्लास-घोष ।
जन-जीवन की सघर्ष-व्यथा
फिर हुई कथा की एक बात
मुक्ति के मधुर उद्धत मुख पर
खिल उठी धूप, खिल उठा प्रात ।।

[सम्भावित रचनाकाल 1952-53 । नागपुर । भूरी-भूरी खाक-धूल मे सकलित]

चेहरा गम्भीर उदास

[विभिन्न प्रारूपों के अशो का क्रमबद्ध सयोजित रूप ।—स]

चेहरा गम्भीर उदास हुआ जाता-सा है—
ज्यो ओढ धुँधलका साँझ छुपी जाती-सी है
जन कहते रहते—बौद्धिक गहरे चिन्तन से
दिल का गम्भीर समास हुआ जाता-सा है ।

मुख की सूखी साँवली त्वचा पर मेहराबो
यानी भौहो पर घना अँधेरा फिरता है ।
गृह ओर लौटते चरणो से गुजित होकर
जब पगडण्डी सुनती है चलनेवालो के
अपनी-अपनी सब कष्ट-कथाओ के ही स्वर ।

वे धँसे हुए जलते नेत्रोवाले जन - जन
पीले कपोलवाले स्वदेश की मानवता
अपना गरीब जन-राष्ट्र देश का चित्र लिये
सूखे कूएँ मे गिरी बालटी टूटी - सी
त्यो परित्यक्त असहायावस्था मे जीकर
भी अधिकाधिक मानव बनने की कोशिश मे
जिनका कपाल रक्ताल हुआ, कटि टूटी-सी—
वे भी आगे बढने की हिम्मत रखते है ।

पर उनका जीवन देख हुआ मै करुणाकुल
उनकी बातें करती रहती मुझको व्याकुल ।

यह दृश्य देख उर रोता हे भीतर - भीतर
पर मन कहता है यह क्यो, यह सब क्यो
ओ आत्मे, तेरे जीते - जी ये बाते हो
छोड दे माँ अपने शिशु को नाली मे धर।
देश की जिन्दगी का जहाज़ जब टकराये
भूख की प्लेग की चट्टानो पर, टीलो पर
तब मन मे क्रोध ग्लानि करुणा स्वाभाविक है
विक्षोभ भयानक शोषक हिंस्र कबीलो पर।

शायद ऐसे ही गहरे भावो मे डूबा
भूरे रेगिस्तानो के फैलावो मे यो
गेरुई लाल सँवलाती सन्ध्या के नीले
गम्भीर उजेले के फैलावो मे डूबा

है देख रहा कोई डूबा हे सूर्य जिधर
सँवलाये लाल दाग-सी गहरी क्षितिज-दिशा
उसके विस्तार-प्रसारो मे नव दिवस - निशा
वह देख रहा कोई भारत का पैगम्बर

जीवन - आदर्श प्रभीम तिलिस्मी खण्डहर है
जिसके ऊँचे ध्वसो के टूटे शिखरो पर
प्रेम के चमेलो बुर्जो पर मीनारो पर
अस्वाभाविक हँस रहा चाँद जादूगर है।।

[सम्भावित रचनाकाल 1952-53। नागपुर। अप्रकाशित]

किसे मै लिखूँ पत्र

किसे मैं लिखूँ पत्र, किसको बुला लूँ ?
लिखूँ वह सभी जो लकीरो-बँधा खिंच रहा है हृदय मे
पुकारूँ किसे ज़ोर से व्यग्र स्वर मे ?
उठे नील आकाश मे गूँज पहुँचे, न पहुँचे
किसे स्नेह के सूक्ष्म
मृदु रश्मि-तारो ग्रथित कर
तुरत दूर से खीच हिय मे सुला लूँ ?
कहूँ—रात मे चल रहे दो सितारे,

हमारे बिना भी, जगत के बिना भी,
कि हम भी रजत युग्म से क्यो न नभ मे
चले अन्त-आरम्भ के छोर छूने,
अँधेरी-भरी दूरियो को मिटाते
कि हम भी स्वय-पूर्ण गति के निमिष क्यो न पाये
शरद की कपूरी मधुर धूप की
मृदु सुनहले कपोलो-भरी गौर ऊष्मा
हमारे अधर, नेत्र के सामने आ
मुझे कह रही है कि मेरा निमन्त्रण
नही जानता हूँ कि इस स्निग्ध गति का
यहाँ भाग्य क्या है ?
प्रथम मेघजल-सा, नवल स्नेह-चुम्बन
किसी ने किसी के अधर मुग्ध आँका
कि उन पारदर्शी उरो के
अतल आग्रही नील जल मे बही एक झॉका
किसी का बदन
मौन मेरा वदन वह
भुजाओ-बँधे स्नेहियो के उरो मे
छिपा नील तालाब जाने न जाने
नही जानता कि इस भावना का यहाँ लक्ष्य क्या है ?
नही जानता हूँ कि क्या चाहता हूँ
सभी चाहता हूँ ।

थकी म्लान धूमिल मलिन साँझ की नित
उसाँसो-भरी, धूल-धुँधली
गरम वायु मे जब
थकी राह पर म्लान छाया-सरीखे
खडे नम्र गृह-द्वार दिखते
डुबो क्षीण आकार-रेखा तिमिर मे
कि अन्दर बिछे दीप-आलोक मे पीत
अन्त स्थिता गूढ करुणा छिपाते हुए मौन
वातायनो के हृदय की
सुदृढ वेदनाबद्ध सकल्प की मूर्ति से
या कि गृह-रक्षको से
झुकी साँझ मे ये खडे नीम-बरगद
किसी अनकहे भाव मे वे
स्वय-पूर्ण गम्भीर व्यक्तित्व पाकर
सघन, गाढ, सम्पूर्ण, तल्लीन होते
कि वे बाह्य श्यामल दिवालो-बँधी उस
गृहान्तस्थ आलोक मे व्याप्त करुणा-व्यथा के

अमर भव्य सर्जन सरीखे,
झुकी साँझ के इन प्रणत-प्राण
श्यामल पलो मे
विनत-मन, विनत-पत्र होकर
अमर मृदु किसी भव्य सत्तानुभव से
धुले-से नहाये,
कि कवि-दार्शनिक-से समुत्तुग दिखते
कि इनके गहन-गाढ सच्छाय उर मे
कथाएँ पडोसी गृहो की, गृहो के उरो की
अकथ वेदनाओ-बसी डोलती है,
बसी, डोलती है।

नही जानता हूँ कि इनके हमारे
हृदय-प्राण-सम्बन्ध का अर्थ क्या है
न जाने कहाँ से उठा भार धीरे
चली, साँझ शहनाइयो की अकेली
करुण क्षीण कोमल लकीरे
कि जिन पर लिखित मूर्त शब्दावली-सी
गहन अनुभवो की,
करुण स्नेह की मूरते तैर आती
तुम्हारे-हमारे हृदय की कथा के
असख्य चरित्रो सरीखे
कि जिन मूरतो से
तुम्हारा-हमारा खरा, पूर्ण जीवन
निखरकर अकस्मात् गम्भीर होता
चमकते हुए तारको का सुविस्तार लेकर
निशाकाश जैसे।

चतुर्दिक दिशाएँ स्वय प्राण के केन्द्र मे बद्ध करके
कि ज्यो सर्वत फैलता मुग्ध जीवन
कि व्याकुल वही गूढ स्पन्दन
किसी भाव मे क्षुब्ध आकुल व्यथा के
अँधेरे समुद्रो-तले जो कि डूबी हुई है कथाएँ
उन्हे खीच लाता अतल से दृगो मे,
हृदय की कथाएँ कि जीवन कथाएँ
चलित-चित्र-सी घूमती हैं
रुलाती-हँसाती
किसी साँझ, लम्बी अथक राह चलते
इसे मै कहूँ क्या ?
धरित्री गहन गर्भ मे मौन निर्झर-सरीखा

हृदय के निभृत मे सजल एक चुपचाप
आवेग बहता
नही जानता हूँ कि इस स्नेह का हाय ! उद्देश्य क्या है ?
तभी सोचता हूँ अहेतुक मृदुलता
न जाने (न जाने गये, कौन ?) कितने उरो मे
कुएँ मे मधुर झीर की धार-सी नित्य
झरती रही है।

यही सोच मेरे दृगो मे अकस्मात्
आँसू चपल आक्रमण कर चमकते
किसी गाढ भ्रातृत्व की भावना मे
नयन देखते अश्रु के दो तरल काँच मे से
खिचे स्नेह-मुख
मौन ऐसे जनो के
कि जिनके सुदृढ वक्ष के शैल-पाषाण—
की गूढ अन्त स्थिता सन्धियो से
दृगातीत बहते मधुर-नीर निर्झर
कि जिनके छिपे त्याग-पीछे
ढुकी है लजाई हुई तीव्र-करुणा
कि फिर फेरते दृष्टि ये नेत्र मेरे
उन्ही मौन गृह-दीपको, और
जिनके कुसुम-स्निग्ध आलोक मे मन्द
सिकती हुई रोटियो की गरम गन्ध
औ' तीव्र, कड़ुआ धुआँ श्याम हलका
(स्पृहा मे मिली मौन अस्पष्ट चिन्ता-सरीखा)
वहाँ छा रहा है
खिली दीप की लौ विभा मे
गहन प्रार्थना है उमगती
सुखो औ दुखो, स्नेह-चिन्ता-व्यथा के
छुपे उद्गमो से
झुकाती हृदय, शीश, तल्लीन गम्भीर
सौभाग्य-कुकुमवती युवतियाँ
मौन चिन्ता-व्यथा इन सभी की
कि भावी बिछोहो-सरीखी मुझे वेदना-भार देती
नही जानता हूँ कि इनसे सभी से गहन मोह-सम्बन्ध का अर्थ क्या है ?

नही जानता हूँ कि इस वेदना का यहाँ लक्ष्य-उद्देश्य क्या है ?
कि उन दीपको की विभा मे प्रकाशित
धुली भीत पर दीख पडते प्रलम्बित
विविध चित्र ये गाढ छाया-शरीरी

घनी काजली दीर्घ बकिम पृथुलतम
लकीरो-बँधे मौन-गति मे उभरते
उतरते किसी दूरवासी
दृगातीत गह्वर-विवर से
सुखो औ' दुखो के कि आँसू क्षुधा के
विवश मृत्यु की रात के आपदा के
अनाहूत शिशु-जन्म के जीर्ण तन के
स्वय-वचना के, पराधीन मन के
कि सकल्प की जागरित-नेत्र बेचैन राते
दिवस की पुरानी पुन वचनाए, व्यथा-खिन्न बाते
पुन कष्ट-जीवन, पुन दीन आशा
उबरकर पुन प्राप्त बल, दृप्त भाषा
हृदय मे पुन स्वर्णसर, स्वर्ण केसर
पुन स्नेहगम्भीर नव-मेघ-व्यक्तित्व का भव्य अन्तर
कि सघर्ष-विश्वास
फिर जय पराजय, पुन वचनाएँ
अकस्मात चुपचाप चिल्ला उठा हूँ
इन्हे नेत्र के सामने पा उभरते
कि 'मानव
प्रवचित हृदय से, प्रवचित नयन ले, प्रवचित उदर ले
बहुत कष्ट-वाही
बहुत मूर्ख, अत्यन्त—
बने किन्तु कितने अतल प्राणप्यारे
हृदय पर बिछी दो भुजाओ-सरीखे,
कि उमगे दृगो मे अरे अश्रु मीठे,
दिखा चित्र—
प्रतिदिन कठिन त्याग-वीरत्व
की शैल-पाषाण-वपु देवता-मूर्ति के सुस्मिताधर
विशद भाल, ऋजु-तीव्र मृदु नासिका-कोर
को चूमते है
हृदय लाल-सा होम के धूम के नाग शत-जिह्व लहरा
दिखा चित्र•••
गहरी अहलीन अभिलाष के ठूँठ पीले
हृदय श्याम गह्वर खडे जल रहे है
बसन्ती गगन-स्वर्ण-से नग्न
ज्ञान-व्यथा-ज्वाल आलिगनो मे
दिखा चित्र
श्यामल दिवालो-बँधे उस गृहालोक मे से
निकलते चले जा रहे मौन धुँधले पथो पर
सघन मेघ की भीर-से, धीर-गम्भीर

शत-शत चरण
काव्य-भावानुभव-बद्ध शत शीर्ष
दिखते सहज व्योमचुम्बी ।

उमडते हुए क्रुद्ध तूफान औ' मेघ-विद्युत्
हिये मे बलात् सयमी बन्धनो मे लिये बॉध
आपादमस्तक कि आव्योमचुम्बी
किसी सत्य की रक्त-सवेदना मे
चले जा रहे घोर सग्राम पथ पर
चतुर्दिक् बिछी रात के चीर अवसाद
मिटे चित्र—
देखा कि गृहदीप वैसे पुन स्थित
पुन स्तब्ध निश्चित
अरे ! किन्तु, मेरे
तरल ऑसुओ मे चमकती प्रलम्बित
चपल रश्मि-शाखा-प्रशाखा
करुण तीव्र दीर्घ सुनहली शलाका
कि जो दीप-लौ से निकल
या निकल नेत्र से दीप-लौ तक खिंची है
परस्पर मिली,
भिन्न फिर, फिर मिली
खिंच गयी चीरती दीर्घ दूरी अँधेरी
कि ज्यो देश कालान्त को चीर मेरी
हृदय सूचनाएँ वहन कर रही हो
हमारे भरे दृग
सजल रश्मि-रेखा-पथो से
गहन साँझ की धुन्ध मे लीन
धुँधले दियो के घरो को
पुन प्राण से गाढ करते चले हैं
कि यो जोडते ही चले जा रहे है
विकल प्राण से
उन घरो के दियो को
नही जानता हूँ कि किस वेदना का
यहाँ लक्ष्य-उद्देश्य क्या है ?

[अपूर्ण । सम्भावित रचनाकाल 1952-53 । **रचनावली** के दूसरे सस्करण पहली बार प्रकाशित]

सहर्ष स्वीकारा है

जिन्दगी मे जो कुछ है, जो भी है
सहर्ष स्वीकारा है,
इसलिए कि जो कुछ भी मेरा है
वह तुम्हे प्यारा है।
गरबीली गरीबी यह, ये गभीर अनुभव सब
यह विचार-वैभव सब
दृढता यह, भीतर की सरिता यह अभिनव सब
मौलिक है, मौलिक है
इसलिए कि पल-पल मे
जो कुछ भी जाग्रत है अपलक है—
सवेदन तुम्हारा है ! !

जाने क्या रिश्ता है, जाने क्या नाता है
जितना भी उँडेलता हूँ, भर-भर फिर आता है
दिल मे क्या झरना है ?
मीठे पानी का सोता है
भीतर वह, ऊपर तुम
मुसकाता चाँद ज्यो धरती पर रात-भर
मुझ पर त्यो तुम्हारा ही खिलता वह चेहरा है !

सचमुच मुझे दण्ड दो कि भूलूँ मै भूलूँ मै
तुम्हे भूल जाने की
दक्षिण ध्रुवी अन्धकार-अमावस्या
शरीर पर, चेहरे पर, अन्तर मे पा लूँ मै
झेलूँ मै, उसी मे नहा लूँ मैं
इसलिए कि तुमसे ही परिवेष्टित आच्छादित
रहने का रमणीय यह उजेला अब
सहा नही जाता है।
नही सहा जाता है।
ममता के बादल की मँडराती कोमलता—
भीतर पिराती है
कमजोर और अक्षम अब हो गयी है आत्मा यह
छटपटाती छाती को भवितव्यता डराती है
बहलाती सहलाती आत्मीयता बरदाश्त नही होती है ! !

सचमुच मुझे दण्ड दो कि हो जाऊँ
पाताली अँधेरे की गुहाओ मे विवरो मे

धुएँ के बादलो मे
बिल्कुल मैं लापता ! !
लापता कि वहाँ भी तो तुम्हारा ही सहारा है ! !
इसलिए कि जो कुछ भी मेरा है
या मेरा जो होता-सा लगता है, होता-सा सम्भव है
सभी वह तुम्हारे ही कारण के कार्यों का घेरा है, कार्यों का **वैभव** है
अब तक तो जिन्दगी मे जो कुछ था, जो कुछ है
सहर्ष स्वीकारा है
इसलिए कि जो कुछ भी मेरा है
वह तुम्हे प्यारा है ।

[रचनाकाल 1953। नागपुर। **साहित्यकार**, (1953), मे तथा **नया खून**, (1955), मे प्रकाशित। **भूरी-भूरी खाक-धूल** मे सकलित]

बी॰ स्ता॰ [बीमार स्तालिन]*

बीमार हो तुम और मस्तक मे रुधिर की धार
गहरी बह पडी है
यह खबर सुन दु ख की
मेरे हृदय मे भी रुधिर की धार
गहरी बह पडी है।

देख मूर्छा-ग्रस्त नीरव यह तुम्हारी देह
है हतचेत क्रेमलिन की घनी दीवार,
कैसी यह घडी है !!
देखती तुमको खडी अनिमेष
मानो हाय की हिय साँस
हिय ही मे अडी है !!

किन्तु, मेरे इस घनेरे
नर्मदा तट की मढैया
के स्वय दिल की घडी का
एक काँटा रुक गया है,

* पांडुलिपि के हर पृष्ठ पर 'बी स्ता ' लिखा हुआ है जो स्पष्ट ही 'बीमार स्तालिन' का सक्षिप्त रूप है।—स०

टूटकर गिर-सा चला—
जिस क्षण कि अन्धकार
मस्तक मे तुम्हारे झुक गया है।

रे, तुम्हारी मूर्छा की यह खबर है
या किसी सूने क्षितिज-से
यो चली आती हुई-सी गिद्ध-पखो की भयानक
एक काली छाँह का यह मृत्यु-सा विकराल
हम पर भी असर है !!

जीर्ण तन नगे बदन
इस विन्ध्यवन के आदिवासी—
के कठिन ईमानवाले
मेहनती बेडौल प्यारे
सरल चेहरे पर उदासी का अँधेरा
पुत गया है !!
और दिल की इन सघन
चिनगारियो के अग्नि-रथ मे
जिन्दगी का विप्लवी तूफान सारा
जुत गया है !!

कोयले की खान के भूगर्भ-मार्गो के अँधेरे मे
हथेली मे कुदाली हाय खाती काँपती है !!
और दुखती आत्माओ-सी हवाएँ
राहगीरो के हृदय से लिपटती है, भेंटती है
जिन्दगी की इन अजब
स्तालिन-रहित पगडण्डियो को नापती है !!

फावडे से खबर पाकर
काम करते रुक गयी थी धकधकाकर
हाय ! गेती झुक गयी जब शिथिल होकर
कष्टजीवी जिन्दगी की
अनुभवी मोटी तगारी,
बस, तुम्हारी याद की यह सघन गीली
आर्द्र मिट्टी ढो रही है
यात्रा के वेग मे ज्यो साथ चलते चाँद-तारे
त्यो तुम्हारी कीर्तिगाथा
रे, हमारी जिन्दगी की याद बनकर
प्राण सहचर हो रही है
लेखनी बेबस कि तूफानी हवा मे

शुष्क टहनी के सिरे-सी कॉपती है,
किन्तु अपने आत्म-कम्पन शब्द-स्वर से
वृक्ष-स्वर से
स्वर्ण-क्षितिजो को बुलाती
गगन-सीमा नापती है ।।'

जन-हृदय के घाव पर पत्थर पुन ज्यो गिर पडा हो—
तिलमिलाती वेदना की चीरती-सी सनसनी को
बन्द करने ज्यो हथेली लाल फोडा ढाँपती है
त्यो तुम्हारी मूर्छा के समाचारो
से हुए आहत हिये के
बहुत दर्दीले विचारो—
पर, तुम्हारी कीर्तिगाथा
जन-भविष्यत्-स्वप्न मे डूबी हुई
उत्फूर्त साँसे फूँकती है
मानवी भवितव्यता को नापती है आज ऐसे
भव्य गरमीले हृदय की विश्वदर्शी
यह तुम्हारी कीर्तिगाथा ।।

बुद्धिजीवी पत्रकारो के हिये की बात क्या है
क्रान्तकारी कार्यकर्ता का हृदय-आघात क्या है
यह न पूछो, यह न सोचो
आग लगने से धधकता हो कही जगल निराला
क्षितिज गहरी रात का वीरान काला
ज्यो स्वय ही लाल उजियाला बने पगडण्डियो पर
त्यो तुम्हारी मूर्छा से दु ख-कातर
हृदय ज्योतिर्धर बना जलता हुआ सकल्प लेकर
नित उजाला कर रहा है
देश के नव ऐतिहासिक कर्म की पगडण्डियो पर
साँझ के वीरान गहरे साँवले फैले पलो मे
एक चिथरे से ठिठुरते देह की लज्जा सँवारे
वृद्ध माता
देहली पर बैठ अपने
श्रमिक-पुत्रो से तुम्हारी कीर्तिगाथा
नव्य रामायण कथा को सुन रही है
और उसके श्याम मुख पर
भव्य आशय लाल आभा मलिन चिन्ता साँझ जैसी तन रही है।

दिव्य अस्तगमित रक्तिम भव्य रवि से
मात्र ओझल हो गये हो ।।

लाल गगा मे नहाता क्षितिज रक्तिम हो गया है।
साँझ के गम्भीर पल मे
आसमानी बादलो के रक्तध्वज सब झुक गये है।

[सम्भावित रचनाकाल 1953। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

देख कीर्ति के नितम्ब इठलाते

देख कीर्ति के नितम्ब इठलाते—
लालच ने पुकार की
पीडाभरी हुकार की,
लोभ-ईर्ष्या, तब रगीन
उडछू पख पसारकर
उन्ही नितम्बो पर जा बैठे
उनका रग उभारकर,
नितम्ब बढते गये—प्रतिष्ठा के महत्त्व के सार थे।

मस्तक और नितम्बो का अपना विरोध भी खूब था,
यश के ढोल धडधडाते ही जाता मस्तक डूबता।
बौने भाल कि बैठे-दबे ललाट थे—
जब नितम्ब सम्राट थे।
शोध नही, न बुद्धि-मस्तक के मुक्ति-मार्ग का प्रश्न था,
नये महत्त्वो के उभार मे अह-उदर या शिश्न था।

शुद्ध प्रशसा की मेहराबो मे जो साज-सँवार के
सुन्दर परदे गये लगाये भव्य प्रतिष्ठा-द्वार के—
खुले आज वे पन्ने सब अखबार के।
अखबारो पर, पुस्तक-पत्रो पर यह बन्दनवार-सी
नाम-छपाई-बडेपने की पक्ति—
पक्ति थी लार की
सोते मे भी आकाक्षा की लार कि अपरम्पार थी।
निज-महत्त्व का लेबल चिपकाकर छाती से रात-दिन,
स्वप्न देखते रहते बौद्धिक-भावुक-कल्पक-भूतगण।

डाल बालटी, पानी खीचा जब सत्यो के कूप-से—
निकल पडे तब उछल अह के कवि तार्किक मण्डूक-से।

जल के साथी दर्दुर मुखर मसखरे प्रखर स्वरूप मे
सही बहुत कि खूब रहते है ये सत्यो के कूप मे ।

गहन-भावना की परछाई ओढे बहुरूपिये कई—
फिरती है पुरस्कार पाने अब कलाकार मूरते कई
रसायनी कविता-प्रतिभा की जादूगर-कीमिया नयी
अपनी प्रयोगशाला मे
आत्माएँ—भूत बनायी गयी
भूतो की है सूरते कई ।

जनता, सस्कृति, जीवन, मानव
का भी लेते नाम ये
किन्तु—देह मे चरबी के थर,
अपने तन की सब सतहो पर
खूब कमाते चाम ये,
प्रदीप्त जिह्वा
लोभी लौ या
इनके हिय मे चरबी का ही दीप है
मानव के प्रति—
आँखे ठण्डी चमकीली-सी सीप है ।

इन्हे देख, बढते नितम्ब अब मस्तकहीन महत्त्व के,
गुड के ढेले पर चढते चिउँटे है मत्सर-तत्त्व के ।
यश के चोर व प्रतिभा की कुलटा की भैया-दूज है,
हिय की कोमल त्वचा-त्वचा पर अहकार की सूज है ।

लेकिन, जन-गलियो मे जलता
सूरज का प्राचीन दिया
किस दिन किसको कैसे किसने
कहाँ व कितना खून दिया
इसकी गिनती नही किसी ने रक्खी क्योकि स्वभाव है,
सबमे बँट-छँटकर रहने मे मन का मीठा भाव है !!

जाने कितने सन्त पल रहे हैं मटियाले वेश मे
द्वार-द्वार ये नगे पाँवो घूम रहे सन्देश है !!
जिनकी पीडा आध्यात्मिक सवेदना
इन गलियो की प्रेरणा
ये किरणे, यह धूप !! न इनका नाम है
ये प्राणो के बीज—न इनको कीर्ति-श्री

किन्तु लहलहाते इनके सब काम है
और चमकती इनकी सुन्दर नेत्र-श्री।

[सम्भावित रचनाकाल 1953-54। नागपुर। **भूरी-भूरी खाक-धूल** मे सकलित]

बॉह पसारे बोला था आकाश

बाँह पसारे बोला था आकाश—
काश, तुम मेरे उर पर सिमटी होती
सिमट सकी होती जीवन मे !!
उत्तर दिया धरित्री ने—
आलिगन मे बँध, निरुद्ध होकर
विचरण कैसे कर पाती मैं
आकर्षणमय
भव्य तुम्हारे चन्द्र-सूर्य-नक्षत्र-समन्वित नील जगत् मे
विचरण कैसे कर पाती मैं ?

जवाब सुन
धक हुई
व्योम की कम्पित छाती
नूतन अभिप्राय ने मानो कैंची से काटी थी बाती
भभक रहे कन्दील दीप की।

कविता तब मोतिया सीप थी
धरती के उस एक अश्रु के लिए
कि जो नभ की कमजोरी देख चला था।
लेकिन, नभ तो
आसमान था—
स्वय उतर वह
झरनो, नदियो, झीलो के नीले प्रवाह के रूपो मे
धरती के उर पर पिघल चला था।

[सम्भावित रचनाकाल 1953-54। नागपुर। **भूरी-भूरी खाक-धूल** मे सकलित]

जब प्रश्नचिह्न बौखला उठे

जीवन के प्रखर समर्थक-से जब प्रश्नचिह्न
बौखला उठे थे दुर्निवार

तब एक समुन्दर के भीतर
रवि की उद्भासित छबियो का
गहरा निखार
स्वर्णिम लहरो मे झल्लाता
झलमला उठा,
मानो भीतर के सौ-सौ अगारी उत्तर
सब एक साथ
बौखला उठे
तमतमा उठे ।।
सघर्ष-विचारो का लोहू
पीडित विवेक की शिरा-शिरा
मे उठा-गिरा,
मस्तिष्क-तन्तुओ मे प्रदीप्त
वेदना यथार्थो की जागी ।।
मेरे सुख-दुख ने, अकस्मात् भावुकतावश
सुख-दुख के चरणो की
मन-ही-मन
यो की 'पा-लागी'—
कण्ठ मे ज्ञान-सवेदन के,
आँसू का काँटा फँसा और
मन मे वह आसमान छाया,
जिसमे जन-जन के घर-आँगन
का सूरज भासमान छाया
झुरमुर-झुरमुर वह नीम हँसा,
चिडिया डोली,
फरफर-आँचर तुमको निहार
मानो कि मातृभाषा बोली—
जिससे गूँजा यो घर-आँगन
खनके मानो बहुओ की चूडी के कगन ।
मैं जिस दुनिया मे आज बसा,
जन-सघर्षों की राहो पर
ज्वालाओ से
माओ का, बहनो का सुहाग-सिन्दूर हँसा बरसा-बरसा ।
इन भारतीय गृहिणी-निर्झरिणी-नदियो के

घर-घर मे भूखे प्राण हँसे।
दिल मे आँसू के फव्वारे
लेकर मेरे ये छन्द
बावरे
बुरी तरह यो अकुलाकर,
बूढे पितृश्री के चरणो मे लोट-पोटकर
ऐसी पावन धूल हुए—
बहना के हिय की तुलसी पर
घन छाया कर
मजरी हुए,
भाई के दिल मे फूल हुए।
अपने समुन्दरो के विभोर
मस्ती के शब्दो मे गभीर
तब मेरा हिन्दुस्तान हँसा।
जन-सघर्षो की राहो पर
आँगन के नीमो ने मजरियाँ बरसायी।
अम्बर मे चमक रही बहना बिजली ने भी
थी ताकत हिय मे सरसायी।
घर-घर के सजल अँधेरे से
मेघो ने कुछ उपदेश लिये,
जीवन की नसीहते पायी।
जन-सघर्षो की राहो पर
गम्भीर घटाओ ने
युग-जीवन सरसाया।
आँसू से भरा हुआ चुम्बन मुझ पर बरसा।

ज़िन्दगी नशा बन घुमडी है
ज़िन्दगी नशे-सी छायी है
नव-वधुका बन
यह बुद्धिमती
ऐसी तेरे घर आयी है

रे, स्वय अगरबत्ती-से जल,
सुगन्ध फैला
जिन लोगो ने
अपने अन्तर मे घिरे हुए
गहरी ममता के अगुरु-धूम
के बादल-सी
मुझको अथाह मस्ती प्रदान की
वह हुलसी, वह अकुलायी

इस हृदय-दान की वेला मे मेरे भीतर ।
जिनके स्वभाव के गगाजल
ने युगो-युगो को तारा है,
जिनके कारण यह हिन्दुस्तान हमारा है,
कल्याण-व्यथाओ मे घुलकर
जिन लाखो हाथो-पैरो ने यह दुनिया
पार लगायी है,
जिनके कि पूत-पावन चरणो मे
हुलसे मन
से किये निछावर जा सकते
सौ-सौ जीवन,
उन जन-जन का दुर्दान्त रुधिर
मेरे भीतर, मेरे भीतर ।
उनकी बाँहो को अपने उर
पर धारण कर वरमाला-सी
उनकी हिम्मत, उनका धीरज,
उनकी ताकत
पायी मैने अपने भीतर ।

कल्याणमयी करुणाओ के
वे सौ-सौ जीवन-चित्र लिखे
मेरे हिय मे जाने किसने, जाने कैसे ।।
उनकी उस सहजोत्सर्गमयी
आत्मा के कोमल पख फँसे
मेरे हिय मे,
मँडराता है मेरा जी चारो ओर सदा
उनके ही तो ।
यादे उनकी
कैसी-कैसी बातें लेकर,
जीवन के जाने कितने ही रुधिराक्त प्रात
दु खान्त साँझ
दुर्दान्त भव्य राते लेकर
यादें उनकी
मेरे मन मे
ऐसी घुमडी
ऐसी उमडी
मानो कि गीत के
किसी विलम्बित सुर मे—
उनके घर आने की
बेर-अबेर खिली,

क्रान्ति की मुसकराती आँखो
पर, लहराती अलको मे बिँध,
आँगन की लाल कनेर खिली ।
भूखे चूल्हे के भोले अगारो मे रम,
जनपथ पर मरे शहीदो के
अन्तिम शब्दो मे बिलम-बिलम,
लेखक की दुर्दम कलम चली ।
दुबली चम्पा
जन-सघर्षों मे
गदरायी,
खँडहर मकान मे फूल खिले, तल मे बिखरे
जीवन-सघर्षो मे घुमडे
उमडे चक्की के गीतो मे
कल्याणमयी करुणाओ के
हिन्दुस्तानी सपने निखरे—
जिस सुर को सुन
कूएँ की सजल मुँडेर हिली
प्रात कालीन हवाओ मे ।
सूरज का लाल-लाल चेहरा
डोला धरती की बाँहो मे,
आसक्तिभरा रवि का मुख वह ।
उसकी मेधा की ज्वालाएँ ऐसी फैली—
उस घासभरे जगल-पहाड-बजर मे
यो दावाग्नि लगी
मानो बूढी दुनिया के सिर पर आग लगी
सिर जलता हे, कन्धे जलते ।
यह अग्नि विश्वजित् फैली है जिन लोगो की
वे नौजवान,
इतिहास बनानेवाला सिर करके ऊँचा
भौंहो पर मेघो-जैसा
विद्युत्-भार
विचारो का लेकर
पृथ्वी की गति के साथ-साथ घूमते हुए
वे दिशा-काल घन वातावरण-पटल-जैसे
चलते जन-जन के साथ
वे हैं आगे वे हैं पीछे ।

अनजानी खोहो और खदानो के
तल मे
ज्यो रत्न-दीप जलते

त्यो जन-जन के अनपहचाने अन्तस्तल मे
जीवन के सत्य-दीप पलते !!

दावाग्नि-लगे जगल के बीचोबीच बहे
मानो जवान सरिता
जलते कूलोवाली,
इस कष्टभरे जीवन के विस्तारो मे त्यो
बहती है तरुणो की आत्मा प्रतिभाशाली।
अपने भीतर प्रतिबिम्बित जीवन-चित्रावलि
लेकर जो बहते रहते है,
ये भारतीय नूतन झरने
अगारो की धाराओ-से
विक्षोभो के उद्वेगो मे
सघर्षों के उत्साहो मे
जाने क्या-क्या सहते रहते।
लहरो की ग्रीवा मे सूरज की वरमाला,
जमकर पत्थर बन गये दुखो-सी
धरती की प्रस्तर-माला
जलभरे पारदर्शी उर मे !!
सम्पूरन मानव की पीडित छवियाँ लेकर
जन-जन के पुत्रो के हिय मे
मचले हिन्दुस्तानी झरने
मानव-युग के।

इन झरनो की बल खाती धारा के जल मे—
लहरो मे लहराती धरती
की बाँहो ने
बिम्बित रवि-रजित नभ को कसकर चूम लिया,
मानव-भविष्य का विजयाकाक्षी आसमान
इन झरनो मे
अपने सघर्षी वर्तमान मे घूम लिया !!
ऐसा सघर्षी वर्तमान—
तुम भी तो हो,
मानव-भविष्य का आसमान—
तुममे भी है,
मानव-दिगन्त के कूलो पर
जिन लक्ष्य-अभिप्रायो की दमक रही किरने
वे अपनी लाल बुनावट मे
जिन कुसुमो की आकृति बुनने
के लिए विकल हो उठती हैं—
उनमे से एक फूल है रे, तुम-जैसा ही,

वह तुम ही हो।
इस रिश्ते से, इस नाते से
यह भारतीय आकाश और यह पृथ्वीतल,
बजर जमीन के खँडहर के बरगद-पीपल
ये गलियाँ, राहे, घर, मजिल,
पत्थर, जगल
पहचानते रहे नित तुमको जिन आँखो से
उन आँखो से मैने भी तुमको पहचाना,
मानव-दिगन्त के कूलो पर
जिन किरनो का ताना-बाना
उस रश्मि-रेशमी
क्षितिज-क्षौम-पट पर अकित
नूतन व्यक्तित्वो के सहस्र-दल स्वर्णोज्ज्वल—
आदर्श-बिम्ब मानव-युग के।
उनके आलोक-वलय मे जग मैने देखा—
जन-जन सघर्षो मे विकसित
परिणत होते नूतन मन का
वह अन्तस्तल
सघर्ष-विवेको की प्रतिभा
अनुभव-गरिमाओ की आभा
वह क्षमा-दया-करुणा की नीरोज्ज्वल शोभा
सौ सहानुभूतियो की गरमी,
प्राणो मे कोई बैठा है कबीर मर्मी
ये पहलू—पाँखे हैं, पखुरियाँ स्वर्णोज्ज्वल
नूतन नैतिकता का सहस्र-दल खिलता है,
मानव-व्यक्तित्व-सरोवर मे ।।
उस स्वर्ण-सरोवर का जल
चमक रहा, देखो
उस दूर क्षितिज-रेखा पर वह झलमला रहा।

ताना-बाना
मानव-दिगन्त की किरनो का
मैंने तुममे, जन-जन मे जिस दिन पहचाना
उस दिन, उस क्षण
नीले नभ का सूरज हँसते-हँसते उतरा
मेरे आँगन,
प्रतिपल अधिकाधिक उज्ज्वल हो
मधुशील चन्द्र
था प्रस्तुत यो
मेरे सम्मुख आया मानो

मेरा ही मन।
वे कहने लगे कि चले आ रहे तारागण
इस बैठक मे, इस कमरे मे, इस आँगन मे—
जब कह ही रहा था कि कब इन्हे बुलाया है मैंने,
तब अकस्मात् आये मेरे जन, मित्र, स्नेह के सम्बन्धन
नक्षत्र-मण्डलो मे से तारागण उतरे
मैदान, धूप, झरने, नदियाँ सम्मुख आयी,
मानो जन-जन के जीवन-गुण के रगो मे
है फैल चली मेरी दुनिया की
या कि तुम्हारी ही झाँई।

तुम क्या जानो मुझको कितना
अभिमान हुआ
सन्दर्भ हटा, व्यक्ति का कही उल्लेख न कर,
जब भव्य तुम्हारा सवेदन
सबसे सम्मुख रख सका, तभी
अनुभवी ज्ञान-सवेदन की दुर्दम पीडा
झलमला उठी।।
ईमानदार सस्कारमयी
सन्तुलित नयी गहरी विवेक-चेतना
अभय होकर अपने
वास्तविक मूलगामी निष्कर्षो तक पहुँची
ऐसे निष्कर्ष कि जिनके अनुभव-अस्त्रो से
वैज्ञानिक मानव-शस्त्रों से
मेरे सहचर हैं ढहा रहे
वीरान विरोधी दुर्गों की अखण्ड सत्ता।
उनके अभ्यन्तर के प्रकाश की कीर्तिकथा
जब मेरे भीतर मँडरायी
मेरी अखबारनवीसी ने भीतर सौ-सौ आँखें पायी।

कागज़ की भूरी छाती पर
नीली स्याही के अक्षर मे था प्रकट हुआ
छप्पर के छेदो से सहसा झाँका वह नीला आसमान
वह आसमान जिसमे ज्योतिर्मय
कमल खिला
रवि का।
शब्दो-शब्दो मे वाक्यो मे
मानवी अभिप्रायो का जो सूरज निकला
उसकी विश्वाकुल एक किरन
तुम भी तो हो,

धरती के जी को अकुलानेवाली
छवि-मधुरा कविता की
प्यारी-प्यारी-सी एक कहन
तुम भी तो हो,
वीरानी मे टूटे विशाल पुल के खँडहर
मे उगे आक के फूलो के नीले तारे,
मधु-गन्धभरी उद्दाम हरी
चम्पा के साथ
उगे प्यारे,
मानो ज़हरीले अनुभव मे
मानव-भावो के अमृतमय
शत प्रतिभाओ के अगारे,
उनकी दुर्दान्त पराकाष्ठा
की एक किरन
तुम भी तो हो ।।
अपने सघर्षों के कड़ुए
अनुभव की
छाती के भीतर
दुर्दान्त ऐतिहासिक दर्दों की भँवर लिये
तुम-जैसे जन
मेरे जीवन-निर्झर के पथरीले तट पर
आ खडे हुए,
तब मैंने नही पुकारा था—'तुम आ जाओ'
तब मैंने नही कहा था यो—
'मेरे मन की जल-धारा मे
तुम हाथ डुबो,
मुँह धो लो, जल पी लो, अपना
मुख-बिम्ब निहारो तुम ।
जब मेरे मन की पथरीली
निर्झर-धारा के कूलो पर,
गहरी घनिष्ठता की असीम
गम्भीर घटाएँ घुमडी थी,
गम्भीर मेघ-दल उमडे थे,
औ' जीवन की सोधी सुगन्ध
जब महकी थी
ईमानभरे बेछोरे सरल मैदानो पर
तब क्यो सहसा
तूफानी मेघो के हिय मे
तुम विद्युत् की दुर्दान्त व्यथा-सी
डोली थी,

तब मैने नही कहा था—'अपनी आँखो मे
भावातिरेक तुम दरसाओ ।'
जब आसमान से धरती तक
आकस्मिक एक प्रकाश-बेल
विद्युत् की नील विलोल लता-सी
सहसा तुम बेपर्द हुईं
जब मेरे मन-निर्झर-तट पर
तब मैने नही कहा था—'मुझको इस प्रकार
तुम अपना अन्तर का प्राकार बना जाओ ।'
लेकिन, सघर्षो के पथ पर
ऐसे अवसर आते ही है,
ऐसे सहचर मिलते ही है,
नभ-मण्डल मे अपने को उद्घाटित
करता चलता है सूरज
इस प्रकार,
जीवन के प्रखर समर्थक-से जब प्रश्नचिह्न
बौखला रहे हो दुर्निवार !!

[इसके बाद जो अश इस कविना के साथ 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' मे छपा था, वह किसी अन्य कविता का टुकडा था जो किसी गडमड के कारण इस कविता के साथ जुड गया था। इस कविता के कई प्रारूपो की पाण्डुलिपियो को देखते-देखते इसका वास्तविक बाकी अश भी मिल गया जिसे यहाँ जोडा जा रहा है। ऐसा भी जान पडता है कि इस नये अश का एक खण्ड मुक्तिबोध ने 'उत्तर' शीर्षक से शायद किसी पत्रिका मे प्रकाशनाथ भेजा होगा। जो अश इस कविता से अलग किया गया है उसे दूसरे खण्ड के अन्त मे कविताओ मे शामिल कर दिया गया है।—स.]

जीवन के प्रखर समर्थक-से जब प्रश्नचिह्न
बौखला उठे थे दुर्निवार,
तब एक समुन्दर की लहरो मे नाचा था
रवि का उभार,
या क्रोध-व्यग्य मे मानो मुसकाया कोई,
या वह मेरी ही आत्मा की थी परछाईं
जो व्यस्त हुई, उद्विग्न
विचारो के गम्भीर कपोलो पर
बनकर अगारो का निखार !!

आन्तरिक गहन विक्षोभो से तमतमा उठे थे
मानव-गरिमा के कपोल,
कर्मण्य मूल आस्थाओ के
गहरे नेत्रो मे चमक उठे

घनघोर वास्तविकताओ के
जलते खगोल !!

वन-थूहर के पथहीन प्रदेशो मे तुमको
हिय-रुधिर-स्नात
रक्ताल
मिला था एक
विवेकी-ज्ञान-रश्मि-रजित प्रभात !!
मैं भी बबूल के देशो से
लाया था अपने साथ-साथ
उस-जैसा ही
व्यक्तित्व एक !!
हाथ मे लिये था
हृदय-रुधिर से रँगा हुआ
अपने सहचर ज्ञान का हाथ ।
मेरी आँखो मे क्रुद्ध श्याम
चट्टानो की चिलचिलाहटे,
जगल-पौधो के मूलो-सी
अन्तर्ग्राही आदते और राहे, बाते,
उनके पाशो मे मूल-बद्ध
तुम हुईं कि तुमको भायी थी,
इसलिए, हमारी राह यहाँ तक आयी थी ।

युग के निर्माण-प्रवाहो की
इतिहास-प्रक्रियाओ मे रह,
विकसित होते नक्षत्रो की
ब्रह्माण्ड-प्रक्रियाओ मे बह,
आदिम-प्रकाश-मेघो मे लिपटे
नूतन ग्रह-सी
सम्मुख तुम अवतरित हुईं !!

नूतन आलोको से क्षालित
मेरे चेहरे पर रहता है
दिन-रात एक ज्योतिर्मय-मण्डल का प्रकाश ।
आँखो से ओट रहो तो भी
कन्धे से कन्धा मिला रही
है वह सस्मित आभास-मूर्ति
जो तुम हो तुम !!

छाया-व्यक्तित्व चला करता नित साथ-साथ !!

पृथ्वी की गति के साथ-साथ
ज्यो उष काल चलता जाये
त्यो चमत्कार-सवेदन होता रहता है
इस मेरे कठिन कर्मपथ पर !
दिन-रात कष्टमय जीवन की
सन्त्रस्त अँधेरी दुनिया मे
सघर्ष-विवेको की तुम रक्तिम
ज्वाल-पुज
कितनी सुन्दर,
तुम गुथी हुई स्वाभाविकता
की ज्ञान-स्मिता
अनुभव-विशेषिता लौ।
तुम उलझी हुई सरलता की प्रतिभा
कि मात्र गन्ध से वस्तु बता सकनेवाली
सवेदन-क्षमता ज्ञान-अस्मिता हो !
कि तुम बेचैन चिटखती चिनगारी की बास
झार
या महक वेदनाओ की,
चाहे जो कह लो।
वह रूप तुम्हारा है जो मैंने देखा है
जब काँटे और कँटीले तारो के गहरे
उलझावो मे फँस बस्त्र विदीरित-से
या लज्जा उघरी-सी।
मेरी आँखें नीची है प्राणो मे केवल
है झल-झल बहता हुआ रुधिर
पर क्या परवाह कि दुनिया बहुत गोल है जी
जब दहक उठी हो तुम जैसे सक्रिय उत्तर
औ' उठा चुकी हो तुम अनुभव-सघर्षों-विवेको की कुठार
जीवन के प्रखर समर्थक-से जब प्रश्नचिह्न
बौखला उठे थे दुर्निवार !!

जीवन के प्रखर समर्थक से जब प्रश्नचिह्न
बौखला उठे थे दुर्निवार
मेरे मन मे उतरे उत्तर
जैसे पहाड को धो-धोकर
बल खा-खाकर
मैदानो मे उतरे प्राजल गम्भीर रम्य
गगा अदम्य !!

मै स्वय चमत्कृत था कैसे मै शक्तिमान

तूफानो-सा, कर पार सात सागर औ' सारे महाद्वीप
पहुँचा विनम्र हो उस घर पर
जिसमे तुम थी
गम्भीर शान्ति से आस-पास के नीम और पीपल मे बस
मर्मरित चतुर्दिक करता मै अपनी पुकार
जिसको सुनकर तुम हुई
        एक केन्द्रीय सत्य-सी दुर्निवार !!

यह दुर्निवारता, किन्तु सहज थी नही मिली
भीतर की, बाहर की कठोर दीवार और
चटियल धरती थी हिली—
कशमकश की भूचाली अँगडाई मे अकस्मात्
फट गयी धरा हिय के अगारो के नक्षत्र उभर आये
दुर्दान्त सत्य के अग्नि-रत्न के कोष खुले !!
मालूम नही था मुझे अँधेरी खानो मे से एक रत्न
के लिए युगान्तर इस प्रकार है सप्रयत्न
अपने भूचालो अस्त्रो के आघातो को यो रहा गुँजा
भीतर की चटियल धरती को दे रहा सजा
बाहर की दीवालो मे करता था दरार
इस परिवर्तन की अग्नि-प्रक्रिया के उभार
मे इतना ही था मुझे भान—
उद्दाम वेदनाओ की विद्युत लहरो मे मै आर-पार
हो गया कि पाये नये ज्ञान-गम्भीर प्राण
मन के विचरण के नये देश

अब तक मैं देखा करता था—
उपमा के वातायन मे दीप्त प्रतीक नेत्र !
पर सम्मुख अब जलते यथार्थ के कर्म-क्षेत्र
मालूम मुझे क्या था कि
            युगान्तर के अस्त्रो से लगातार
बन रही एक
वह भीतर धँसती हुई लीक
जो रत्न-कोष के गहन विवर
तक चली गयी
मेरे भीतर के जन-मानव के मूल सत्य तक चली गयी
वह नयी जिन्दगी के अपनेपन का उत्तर !!
मै तो केवल यह कहता था—
मेरे भीतर के अग्नि-शिखर
ले ज्वाल-वलय-नेत्रो मे नूतन विश्व-चित्र
ललकार रहे है निशा अँधेरी पाप-छाय
मालूम मुझे क्या था कि युगान्तर ही का वह था अभिप्राय ।

मै तो केवल यह कहता था—
जब घने और घुँघराले मेघो का प्रभीम गरजा उभार !!
उद्दाम अखिल भरती सागर
पर उडते सिन्धु विहगम की
आँखो मे अकस्मात् चमकी
ज्योति की उर्मि—
यो जिसे देख
नभ की तिरछी धाराओ की विपरीत मार
को सहते सिन्धु-विहग की तेजस्वी गुहार
ज्यो आर-पार हो गूँज जाय
त्यो मेरी एक चुनौती के सौ अभिप्राय
मालूम मुझे क्या था कि खडा मेरे अन्दर
फावडा टेककर विश्व-युगान्तर महाकाय
चिल्लाकर हाथ उठाकर देता था जवाब
ज्यो जान जाय, सारी धरती सारा अम्बर
दुर्दान्त जिन्दगी के अपने मन के उत्तर
मैं व्यर्थ श्रेय लेता था इन सबका अशक
जिसने देखे-निरखे परखे
युग के विचार के अग्नि-पख
उसको तो नम्रतर घास से भी विनम्र होना है,
ज्योकि सफलता को प्रयास के पग धोना है।

[सम्भावित रचनाकाल 1953-54। नागपुर। **चाँद का मुँह टेढ़ा है** मे सकलित]

अगर तुम्हें सचाई का शौक़ है

अगर तुम्हे सचाई का शौक है
तो खाना मत खाओ तुम
कहते है बुद्धिमान
पहनो मत वस्त्र और
रहो तुम वनवासी बर्बरो की स्थिति मे
सडको पर फेंक दो
अपनो को बच्चो को
वीरान सूरज की किरनो से घावो को सेक लो
दुनिया के किसी एक
कोने मे चुपचाप

जहर का घूँट पी
मर जाने के लिए
माता-पिता त्याग दो
अपनी ही जिन्दगी के सिर पर
डाल तुम आग लो ।।
अगर तुम्हे सचाई का शौक है
तो बीवी को दुनिया के जगल मे छोड दो
मृत्यु के घनघोर अँधेरे को ओढ लो
अगर तुम्हे सचाई का शौक है
तो भूखो मर जाओ तुम
स्वय की देह पर केरोसीन डालकर
आग लगा भवसागर पार कर जाओ तुम
अगर तुम्हे जीने की गरज़ है
तो शरण आओ हमारे
चरण मे बैठ जाओ
हमारी खटिया पर, पलग पर लेट जाओ
पैर यदि लम्बे हो ज़्यादा तो
उन्हे काट देंगे हम
खटिया के बराबर-बराबर
देह छाँट देगे हम
खटिया के बाहर अगर
जाते हो हाथ तो,
उन्हे छाँट डालेगे
पलग के बराबर-बराबर
तुम्हे काट डालेगे ।।
हमारी खाट बहुत छोटी है
अगर न जम सको तो
यह तुम्हारी
किस्मत ही खोटी है
दीर्घतर हमसे यदि दूर तक
जाती हो दृष्टि—
निकाल आँखे लेंगे हम
काँक की नयी आँखे बैठाकर
काम तुमसे लेगे हम
हम-जैसे खोटे सिक्को-जैसे तुम चल जाओ
हमारी आत्मा के साँचे मे ढल जाओ
यदि तुम्हे जीने की गरज है ।।

यदि तुम्हे जीने की गरज है—
हमारे हवामहल मे

इन्द्र का अण्डरवेअर
अप्सरा की इन्द्रधनुषी चूनरी
रम्भा का लहँगा पहन
सास्कृतिक नाच नाचो
शिखण्डी के रहस्यवादी
नये सामरस्यवादी
मुद्राओ मे मन्द-ताल द्रुत-ताल
यह बात सही है कि बहरहाल
तुम्हारे घर मे चाहे जलें
या न जले चूल्हे
नाचो-नाचो मटकाओ-मटकाओ
अपने कूल्हे ।।

सर्कस हे, रिंगमास्टर बडा ज़बर्दस्त है
कारोबार चुस्त उसका, हम ही अस्तव्यस्त है ।।

[अपूर्ण । सम्भावित रचनाकाल 1953-54 । नागपुर । अप्रकाशित]

कहते हैं मुझको

कहते हैं मुझको वे
सूरज के चेहरे को
डामर से पोत दो
बादल के मैले उस
गदहे पर बिठलाकर
निकालो जुलूस तुम
कलमुँहे सूरज का—अम्बर मे ।।
कनिस्टर हम पीटेंगे
कैरोसीन पीपे का ढोल हम बजायेंगे
ठोकेंगे टीन हम
भोपू करखानो का बजायेगा शख और
अम्बर मे कलमुँहे सूरज का जुलूस तब
निकलेगा शान से ।।
जुलूस यह निकलेगा
ठण्डा दिल होगा तब
भीतर भरी हुई गालियाँ सब बक लेगा ।।

कहते है मुझको वे
कमीना है सूरज वह
किरनो के हाथो से
अँधेरे की साडी को खीचकर
उघारता दुनिया को
नगी कर देता है पृथ्वी को।
तुमको भी, हमको भी।
सोचो तो, अँधेरे मे
खड्ढे सब खाइयाँ, छाती की
गालो की, आँखो की
डरावनी
दिखायी कहाँ देती है
ऐसे ही दृश्यो को
आती जो पोछने
रातें है सुहावनी।।

[अपूर्ण। सम्भावित रचनाकाल 1953-54। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

मुझे तुम्हारा साथ मिला है

मुझे तुम्हारा साथ मिला है
मुझे हिमालय-हाथ मिला है,
कन्धा मिला विशाल गगन का
वक्ष मिला मुझको जन-जन का
नयन मिले मुझको धरती के
आज जिन्दगी के ही जी के
आसूँ मिले, मिले अगारे
रवि-सा जलता माथ मिला है
मुझे तुम्हारा साथ मिला है।

तुम गलियो की गहराई-से
उगी रश्मि की लम्बाई-से
पथ दरसानेवाली पीली
तेज नुकीली अरुणाई-से।।
जिन सघर्षों मे से मस्ती

लेकर बनी हुई है हस्ती
उसकी प्रतिभा आँखो मे से
(अथवा सुर्ख सलाखो मे से)
प्रकटी ज्यो सच्ची ज्वालाएँ
गहरी स्वर्णकिरण मालाएँ
कष्टो के जगल मे पसरी
कर्तव्यो की भूरी गहरी
पगडण्डी से बिछे हुए हो
जन-जन के दरवाजे पर तुम
बसा रहे नवजीवन सरगम
नूतन सपनो को उभारते
मेरे जैसो को गुहारते ।

बढा रहे गलियो की धडकन
तुम सघर्षी गान गा रहे
मुक्ति युद्ध आख्यान गा रहे
रुँधे अश्रु का गला साफ कर
मानो मेघ कवित्त गा रहा
महावेदनामय लहरो की
ज्यो सागर वीणा बजा रहा
शब्द तुम्हारे प्रतिध्वनियो मे
बार-बार सब ओर घूमते
पुन -पुन ज्यो तडित् कौंधती
भव्य सुरो से फूट रश्मि-कण
दुनिया के सब छोर चूमते
तुम गाते काली बयार मे
आशा की लकीर दर्दीली
भग्न गृहो के अन्धकार मे
उकसाते लौ तेज नुकीली ।

[सम्भावित रचनाकाल 1953-54। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

हवा के बहाव से

हवा के बहाव से
यह रेत ढालवे की आज
बहती है, गिरती है, झरती है खड्ड मे—
किसी कोने मे जमती है
जमती ही जाती है !!
वैसे ही बहाव से किसी
लोग-बाग फिजूल-सी
ऊलजलूल गतियो मे बहते है
खड्डो मे गिरते है
अँधेरे किन्ही कोनो मे घिरते है
बेबसी के बनाव से, बे-बनाव से !!
अज्ञान की बिजली के तारो पर
भले-भले इरादो के नीलकण्ठ
चिपककर मर जाते है—
मर गये है बे-सही सहारो पर !
कँटीले तारो की पूर्वाग्रही बागड—
के अन्दर जो
विचारो की चम्पा का खिला है तरु
उसके सफेद फूल
आदतो की कुटियो के जीर्ण-शीर्ण छाजन पर
मटियाले कत्थई छप्पर पर
सफेद फूल
फैले और सूख गये !!
खँडहर के दृश्यो मे अपना पथ
मेरे पद चूक गये !!
अन्तर के भीतर जो
मानवीय बन्धन के पवित्रतम धागो से डोरो से
बँधा हुआ है शक्ति का औदुम्बर
उसके सुकुमार उन तागो को
आदतो की दासता ने, भावो की शिथिलता ने
ढिलाई ने कुतर-कतर डाला है।
विचार अच्छे है, किन्तु भीतर की शक्ति कभी
क्षुब्ध नही होती है।
अन्तर के भीतर से उदग्र किसी
प्रकाण्ड गुरु प्रयत्नो का
वेग नही बहता है !!
वेदना कभी चण्ड नही होती है इतनी कि

जिन्दगी को बदल दे वह ।।
सरिता को बहने की नूतन दिशाएँ दे
हम लोग अच्छे है किन्तु, समाचार बुरे है ये कि
ढालवे से लुढकते हुए
पत्थर-से रेती-से बहते है
स्थितियो के ढालवे पर
विचार ये बढते है नियन्त्रित लुढकते है
आगे ही बढते ही रहने का करते है स्वाँग ये
ऊलजलूल गतियो मे फिजूल-से ।।

[सम्भावित रचनाकाल 1953-54। **रचनावली** के दूसरे सरकरण मे पहली बार प्रकाशित]

पहली पंक्ति

पहली पक्ति न बन पायी जब—
नूपुर-स्वर भर, छन्द थम गये आँगन म ही
कहन रुक गयी दरवाज़े पर,
भौचक तुम यो सहम गयी ज्यो
मीठे एकान्तो मे वाणी भरम गयी हो,
तेजस्विनी मधुरता ने कुन्तल खोले थे।
गिरि पर चढकर, आसमान ज्यो खुले अचानक
नील दृश्य-विस्तार तुम्हे यो मिले अचानक।
तडिल्लता-सी एक दीप्त अनुभूति खडी थी,
तेजस्विनी मधुरता ने कुन्तल खोले थे।
अपनी उलझन के कारण जब
शब्द हुए बेपर्द बिचारे,
तब नीरवता ने ही झुककर पल्ला थामा।
सघन हुआ एकान्त घेरकर नीरवता को ।।
तारोभरी रात ने अपनी गुत्थी खोली,
गुत्थी खोली समीर-स्वर मे धीरे-धीरे, हलके-हलके
वृक्ष-पर्वतो-झरनो की गूँजो मे ढलके।
रेतीली सरिता के कूलो पर चल-चलके
हवा हो गयी गीली-गीली,
वातायन से बहकर आयी लहराती समीर शरमीली।
पहली पक्ति न बन पायी जब

कमल विकसने चले सरोवर-नीरवता मे,
धीरे-धीरे, हलके-हलके कलियो ने पखुरियाँ खोली,
बाते होती चली हवा के लहराते बहाव-सी बहकर।
आसमान झुक आया नीचे,
समा गया कमरे मे सारे,
क्षालित कर सब दीवालो को।
मैदानो के विस्तारो की चित्रावलियाँ
एकाक्षर मे समा गयी थी।
उपमाएँ आँगन से आयी,
शब्द-शब्द यो खयाल-डूबे—
तरु ने मानो वृक्ष-मित्र की
शाखो मे शाखे उलझायी।
छन्द गूँजने लगे कान मे,
मानो सपने आसमान से उतर चले है नये भान मे।
और कल्पना की किरनो ने
भावो को वलयित कर डाला।
उन्हे क्षितिज-विस्तार दिया, सवृत कर डाला,
पहली पक्ति बन गयी थी तब।

[सम्भावित रचनाकाल 1954-55। **धर्मयुग** मे प्रकाशित। **भूरी-भूरी खाक-धूल** मे सकलित]

आज मैंने शक्ति के

आज मैंने शक्ति के अमृत का घूंट पिया,
धरती ने अपना धानी घूंघट उघारकर
मुझमे अपना ज्वलन्त वसन्त निहार लिया।।

मेरी हृदय-अग्नि के आसव को पिये, अरे
धरती ने खिलाये है ज्वलन्त लाल-लाल
नये-नये फूल कैसे लगते हैं आगभरे
जीवन-सुहागभरे।।

मैंने पहचाना भी नही कि वे मेरे हैं,
धरती को कहा तेरे फूल सब तेरे है
वसन्त नही हूँ, केवल तेरी ही लावण्यमयी,
छाया हूँ, तेरी ही जो तुझ पर ही छा गयी।।

धरती औ' वसन्त के समान ही जो नाता है
धरती है मानव तो वसन्त मानवता है !!

[सम्भावित रचनाकाल 1954-58 नागपुर। **भूरी-भूरी खाक-धूल** मे सकलित]

पीत ढलती हुई साँझ

पुर के प्रसारान्त मे पीत
ढलती हुई साँझ

दिन के निरे व्यर्थ श्रम-भार उपरान्त
हिय के अरुण भाव-अगार पर भस्म की पर्त
उठते हुए धूप के स्तम्भ-सी घोर आकार
चिन्ता भयकर असद्-अर्थ
गहरी उदासी तमाकार
मन मे घिरी और
चेहरे-बसी म्लानता-कालिमा फैलती है क्षितिज तक
भयकर घृणा एक
कालान्तकारी पसरती विघातक
विरागी हुए प्राण मानो कि
वैराग्य की धूल से सन
किसी पीर की कब्र बरगद-तले भग्न वह आज
अवसन्न बेमन।
लगता कि ब्रह्माण्ड खल्वाट्
जीवन हुआ बाँझ
पुर के किनारे खँडेरो-थमी पीत
ढलती हुई साँझ।
दिन के निरे व्यर्थ श्रम-भार उपरान्त
घर लौटते वक्त
आत्मा हुई हाय! नि शक्त
आँखे अरे! देखती है—
उदासीभरी साँवली मूर्ति फीकी
कि घर के अँधेरेभरे एक सूने विवर मे
प्रतीक्षातुरा आत्मा है किसी की
व है पास निस्तब्ध शिशु दो
कि विपदानुभव से सयाने

की विश्वमय ज्योति
मैले धुएँ-काजली बॉस-छत के घरो मे
समा जाय नव-नील नि सीम आकाश
सूने अँधेरेभरे गृह-विवर मे चले आयँ फैले
मधुर चाँदनी से भरे
पथाकित अनाद्यन्त मैदान
ढीली हुई चौखटो की खुली खिडकियो से
बहे जायँ सब ओर
पीले कि सूखे हुए अस्थि-रेखित
चिन्तानुशोषित मुखो से समुद्गत
महाक्षोभ के, क्रान्ति के
वेदना-ज्ञान-सवेदना-गान ।।'

सुनता रहा मै यही एक गम्भीर
घन-गर्जना-सी असन्दिग्ध आवाज़
चिन्ता-मलिन सॉझ नाराज़
हिय चीरती कह रही प्राण के भाव
दुखते हृदय के गहन शब्द रक्ताक्त
रुधिराक्त वाणी कि सर्वत्र थी व्याप्त
जिससे महाप्रेरणामय अनाद्यन्त
मानव-कथा नव हुई एक जीवन्त
जो वेदना की तडपती लहर-सी
हृदय चीरती जा बसी प्राण मे तीव्र
विजयिष्णु झकार
जिससे हृदय मे खिला है
दहकते हुए लाल अगार का फूल
मौलिक महासूर्य का सत्य आमूल
दिन के निरे व्यर्थ श्रमभार उपरान्त
घर लौटते वक्त
भीषण विषैले घने मेघ के पुज-से भाव, लाचार
सब ओर बिखरे कि भागे
भयाहत मलिन स्यार
गिर जाय मोटी घनी ज्यो परत—
कूल की मृत्तिका-कोर, जलधार
यो कट गयी बह गयी-सी लगी आज
व्यक्तित्व की घोर
धूएँ-जली स्याह दीवार
ढह ही गयी छत—हुआ उर अनावृत
कि मन-प्राण मे आ समाया
गहन-नील आकाश ।

ओझल हुई साँझ की आखिरी
नील परछाइयो मे
(कि गृह-ओर जाते हुए यो किसी सत्य की झाँइयो मे)
हुई आत्मा शान्त-द्युति
ज्ञान-विश्वास माधुर्य-आवास !

धीरे उठा नील नीरव गहन मेघ
हौले लगा मापने मुक्त आकाश के मील
धीरे उठा नील-द्युति इन्द्र ।
भीगा हुआ कुन्द-चम्पा-चमेली-जुही साँस मे वह खिला चन्द्र
क्षिप्रा किनारे हरी दूब की रात्रि-शीतल
मधुर नम-नरम साँस
है कूल-मैदान पर मुक्त फैला हुआ वह
कुहरवासिनी चाँदनी से भरा स्वच्छ आकाश
मेरी गली के अँधेरे हृदय मे
उठा तैरता-सा (मधुर नील आकाश के स्पर्श का) हास
हैं धुल उठे-से गली के मलिन कूल
क्षिप्रा-पुलिन की पवन की लहर से
उदासी-व्यथा की हटी काजली धूल ।

मै सोचता चल रहा हूँ कि कैसे मिटाऊँ
थके पैर मे यह समायी हुई मोच
कैसे जलाऊँ लगे ज़िन्दगी मे
कठिन आपदा की
ततैयोभरे घोर छत्ते
यही एक अनुशोच
इसी सोच के साथ-ही-साथ
श्यामल गली की कठिन ज़िन्दगी हो गयी दृश्य दु स्वप्न साक्षात्
देखा कि टूटी हुई खाट
पर एक बीमार का घोर धँसता हुआ ठाठ
धब्बे सभी ओर दीखे दुखी रक्त के लाल
बहता हुआ रक्त, फूटा हुआ भाल
पागल हँसी, भाग्य का शीर्ष खल्वाट्
सन्ताप से घोर सूखे हुए ओठ
पिचके हुए गाल
आँखो-रमी एक पागल चमक क्योकि
उर मे घटित कष्ट सन्ताप विक्षोभ विभ्राट्
खाँसी पुरानी सरीखे कि है भूख के कष्ट दारिद्र्य के ठाठ
आत्मा गली की नयी एक उद्भ्रान्त सवेदना बन
हमारे हृदय मे बनी कष्ट-कम्पन

कि निज के परे, औ' स्व के पार
श्यामल गली की महावेदना का नया एक ससार
गहरी गली के हमारे जगत् मे कि
सह-भाव अनुभूति का चाँद
सबका वही चाँद वह एक आह्लाद
सकल्प सघर्ष नव बुद्धि का सूर्य
सबका वही सूर्य
सबका समाकार समशील है हर्ष-अवसाद
निज के परे, औ' स्व के पार—
निज के, स्व के कष्ट के मूल-कारण गहन-स्रोत
का चित्र हो ही गया स्पष्ट साकार
निज के परे औ' स्व के पार—!!!
उपन्यास के मूल जलते हुए रग
पे मानवी काव्य मानव-चरित् मूल व्यक्तित्व के अग
खुल-से गये ज्ञान-निष्पत्ति रस-भाव के सग
गहरी गली के जगत् का नया भाव-सम्भार
उद्देश्य अभिप्रेत आदर्श
है एक सघर्ष, है रक्त सघर्ष
क्या व्यक्ति का भाग्य रुधिराक्त पथ पर
कि यह त्याग का काल, ये क्रान्ति के वर्ष
गहरी गली की रुँधी आत्मा मे बिंधा
सत्य का दिव्य जलता हुआ शर
इसी सोच के साथ-ही-साथ
बढता चला मै कि गृह-ओर
गत-खेद, हत-शोक
मेरी प्रतीक्षा कि थी कर रही मौन
गृह-श्वास, गृहिणी गृहालोक
सत्य के पास था सत्य का श्वास
सन्देश-सा रत, विश्वास-सा भव्य
लाया अरे, आज गृह मे नया एक कर्त्तव्य
सघर्ष की शक्ति सघर्ष का स्वप्न
सघर्ष का श्वास
गृह मे नया एक वातावरण हास
गृह-दीपको मे उठी फुरफुराती हुई ज्योति
गृह-मस्तको मे उठी सरसराती हुई वात
गहरी नयी वेदना मे चमकती हुई-सी
हुई एक शुरूआत
गहरे उसी भाव के लोक मे वे गये फैल गम्भीर
सबके हमारे हृदय हो गये एक
दीवार पर मानवी गूढ छाया हुई गाढ

था प्राण सघात कि विचार की बाढ
आत्मा हुई गाढ,
प्रगाढ थी शक्ति-अनुभूति
गहरी गली की सबल आत्मा ने
कि चुपचाप कर दी अपरिपक्व व्यक्तित्व की पूर्ति

उस रात गहरी गली को दिखा स्वप्न सुविशाल
उतरा घने वृक्ष पर नील
ज्वाला-रुचिर भव्य स्वर्णिम विहग एक
जलते दमकते हुए पख फैला
कि बोला विषम शब्द विकराल
भावी किसी रक्त-गम्भीर घटनावली का
किया तीव्र सकेत
गहरी गली के फटे वृक्ष पर
हो गया एक कालान्तकारी महायुद्ध अभिप्रेत
अन्याय था गाढ,
विरुद्ध थे लोग नारी युवा वृद्ध
दुर्दान्त सघर्ष की ज्वाल
थे ध्वस के मेघ अनिरुद्ध
पृथ्वी हुई युद्ध के बाद रूपान्तरित धन्य
गहरी गली हो गयी राजपथ, लोग सुप्रसन्न
जन-जन सुखी, भव्य अनुरक्ति का काल
उतरा घने वृक्ष पर फिर वही स्वर्ण-खग
गीत-तत्पर नयी स्वर्ण-खग-माल
उस रात गहरी गली को दिखा
स्वप्न सुविशाल
दुर्दान्त सुख-स्वप्न की ज्वाल।

[सम्भावित रचनाकाल 1954-58। नागपुर। **भूरी-भूरी खाक-धूल** मे सकलित]

मैं कमल तोड़कर लाऊँगा

मैं कमल तोडकर लाऊँगा
है दूर पहाडो पार,
सरोवर मे,
जादू का एक कमल
मैं उसे तोड़कर लाऊँगा।

नीले पानी का लहरीला फैलाव लिये
रेशमी स्पर्श की झील नयी
बालू के शान्त किनारो का
एकान्त-खुलाव-स्वभाव लिये
पानी का मीठा लहरीला बरताव लिये
जो नीले डूबे हुए उजाले भरी हुई
लहराती गहराइयाँ
कोई झील नयी
उसमे धरती-तल से आकस्मिक फूट पडे
अगारे-सा
जो लाल गुलाबी तारा है
जल ने ज्वाला का प्रतिनिधि रूप निखारा है
उसका चुम्बन कर हवा अरे, चचल होकर
दूरियोभरे उस आसमान के चमकीले
रश्मियोभरे गाँवो-शहरो मे खेल गयी
इस कमल-दीप्ति का
आसमान के गाँवो से सम्बन्ध हवा ने कौन निहारा है
पूछना पडेगा मुझे महान् हवाओ से।

झील की सतह पर खिली हुई
अपनी पखुरियाँ फैलाये
वह लाल गुलाबी तारा है
या नभ को पृथ्वी के मन का
निर्व्याज उदार इशारा है
नभ ने क्योकर
कोमल दूरी कर पार
किरण का हाथ पसारा है ! !
मैं कमल तोडकर लाऊँगा
रास्ता पूछता हुआ वहाँ तक जाऊँगा
अज्ञातवास दूर हटा
मै उसे प्रकाश-वास का स्थल बतलाऊँगा ! !

पूछना पडा पथ,
बुद्धिमान वट-पीपल से
पाण्डित्यभरा पचाग कि उत्तर-जन्त्री था
पूछना पडा पथ,
भाववान कवि शतदल से,
ग्रन्थि के उलझते तागो-सा बहुसूत्री था।
बेकार अनेक उत्तरो के बेकार रास्ते नही चलँ
इसलिए मुझे पहचान चाहिए थी केवल

था नही आत्मविश्वास जरा भी अपने मे
पूछना पडा पथ मुझे कठोर बबूलो से
इनकार भरा उत्तर उनका था व्यग्यभरा
पूछना पडा है मुझे मार्ग के ढेलो से
वह प्यारभरा उत्तर मुझको टेरता हुआ
पहुँचायेगा उस तलक मुझे हेरता हुआ।

सम्भावित रचनाकाल 1955। नागपुर। अप्रकाशित]

भूरी-भूरी ख़ाक-धूल

भूरी-भूरी खाक-धूल
उड रही वहाँ
आँखो ने अब तक जो सोचा-कहा
वही हुआ।।

नभ चकराया, शून्य का
सिर फिर गया
कि भूरा-भूरा भूत बना डाला
जिस पर फैला
मटियाला आवर्त।।
इस भाँति न होती हुई न होगी वास्तव
आँखो की स्वप्न-झलक।।

क्षितिज-दिशा-अम्बर मे 'घो-घो' कर चिल्लाती
तूफानी आँधी वह आती-जाती
फैल रहा सन्ताप
जिसे सोख लेने अपने मे
जिसे मिला लेने अपने मे
आत्मसात कर लेने जिसको
फैल रही है मैदानो पर नभ की छाती।।

आँखो से हट पडा
स्वप्न
व मुझमे से अरूप कोई उठ पडा
बहुत तडपकर।

अलग-अलग आकार बना
विहरा घूमा विस्तारो पर
मेरे अरूप के बालो मे जम गयी धूल
बिखरे सिर पर तिनके उलझे मटमैले फूल
उस धूल-बवण्डर के चक्कर मे हाथ उठा
वह बहुत जोर से चिल्लाता कि पुकार रहा
वह कहने लगा
कि मै हूँ स्वाभाविक सहचर
ओ मटियाले आवर्त
मुझको अपने मे फैलाओ ।।

ओ भूरी-भूरी खाक-धूल
जग सन्ताप
कि मेरे गहरे मनस्ताप—
मे
शक नही कि सुबह वसन्त रहा
वह स्वत सिद्ध अगार
इस दुपहर मे
है स्वर्ण-स्फुलिगाकुलिता राख
वह वीरानी, आँधी, वह बजर खुला-खुलापन गरम
पर, शक्तिमान वह
भूरा-भूरा रग।
है शक्तिमान वह उजडा-उजडा रूप
कहाँ मिलेगी ताकतवर ऐसी अगारी धूप ।।

वह पठार मैदान
खुला-खुला फैला मन काई-भान
उठती-गिरती मैदानी रेखाओ मे
जग से सवादी सगति कर
चमक रही है असग निज वेदना
उन मैदानी रेखाओ मे
गरमी कितनी,
ताकत कितनी,
यह सोचो तो
वह ताकत मुझको दो
वह गरमी मुझको दो
मुझे बना तुम खैबर की
काली-भूरी ऊँची गरम चट्टान ।।
ऐसी शक्तिमान रूपाकृति मुझको दो,
वह सस्कृति मुझको दो ।।

अरे, जिन्दगी के मेरे इस दर्रे मे
इसके पेचीदा रास्ते पर
अविचलता, निश्चय, सशयहीन प्रगति का
है पूरा पोशाक धूल का मिट्टी का
इस उजाड मे महत्त्व है केवल पहाड का गिट्टी का
यहाँ चरित्र-विकास
दृष्टि की सगति से है
असग निज-वेदना
सृष्टि की सगति से है।

[सम्भावित रचनाकाल 1955-56। नागपुर। **भूरी-भूरी खाक-धूल** मे सकलित]

ज़िन्दगी मे जो कुछ महान् है

जिन्दगी मे जो कुछ महान है
कल्पना या भास नही है
मनुष्यो की भीतरी यथार्थों की ऊँचाई
बकवास नही है।।
अगर वह बकवास नही
तो मानव की मुक्ति के नाम पर
उन्नति के नाम पर
सघर्ष के नाम पर आदर्श के नाम पर स्नेह के नाम पर
गरजते हुए भौकते हुए चमत्कारी
अह का प्रयास भी नही हे
मानो या न मानो
जिन्दगी मे जो कुछ महान है
वह प्रमोशन नही है
किसी बडे आदमी या साहित्यिक
का झूठा सर्टिफिकेट एप्रीसिएशन नही है।

[सम्भवत किसी कविता का प्रारम्भिक अश। सम्भावित रचनाकाल 1955-56]

ओ चीन के किसानो !

ओ चीन के किसानो,
खेतो मे काम के सँग
गीतो मे तान के सँग
उडते हो तुम गगन मे
द्युतिमान देवता-से
मृदु-श्वेत मेघ-दल मे
स्कन्धस्थ लाल सविता
पैरो तले समुन्दर
मृदु-श्वेत बादलो का
चलते हो तुम गगन मे
करने लगे हो कविता ।

मृदु-श्वेत बादलो का
कोमल कपास सारा
यागटीज़ के किनारे
हिम-श्वेत राशियो-सा
नीले गगन के तल मे
सर्वत्र दीखता है ।
सूरज की स्वर्ण-किरणे
घुसकर ज़मीन मे अब
कुछ गुनगुना रही है
कुछ फुसफुसा रही है
पाकर जमीन का सत
लेकर ज़मीन का रँग
गेहूँ ही बन गयी है
गेहूँ मे सूर्य-किरणे
किरनो मे गेहुँआँपन
आकाश का धरा पर
अब पूर्णत समापन ।।
सवेदना जगत् की
अब हो गयी है प्राकृत
हर वस्तु से अचान
नीला क्षितिज समन्वित ।
पीपुल्स कम्यून नूतन
श्रम-सगठन की पाँतें
नव-साम्य-सभ्यता के
अस्त्रो के तेज़ दाँते

अब काव्य मे चमकते ! !
सूरजमुखी हृदय यह
अब देखता है सविता
नव-साम्य-सभ्यता का ।
करने लगे हो कविता ।

करने लगे हो कविता
हल-सी सरल व पैनी
लोहे के फाल-सी वह
अन्त प्रवेश-जयिनी
तेजस्वी बाल-नयनी
यह काम्य-प्राण जनता
करने लगी है कविता

ओ चीन के किसानो
उपमा-प्रतीक-रूपक
सकेत ये तुम्हारे
गुपचुप चुराऊँगा मैं
अन्योक्तियो की लौ मे
वह आत्मवान शोभा
अपने मे लाऊँगा मै
श्रम-सिक्त चेतना की
नव-छन्दयुक्त कविता
तैयार कर रही है
बिलकुल नयी जमीनें
उस ओर जाऊँगा मैं !

[सम्भावित रचनाकाल 1955-56 । नागपुर । अप्रकाशित]

पुरुष हूँ

पुरुष हूँ, आँसू मैं गिरा नही सकता हूँ
इसीलिए सूने मे, सूने मे तकता हूँ

दुपहर को भभके मे आसमान सूना वह, सूना वह,
पागल हो नाच रहे भभूतिया बबूलो का बाना वह !

चिलचिलाती साँवली चट्टानें घेर रही
रेतीली भूमि का चिलकता विस्तार वह
मेरी इन आँखो मे देख अगर पाओ तुम,
समझोगी कि ज़िन्दगी मे कहाँ हूँ अटकता हूँ

तुम्हारी बात से कभी
कोई बात
मेरी मिली थी क्या ?
तुम्हारे उत्तुग और भव्य
हिम-शिखरो से
मेरे अह की प्रदीप्त
जाज्वल्यमान
कभी कोई प्रभात मिली थी क्या ?
तुम्हारे स्वार्पणमय कमलो की अकुलाती झील से
मेरी सहलाती दुलराती वनगन्ध-वात
मिली थी क्या ?
तुम्हारी डबडबायी आँखो को आत्मसात्
करती हुई मेरी इन
आँखो की पीली ज्योति भीगी प्रात मिली थी क्या ?
और अगर मिली थी
तो आज मै जलती हुई साँवली चट्टान हूँ
और मुझमे गरमी बनकर
तुम समायी हुई हो
केवल स्थिति-भेद है
और कुछ नही।

[सम्भावित रचनाकाल 1955-56। नागपुर। अप्रकाशित]

गीत

जगल के पौधो के फूलो की
कीमत न हो भले ही कुछ,
समीर यह जानता है
उसके वे अपने हैं, सगे हैं, प्राणप्यारे हैं।
ताज़ी वन-गन्ध की
पवित्र मस्ती मे जब

समीर वह
दूरियाँ, दिशाएँ व आसमान
कन्धो पर समेट,
झूमती हुई मनमौजी यात्रा मे,
पल-भर मेरी इस खिडकी के बाहर परछाईं-सा
कुछ रुककर, डोलकर, उत्सुक हो
पूछती आँखो-सा खिडकी मे बैठता
और फिर मचलकर चचल हो
इरादतन ध्यान खीच
मेरी इस टेबिल के कागज़ सब गडबड कर
पुस्तक के पत्तो को फडफडा
वायवीय लडियाता अपना मुख सम्मुख कर
कहता है—
'महक मुझे तुम्हारी भी चाहिए,
प्रदान करो तुम्हारे भी-ऽ
हृदय की गन्ध मुझे
घर की दीवालो की,
भाभी की बातो की
बच्चो के बालो की
पीले कपोलो की
छाती की, बाँहो की,
भीतर की थाहो की,
महक मुझे दान करो '

सहसा कोई कुछ अजीब कर गुज़रता अन्तर मे,
कडआ औ' जहरीला अब तक का सहा हुआ
एकाएक गरम-गरम चुम्बन-सा महक रहा
अन्तर का अन्तर मे ।।
लेकिन, यह भीतर का बैरागी भरथरी
कहता था—'नही-नही'
यद्यपि थी तन-मन मे
ऊपर से नीचे तक बहुत तेज़, बारीक-बारीक
चमकती कनियो की लहरो-सी सनसनी
मिठास के सकुचाते आँसू की अजीब-सी
भीतर थी थरथरी
कहा मैंने—'मेरी गन्ध कड वी है
खँडहरो मे उगे हुए ज़हरीले तर्क-सी
हज़ार-नील-फूल-आँखवाले उस अर्क-सी
आक के बिरवे-सी अजनबी ।।
व्यग और क्रोध की विक्षोभी

भभूतिया धूलभरी
लुढकती हुई आँधी की बहुत तेज़ दौडती
गाडी के चाक-सी
उठते हुए बगूलो के हमलो की धाक-सी
जो अम्बर के चेहरे पर धुन्ध बन फैली है।'

समीर कुछ दुखी हुआ,
हुआ कुछ उदास और
कहा कि तुम
डूब तो सकते हो, पर,
सरिता की थाह मे
खोल नही सकते हो आँखे निज !
सही है कि गह्वरे मे पैठकर
कुछ मोती, शख या सीपी तुम
ला सको तट पर ही,
ओझल किन्तु सागर की थाहे वे,
उसी तरह, आत्मा
और हृदय और व्यक्तित्व
निज का चरित्र सब ओझल है निज से ही।
पैठ तो सकते हो किन्तु पाओगे
शख या सीपी या मोती या कीचड ही।
थाहो मे पैठकर
थाहो को देखना फजूल है !
क्रोध और व्यग या
जहरीला सग वह अपने ही आप का,
आवश्यक महत्त्वपूर्ण मूल्यवान
सग वह भीतर के साँप का !
स्नेह की वेदना
घृणा की पीडा से बैर नही रखती है।
हमसे क्यो कहलाते कि
कडुवाहट तुम्हारी यह
हमारे हित प्यारी है !।

समीर ने देखा न आव और ताव भी
पूछा न नाम और गाँव भी
मुझसे लिपट गया।
हाथो मे थमी हुई
पुस्तक लुढक गयी।
अनाकार स्पर्श सब
मैत्री के सुलग गये !।

कमरे मे झूमकर,
कुदकते बच्चो से प्यार कर,
अलकों मे खेलकर,
पीले कपोलो से मेलकर,
भाभी के चरण छू, अचल को झेलकर,
झूमा और नाचा वह,
नाचा और झूमा वह,
बच्चो को थपियाया,
खूब शोर,
आनन्द का खूब ज़ोर,
हँसी और कहकहा।
पत्नी ने हाथ गहा,
उसका उछाह रोक
कानो मे यह कहा—
'कमरे मे बाहरी,
लिखना और पढना है हो रहा,
शोर न करो, चुपचाप दबे-पाँव
बच्चो के सग-सग
चौके मे चले आव।'
पवन की पावनी
लीला मनभावनी
देख मैं विस्मित था।
पत्नी से मैंने जब पूछा—
'यह आया था कौन जी,'
जवाब था—
'अजीब-सी बात है कि तुम नही जानते
जुडवाँ निज भाई को नही पहचानते
फूलो का साथी वह रहता है
धरती औ' अम्बर मे,
रहते हो तुम घर मे,
लेकिन तुम जो हो, मैं जो हूँ
उसी की कमाई है।।'
मैंने कहा—'समझ नही पाया मैं,
स्पष्ट करो अर्थ और अभिप्राय।।'

इतने मे, इतने मे
खूब महक फैल गयी,
अनुभवी सवेदन सही-सही कह रहा—
बात वही अनकही,
आँखो से दिशाओ तक, दूर-दूर,

प्रात-स्वर्ण-ताल-लाल-कमल-दृश्य फैल गये
मनोज्ञ भ्रम हुआ वहाँ
रगभरे पारिजात फूल मे,
गुलाब मे,
उदित हुए प्रदीप्त मुख अपनो के
प्रीतिभरे सपनो के ।
ठिठककर बुद्धू-सा, झिझक बेवकूफ-सा
मै निहारता रहा कि स्नेह-स्मित भरे नैन
उन्हे बता भी न सका कि मेरे ये गीले है,
नेत्र पनीले है ।

मेरे इस मानसिक विक्षेप को भग कर
पत्नी ने यह कहा—
'समीर वह होना था चाहता
मानव का गन्धवाह
जीवन का गन्धवाह
इसीलिए तुम्हारे पास
आया था मेरे पास
हजार बार आसमान टूटने के बावजूद
कभी नही दुनिया जो टूटती
और चूकती न रहा पर
तो कारण यह—मनुष्य का सौजन्य
दुनिया के चक्र मे फँसा हाथ ठोक-पीट,
धुरा ठीक कर देता,
ठीक-ठीक ऐंगल मे उसे जमा देता है ।
ज़माना बुरा नही केवल विलक्षण है ।
मनुष्य के सौजन्य-कारण ही
चाँद है, सूर्य है, लोग है, व हम-तुम है ।'

[**युगवाणी**, जुलाई 1956, मे प्रकाशित । **भूरी-भूरी खाक-धूल** मे सकलित]

जड़ीभूत ढाँचों से लड़ेंगे

जडीभूत ढाँचो से जरूर लडेगे हम
चाहे प्रतिनिधि तुम
चाहे प्रतिनिधि मैं

वैचारिक डीज़ल के इजनो को तोडेंगे
उडन्त घोडो-से ज़रूर हम अडेगे
चाहे प्रतिनिधि तुम
चाहे प्रतिनिधि मै ।

द्वन्द्व मे हार जाऊँ यदि मै
तुम मेरे घर जाना
बच्चे पुचकारना
तुम्हारी भाभी को
आखिरी मेरी बात कहना—
स्वय के पैरो पर खडी होकर जीना
द्वन्द्व मे हार जाओ
मर जाओ तुम यदि
अशोक वृक्ष-से उनको
पारिजात तरु-से उनको
हृदय का जल देकर
रक्त देकर उन्हे मै जिलाऊँगा
'उन्हें' मैं हृदय दूँगा प्राण पिलाऊँगा ।
डरो नही डरो नही, द्वन्द्व मे जूझ लो ।

इतिहास-प्रक्रिया से कोई नही बचा है
तुम्हारी व मेरी खब
गहरी हिस्सेदारी है
निभायेगे निभायेगे अपना रोल हम
अपनी-अपनी भूमिका
शायद है कि तुम मेरे पास आओ
द्वन्द्व मे रह जाओ मेरी हो
एक इसी आशा से
तुम्हारे व मेरे बीच स्नेह है
तुम्हारा व मेरा क्या
हमारा यह एक ही तो वतन है
एक ही तो गगा है एक ही तो गेह है ।

रचनाकाल 1956 । नागपुर । अप्रकाशित]

कायरता व साहस के बीच

कायरता व साहस के—
ज़िन्दा हूँ, बीच मै,
पूनो और मावस की
निन्दा मे मस्त रह,
सूरज और चन्दा से
बहुत-बहुत डरता हूँ ।।
इसीलिए कभी-कभी
उँगली फिराने से
होठ मुझे अपने ये
उस गोरी महिला के
बालदार होठो-से लगते है,
जो महिला
कुल-शील-प्रदर्शन हित
घर के कुछ सत्यो को ढाँककर,
अन्यो के 'तथ्यो' का उद्घाटन करती है,
इसीलिए, स्वर को मै यथासाध्य
भद्रता की ललित
तडिल्लताओ मे ऊँचा उठाता हुआ
आँखे लाल करके भी मुसकाता रहता हूँ ।

सभ्य हूँ, सुसस्कृत हूँ
आरामकुर्सियाँ चार
डाल दालान मे
मित्रो के सम्मुख मैं
नित्य सत्य बनता हूँ
उग्र बहुत बनता हूँ
(सूर्य की उपमा ध्वन्यर्थभरी
चन्द्र-किरन-उत्प्रेक्षा—)
अनदेखे हिमालय की अर्थभरी
चित्रात्मक समीक्षा कर
सफलता का मोर-मुकुट
खूब पहन लेता हूँ
(सस्कृति की
व्याख्या का
लैसन्स
पास मेरे है)

डरता हूँ पग-पग मैं,
डगमग है मति इतनी—
आँखो मे
उलट-पुलट होते है
मकान-घर-भवन सभी।
(मिरगी नित आती है
ज्वलन्त रक्त अग्नि-ज्वाल लाल देख
गहन जल अथाह नील ताल देख
सिर इतना चकराता कि
अभी-अभी गिरूँगा मै)

यद्यपि कर पाता मैं
अपने हित उन्नति के
लिए न कुछ
(बडे-बडे मगरमच्छ
चट करते बीच मे
फेंके गये दाने जो मेरे हित)
फिर भी देहान्त तक
जीवन-आयोजना बनाता हूँ
और इसी अनबूझे धतूरे के
ज़हरीले नशे मे, हाय
मुर्गी के नपुसक पख फडफडाता हुआ
उडता हूँ उस बौने वृक्ष तक
किन्तु लाल कलगी से अपने ही,
अकस्मात् डरकर मैं
वापिस जमीन पर सिहर उतर आता हूँ ! !
अभी मुझे कई बार
देने हैं अण्डे जो
दानव के पेट मे विवश चले जायेगे।
बनेगे न कभी मुर्ग-मुर्गी वे
और मुझे किसी एक
अनपेक्षित पल मे ही
हाय ! हाय !
मृत्यु-कष्ट-ग्रस्त-त्रस्त होना है ! !
चाकू कलेजे मे
घुसेगा और
अँधेरे के सघन-पर्त-परदे मे
साँस बन्द होगी ही।

तब तक किन्तु

जीना है ! !
साहस व कायरता
के बीच मुझे
ज़िन्दा ही रहना है ! !
कल तक यदि रह सका मैं जीवित
एक और कविता लिख डालूँगा अनसोची अनकही।

[सम्भावित रचनाकाल 1956-57। नागपुर। **भूरी-भूरी खाक-धूल** मे सकलित]

ग़लत फ़िलॉसफ़ी

हाथ काट, जीभ काट, पैर काट
मैने समझदारी की,
पूरी की मॉग किन्तु हाय-हाय,
दुगुने और चौगुने हाथ बढे
जीभ बढी, पैर बढे,
चचल हुए, चपल हुए, कार्यकुशल हुए
काट-छॉट करता रहा विवश मै असहाय ! !
क्या करूँ
हृदय मे उगते रहे अकुर
फिर प्रशाखाएँ फैल गयी।
फूल खिले, फल लगे, बीज फैले।
मैने समझदारी की।
घबराये हुए तब तेज-धार छुरी से
ज़िन्दगी के छोटे-छोटे सुकुमार
मेमनो की तुरत ज़िबह की।
रँग गये, तर हुए मेरे हाथ
अपने ही खून से ! !
(चेहरे से चिपक गया एकाएक रँगा हुआ पजा जब
आईने मे दृश्यमान खूनी का खून-रँगा चेहरा तब
तुरत डराने लगा
लगा भरमाने मुझे)।

मैंने समझदारी की।
साहब का बाग वह सामने
पडौस का ज़मीदारी-खेत वह

क्या करूँ, चर आते रहे ये मेमने।
रोज़-रोज बखेडे व लडाइयाँ टाल दी।
किन्तु अरे,
जितनी बार जिबह की
उतनी बार जिन्दगी ने गुस्से मे शानदार सुबह मे
उतनी बार सृजन नया हाय ! हाय !!
अनावश्यक उर्वरा आत्मा
जरूरत से ज़्यादा इस उपजाऊ हृदय का खात्मा
न कर पाया, हार गया, हार गया,
बुरी तरह हार गया
जिन्दगी की लडाई !!
आत्म-समृद्धि के फलस्वरूप !!

और, आज सभी कुछ छोड-छाड
देख रहा पुरानी लकडी के
पवित्र कठिन खडाऊँ मे
अँगूठे-सा गम्भीर,
सीमाओ का ज़ग-लगा पुराना डिब्बा वह
जिसमे ठूँस-ठाँस किया गया बन्द था,
किन्तु समा नही सका था मै
पुराने तर्कों की छुरी वह
जिसमे मैंने भावो के हाथ-पैर काटे थे
पुरानी फिलॉसफी का रोएँदार वस्त्र वह
जिससे मैने दिल का खून पोछा था,
पुराना वह दर्शनीय आईना
कि जिसमे मैंने स्वय ही का खूनी नक्शा देखा था !

हार गया ज़िन्दगी की लडाई
किन्तु हुआ मुक्त और अब स्वतन्त्र और ध्यानस्थ
पुन पायी आत्मा तथा
चलते-चलते मुझसे मेरी खुश हुई परछाईं, खुश हुई
मुझसे ही मेरी व्यथा !!

उपजाऊ हृदय को मारने का दु खान्त
नाटक अब नही होगा।
ज़िन्दगी के बन्द किये जाने का सीखचो का
फाटक अब नही होगा।

[सम्भावित रचनाकाल 1956-57। नागपुर। **भूरी-भूरी खाक-धूल** मे सकलित]

ओ मसीहा

ओ मसीहा !!
काल-गिरि-शिखर बैठे
तुम !!
पलको मे रमे विश्व-स्वप्नो की
विस्तार-दृश्यो की
सान्ध्य-स्वर्ण छाया ने
बदरग घुमावदार
सियाह तकलीफदेह
यथार्थ को, रँग दिया !!
और हमारे लिए
तुम्हारा वह तो रग-स्वप्न-वैभव, हाय
        पाप-भार बन गया
मात्र ज्यामिति का
रेखाकृति-समस्या-रूप !!
अजीब सरदर्द
इतिहास-स्वप्न
विश्व-दृश्य-रगो ने
भयानक ऊँचाई व
निचाई के
उतार-चढावभरे
खाई-खड्डवाले इस गुजान प्रदेश को
मनोहर बना दिया
सुन्दर तुम्हारे लिए !!
अरे हम 'हम' होते हुए भी
दम-खम होते हुए भी
तुमसे लडना ही नही लड पडना है !!
इसलिए कि
तुम्हारा विश्व-स्वप्न
काल-दृश्य सन्ध्या-सी विशाल
झाँक मारता है
उषा-सा चमचमाता है
फजूल गुलाल का अचल पसारता
बदरग यथार्थ पर !!

बदरग यथार्थ
विद्रूप अर्थ
आ, छाती मे जाग

तू भी सही है
पिता ने पाला
पर तूने पोसा है तुझी को पाया है
जहरीली नीली इस स्याही से
चेहरा यह धोया है !!
पूर्णता के स्वप्न की विशालतम मिथ्या ने
अपूर्ण को, फटे को व जीर्ण को
अपमानित भी खूब किया है कि
भयानक उभारा है
मनोहर तुम्हे जरूर
दीखता होगा यह विश्व,
सान्ध्य मेघो मे बैठे तुम
लेकिन मसीहा ओ,
पेचीदा चक्करदार हमारे इस दर्रे को
हमे पार करना है
हॉफते हुए चढना है चढान
उतार पार करना है !!
बिल्कुल ही अनिश्चित कि
हम मरेगे नही
कि हमारी देह
निचाई के खड्डे मे पडी हुई
गिद्ध नही खायेगा।

फिर भी हम
डरते नही हमारी इस पीढी के
घोर यथार्थ से
तुम्हारे खयालों से
लेकिन खूब डरते है।
बहुत बुरा लगता है कि
तुमसे उपजकर ही
ओ मसीहा
तुमने अपने पापो का भार
हमारी ही पीठ पर उतारा है।
यही विरासत है,
ओ मसीहा
तुम्हारे इस ऋण को
चुकाना असम्भव !!
इसीलिए नमन है !!
चला मैं,
अब तुम

मुझे न अपने कन्धो पर
उठाकर बालक-सा बैठाकर
अपनी दिशा मे न
ले जा सकोगे यह
निश्चित ही समझो अब ।।

[सम्भावित रचनाकाल 1956-57 । नागपुर । **भूरी-भूरी-ख़ाक-धूल** मे सकलित]

उलट-पुलट शब्द

उलट-पुलट शब्द और
टूटी हुई लाइने
न-उभरे हुए चित्र व
अपूर्ण लकीरे
मुझे नही सूझता कि मैने क्या लिखा है
ढूँढता हूँ किन्तु मै उन्ही मे कि
वह कौन
अटकी हुई बात जो कि
भटकाती मुझे यो,
अटकी हुई बात कौन ?
खँडेरो मे ढूँढता हूँ कौन तहखाने मे
रत्नो का खज़ाना ।।

एकाएक स्वप्न तैर आता है—
शैतान की फाउण्ड्री ।
चारो-ओर
सटर-पटर ज़ग-खाये
लोहे की स्याह भीम मशीनो की विकराल मुद्राएँ ।
भीतर अँधेरा है ।
अँधेरे के बीच लाल चमकता घेरा एक ।
घेरे मे खडे हुए फूले हुए जडीभूत
साँवले चेहरो पर फैली हुई ललाई
लाल-लाल लोहे का
सशयालु आलोक
रहस्यमय फैला है वहाँ पर ।
मन्द प्रशिक्षणार्थी मै ।
साँचे मे ज़बरदस्त

पिघला हुआ सीसा उँडेलता हूँ
द्रवीभूत कुमकुमी रग वह
बनता है ईंटनुमा
धीरे-धीरे साँवला।
सँवलाये सीसे की देह पर
चिनगियाँ जमी फिर।
विक्षोभ पड गया साँवला
और फिर उसी लौह
साँचे से मूर्ति एक
निकली है जडीभूत।
और, फिर, मुझसे यह कहा गया
यह मूर्ति तुम हो
तुम खुद।

मुझे काठ मार गया, कानो मे अनहद
सुनता हुआ नाद मैं कि भाग खडा हुआ था
व सडक पर खाली पडी,सुधरने को आयी हुई
कैलटेक्स-स्टेनवाक
कम्पनी की विकराल टकी के ऊपर चढ
बडी भारी टकी वह लोहे का रूम थी कि
ऊपर मैनहोल से
मैं धम-से गया कूद
अतल तले मे मैं ।।
अँधेरा अँधेरा और घेरा
अथाह था।
कि काजली कम्बलो की
भीतरी तहो को अनेकविध
उठाता-निकालता कि
तम की प्रदीर्घ व असीम सुरग से
पहुँचा मै न्यूयार्क
वाशिंगटन
चलता हूँ अमरीकी सडक पर
मुझे खूब डर है कि एफ बी आई सहसा
कही मुझे धर न ले
मेरे पास वीसा न पासपोर्ट
हाय-हाय अनधिकृत घुसपैठ ।।
किन्तु, फिर सोचा कि ऐंठकर
बन जर्नलिस्ट मैं
(कवियो की कीमत कहाँ है अब)
पहुँचूंगा कही भी।

हवा मे सर्दी का तार झनझनाता है !!
दाँत किटकिटाते है
ट्रैम-बस-कारो के रेले खूब आते चले जाते हैं !!
होठो के बाहर आ जबान बर्फ होती है !!
सोचता हूँ मज़दूरी शारीरिक श्रम कर
कुछ गरमी आयेगी कि इतने मे
हाय ! हाय ! दीखता हे भयकर चेहरा एक
बढता हुआ मेरी ओर एकटक
बढता हुआ मेरी ओर
परिचित-सुपरिचित चाल-ढाल
मस्त !!
कन्धे पर एकाएक हाथ और थपथपी
मेरे तन कँपकँपी थर्राहट
एफ बी आई ?
हाय मै नि सहाय !!

सहसा बदल जाता दृश्य और
शहर के बाहर कोई खूबसूरत देहात
प्राचीन पेड-तले छायादार
हम दोनो जमे हे
मेरा दोस्त
मै खुद ।
कन्धे पर हाथ रख
सुनाता है कविताएँ मुझे वह
और मै सोचता हूँ 'कितना सुख
आज मुझे हुआ है !!'
कविता उसकी है
देश-देश फैले हुए
नीले आसमान की
हर गाँव नगर मे सुनहली
भरती हुई
रश्मियो के विहग-गान की
कविता के शब्दो मे कोयल की आवाज़
छन्दो मे झरने की गूंज और
कहन मे मनोरम दृश्यो की पाँतियाँ

मुझे कितना सुख है कि उस युवा कवि को
अमरीकी होकर भी अफ्रीकी फिकर है
ज़िन्दगी को शानदार बनाने की तडप और
तडप का ज़िकर है !!

मुझे कितना सुख है कि सहधर्मी एक यह
मुझे यहाँ मिला है,
साँचे मे ढली हुई
मूर्ति से निज की
साँचे मे ढली हुई
स्फूर्ति से निज की
भागा मैं, अच्छा हुआ !!
अमरीकी जनता का प्रतिनिधि
मुझे मिला मेरा दिल सच्चा हुआ।

[सम्भावित रचनाकाल 1956-57। नागपुर। **भूरी-भूरी खाक-धूल** मे सकलित]

जब वृद्धा माँ के अन्तर की

जब वृद्धा माँ के अन्तर की
धुंधली लौ के अन्तर मे से
उल्का निकली, तारे टूटे,
तभी एशिया जाग उठा था !
छाती के भीतर की ज्वाला
जब बाँकी शमशीर हुई थी
(आँगन मे तुलसी को नीरव
घर की गहरी पीर हुई थी)
तभी एशिया जाग उठा था !!
हिन्दुस्तानी जनता का तब
लौह-दण्ड बेलाग उठा था !!
जिसके घर के अन्धकार मे
भारत की तसवीरें कौंधी
सत्ता के भूतो की उसने
कर दी आधी दुनिया औंधी !!

क्षीण देह की चिलमन मे से
अगारी मुसकाहट झलकी
(अकस्मात् बेपर्द हुई-सी
बागी आत्मा की हलचल थी)
दर्दभरे घुटनो मे दौडी
नये खून की जिन्दा बिजली
झरने की धडकन-सी गूंजी

नूतन उत्साहो की कजली
उसके स्वर से सर्द हो गयी
काली पसली शोषक युग की
सत्ता की छाती पर बैठी
गला दबाकर जनता जग की ।।

[सम्भावित रचनाकाल 1956-57। नागपुर। **भूरी-भूरी खाक-धूल** मे सकलित]

कई बार

कई बार
किरणो की अप्सरा
आयी और चली गयी,
निर्विकार किन्तु मैं
घिरा रहा अँधेरे-से सूने मे ताकता।
सत्यो का फेरा
शुरू हुआ, खतम हुआ कई बार,
निराकार सूने का घेरा किन्तु
अखण्ड स्थिर रहा
वह मेरा श्याम शून्य
अनिमेष निहारता खडा रहा
सत्यो को एकटक

उदिय हुआ सूर्य लाल, डब गया !
चन्द्र व नक्षत्र आये, चले गये !
किन्तु उन सबके पार परे रह
अँधेरे की परम्परा
अम्बर मे खडी रही !
व्यथाएँ उभरी खूब, डूब गयी
निराकार आदर्श-दिशाएँ किन्तु
खडी रही मुँह बाये।

मेरा मन
निराकार सँवलाया तमोलीन
परदा बना रहा,
उभरे सौ रश्मि-चित्र

जीवन के मर्म के
उभरे, विलुप्त हुए ।
बन्द हुआ थिएटर
भावुक व दार्शनिक
बहु-स्वभाव दर्शक चले गये ।
बुझ गयी बिजलियाँ ।
खाली पडी कुर्सियो की पाँते वे ।
दरवाजे बन्द हुए
सूने उस तमोलीन
अन्तराल-भीतर सुदूर
वह परदा किन्तु
गत रश्मि-चित्रो के
विलुप्त-सवेदना-प्रकाश-पार्श्वभूमि मे
स्वय की असग
अप्रभावित
असम्पृक्त तटस्थ अन्धकारिता
को देख-देख
चकित है
विस्मित है ।
सत्य आये व चले गये
रश्मि उभरी व लीन हुई
अन्धकार किन्तु जो तब भी था, अब भी है ।

मेरा मन
अन्धकार प्रतिरूप ।
प्रदान वह करता है
आकाश-अवकाश-प्रभास व रेखाएँ
रश्मियो को, रश्मि-चरित्र को, सत्य को ।
सार्थकता उसकी अपार है ।

[सम्भावित रचनाकाल 1956-57 । नागपुर । **कवि**, जून 1957, मे प्रकाशित । **भूरी-भूरी खाक-धूल** मे सकलित]

मानव के सुख-दुख

मानव के सुख दुखों मे नित्य पनपकर
इनसे ऊपर, जीवन मे ही बहता हूँ ।

मैं क्षण के चपल विहगो का गायन हूँ
मै सतत - समय - धारा सपना प्यारा।
मै देख रहा हूँ कितना मिथ्या भौतिक
पतनोन्नति का सत्य, अरे बेचारा।

मैं चिन्तक हूँ, शाश्वत का कवि हूँ, भाई
मै ईमान गरीब जनो का प्यारा
मै श्रद्धा हूँ, आकुल की करुण रुलाई
मैं उत्साह अखण्ड, अडिग तरुणो का न्यारा।

मैं सुन्दर और असुन्दर की सुन्दरता,
मै विकास हूँ परम, जगत मे मानवता का,
कभी-कभी है कलाकार की ही आँखो मे
मधुर स्वप्न बन करके मैंने झाँका।

[सम्भावित रचनाकाल 1956-57। **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

हाय ! न सहचर तुम-सा घर मे

हाय ! न सहचर तुम-सा घर मे, मग मे है
मित्र, तुम्हारे बिना न कोई जग मे है,
यद्यपि अभिमानी ज्वाला रग-रग मे है !

आती है जब सन्त्रासी
विपदा प्राणो की प्यासी
(शकाओ के घुग्घू मन के स्तूपो पर,)
अन-पूरे वचनो की
झूठी प्रेत-चाँदनी भय-भासी
बारह बजे रात—दुश्चिन्ताओ की
प्यासे भावो की
खडी हुई नारी-रेखाएँ है रीते घर लिये हुए
मिथ्या-दत्ता आशाओ की
ध्वस्त बावडी—घने अँधेरे कूपो पर
उदास चेहरा किये हुए

शकाओ के घुग्घू मन के स्तूपो पर
तीखी आवाजो मे है चीखो के स्वर
सकट की भैरव-गाथाओ के अक्षर
किन्तु तुम्हारी याद तारती है मुझको इस भव मे से
रौरव मे से ।

सकट आफत की मारी
टूटी शाखे बेचारी
तूफानो मे आसमान चढ गिरी समुन्दर मे भारी
किसने देखा, कितने यो ही लुप्त हो गये हैं
जीवन के भूरे लम्बे पथ कइयो के
यो बियाबान सकट के जगल मे जा कही खो गये हैं
ज़िन्दा भावो-भरी धुकधुकी
कही जा थकी कही आ रुकी
अपने उच्चोत्थित स्पन्दन मे नही गा सकी
नही गा सकी ।

किन्तु उन्ही हियरो मे
प्राणो के पिजरो मे तिरकर गोर्की गुरु के
उपन्यास के पृष्ठ खुल रहे है
साक्षात्कारी आलोचन की दृष्टि खुल रही है
सई-साँझ जब दुलार-करुणा-भरी उदासी
मेरे मन के तरु पर वह झुक आती प्यासी
लगातार चलनेवाली वह आटे की चक्की की खाँसी
ज़ोर-ज़ोर से
गूँजा राह का धूलभरा आकाश शोर से,
नही भग करती घुलता-सा समाँ दाह का
सई-साँझ की धुँधली चलती हुई राह का ।

[अपूर्ण । सम्भावित रचनाकाल 1956-57 । **रचनावली** के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

०००